भारतीय संगीत और संस्कृति तथा अध्यात्म के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का विश्लेषणात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल् उपाधि
हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

2000

निर्देशिका

डा० गीता बनर्जी

पूर्व विभागाध्यक्ष
संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता

कु० कावेरी मिश्रा

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **भारतीय संगीत और संस्कृति तथा अध्यात्म के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का विषलेषणात्मक अध्ययन"** कु0 कावेरी **मिश्रा** द्वारा संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्वाधान मे डी0 फिल् की उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में लिखा गया है। शोध कर्ती द्वारा किया गया यह कार्य मौलिक है, मैं इस शोध प्रबन्ध को सम्यक् निरीक्षण के उपरान्त परीक्षणार्थ प्रेषित की सस्तुति करती हूँ।

गीता बनर्जी
डा0 गीता बनर्जी
पूर्व अध्यक्ष
संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

आभार प्रदर्शन

मॉ सरस्वती की कृपा से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का आरम्भ और अन्त करने मे मै सफल हो सकी हूँ। मनुष्य के जीवन मे पग–पग पर सफलता अर्जित करने की अभिलाषा होती है, अपनी अभिलाषाओ, इच्छाओ की पूर्ति उसे प्रत्येक क्षेत्र मे सम, विषम परिस्थितियो का सामना करना पडता है। किन्तु हर समय हर क्षेत्र मे सफलता या सन्तुष्टि प्राप्त हो, ये सम्भव नही क्योकि सफलता और सन्तुष्टि दोनो अपार मात्रा मे मिलने पर वह व्यक्ति अपने आगे जीवन की अन्य कार्यो से निष्क्रिय हो सकता है, असफलता हमे आगे आने वाली मुसीबतो से सक्रिय होना सिखाती है।

बचपन मे सगीत विषय मे मेरी रूचि नही थी ऐसा तो शायद कहना अनुचित होगा परन्तु इतने ऊचे स्तर तक पहुॅचगी इसकी कल्पना शायद मैने नही की थी, ये परम् कृपा मॉ सरस्वती की और हमारी माताश्री स्व0 कुन्ति देवी के आशीर्वाद और आरम्भिक गुरू गौतमा नद जी की विशेष कृपा रही और सगीत की विधिवत शिक्षा ली 1994 मे एम0 ए0 की छात्रा रही तभी मेरी गुरू गीता बनर्जी से मै बहुत प्रभावित हुई जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय सगीत विभाग की पूर्व विभागाध्यक्ष रही जिन्होने अपने आशीर्वाद और योग्य मार्ग दर्शन और आत्मीय व्यवहार सदैव प्रदान किया जिससे मै ये कार्य निर्विघ्न कर सकी हू। इसके लिए मै विशेष आभारी हू प0 रामाश्रय झा जी का जिन्होने मेरे शोध कार्य मे अपना अमूल्य समय देकर अपना आर्शीवाद दिया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सगीत विभाग मे वर्तमान विभागाध्यक्ष डा0 साहित्य कुमार नाहर जी की मै आभारी हू जिन्होने सदैव प्रोत्साहित किया, मै विनम्रता पूर्वक आभार डा0 स्वतत्र बाला शर्मा, विद्याधर जी मिश्र और श्री प्रेम कुमार मलिक जी की, जिन्होने हमे हमेशा स्नेह पूर्ण छत्रछाया मे रखते हुये आशीर्वाद दिया जिससे मै इस कार्य मे सफल हुई।

इस शोध कार्य मे मुझे अपने मित्रो, सजय पाण्डेय, Mr DANIEL, अमिता तिवारी रूचि गौतम, रेनू सिह जी को धन्यवाद देती हूँ जिन्होने सदैव मेरा सहयोग किया। मैं अपने परिवार के सदस्य पिता श्री कीर्ति देव मिश्र, व्रजभूषण मिश्र और प्रभाव देव मिश्र इन दो भाइयो ने विशेष सहयोग प्रदान किया और पारिवारिक उत्तर दायितवो से मुझे कार्य के समय मे मुक्त रखा। मै विशेष आभारी हू अपने मित्र जया गौतम की जिन्होनै विपक्षीय भूमिका अपनाते हुये आलोचना की जिससे शायद उत्तेजित होकर सही कार्य करने की शिक्षा मिली। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के लाइब्रेरी मे कार्यरत जगदीश गुप्त की आभारी हूं जिन्होने शोध विषय से सम्बन्धित पुस्तके उपलब्ध कराने मे मदद की। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रारूप टकण करने के लिए मैं श्री गुलशन जी और सुनील पाण्डेय को धन्यवाद करती हूँ। इसके आभाव में इस कार्य का सम्पन्न होना सम्भव नही था। इन सभी के प्रति आभार प्रकट करना मात्र औपचारिकता होगी। अत· मै सभी की सदैव ऋणी रहना चाहती हूं।

– कु0 कावेरी मिश्रा

प्रस्तावना

प्रत्येक कला का लक्ष्य भौतिक संसार से ऊपर उठकर अलौकिकता को प्राप्त करना है और भारतीय मनीषियों में ऐसे कई हुए हैं जिन्होंने कला के माध्यम से अपनी आत्मा की उन्नति की है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहकर ही वह भौतिक सुखों को प्राप्त करता है। लेकिन हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने भौतिकवाद से भी ऊपर एक अनन्य सुख को महत्व दिया है जो आत्मिक सुख के नाम से जाना जाता है। यदि सगीत की मधुरिम स्वर-लहरियों में पावन स्नान कर लें तो आत्मिक सुख प्राप्त कर सकता है। संगीत के सेपान से आत्मा और परमात्मा का मधुर मिलन होता है।

प्राचीन काल से ही संगीत द्वारा भी मनुष्य ने आध्यात्म का दर्शन किया है। अध्यात्म को भारतीय मनोविज्ञान व दर्शन ने अपनाया है। उन्होंने सर्वत्र ईश्वर को देखा। इसके कारण ही भारत में कला का अधिक प्रचार है।

संगीत के द्वारा अध्यात्म की खोज का सिद्धान्त प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। उपनिषद-कारों ने आत्मा का निर्माण पचकोषों से बताया है और वे कोष है - अन्नमय, प्ररणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। इनमें आनन्दमय कोष का महत्व अधिक माना गया है। परम तत्व का दर्शन इसी कोष के द्वारा हो सका है। अध्यात्म का सहारा लेकर ही हमारे भारतीय ने विश्व के कण-कण में ईश्वर का दर्शन किया है। उन्होंने उन वस्तुओं में भी अध्यात्म पाया जिनमें श्रृंगारिकता अधिक थी। हमारे वैदिक संगीत में तो अध्यात्म पर इतना अधिक बल दिया गया है कि सम्पूर्ण वेद-मन्त्रों में आध्यात्मिकता का ही अवलोकन करने को मिलता है। वेद मन्त्रों में संगीत के स्वरों का अधिष्ठान है तथा इसके साथ ही अध्यात्म द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। वैदिक काल में लौकिक संगीत भभ विद्यमान था किन्तु इसे निम्न श्रेणी का माना जाता था। गान्धर्व और अप्सराओं का नृत्य इसी भौतिक विलास का सम्बल रहा है।

मध्यकाल में भी संगीत को भक्तिभावना से ही देखा गया। यद्यपि मध्यकाल मुगलों का काल माना गया है अत इस समय भारत में मुसलमानों के आगमन से विलासिता पूर्ण रूप से विद्यमान थी किन्तु मन्दिर, देवालय आदि स्थानों में कीर्तन, भजन, पूजा-पाठ इत्यादि धार्मिक आध्यात्म को प्रकट करते थे। देवालयों आदि में धार्मिक नृत्य की परिपाटी प्राचीन काल से आज तक विद्यमान है। व्यक्तित्व के विकास के लिए तथा जीवन के वास्तविक उद्देश्य लौकिक से अलौकिक की ओर ले जाने वाले सोपान के रूप में संगीत कला को ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कला कोई भी हो, उसका उद्देश्य मानव मन के अमूर्त मनोभावों को मूर्त रूप देकर मानव का आत्मिक उत्थान करना है। आत्म-चेतना की जागृति के लिए सगीत की साधना की जाती है। स्वर-साधना से मस्तिष्क तथा आत्मा पर सगीत का प्रभाव सहज रूप से गहरा होता चला जाता है। उस प्रभाव से पूर्णत भाव-विभोर हो जाने के उपरान्त ही स्वर के वास्तविक आनन्द में मग्न होकर सहृदय थोड़ी देर के लिए बाहरी संसार से विच्छिन्न होकर धीरे-धीरे 'असीमरस' के आनन्द का अनुभव करता है। संगीत का लक्ष्य सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट करके धीरे-धीरे चरमोत्कर्ष की ओर से जाकर दिव्यता के दर्शन कराते हुए मानव का आत्मिक उत्थान करना है। शब्दों में निहित सूक्ष्म-भावों का सरल रूप में आस्वादन करना ही संगीत को गरिमामय बनाता है। संगीत को भारत के सभी मतों में समान अधिकार प्राप्त है और वे संगीत में गीत व नृत्य द्वारा अपने-अपने देवताओं का आह्वान करते हैं। सगीत कला के सम्बन्ध में प्राचीन दार्शनिकों का दृष्टिकोण आध्यात्म पर ही रहा है, केवल वासनाओं का उद्दीपन ही भारतीयों का दृष्टिकोण नहीं रहा। संगीत द्वारा मानव-चित्त एकाग्र होता है। आध्यात्मिकता द्वारा उन्होंने चित्त एकाग्र करने की शक्ति पाई है। जो कला केवल भौतिक सुख (जीवकोपार्जन) का साधन बनकर रह जाये उसे कला नहीं कहते। स्वर में शब्द की विलय-क्षमता के आधार पर रस सागर में विलीन होकर सांसारिक वातावरण से विच्छिन्न होकर रसास्वादन करना ही आध्यात्मिकता का द्योतक है। स्वरों में विलीन होने की क्षमता, उपयुक्त स्वरों का चयन तथा स्वरों के लगाव में आत्मसन्तुष्टि की

क्षमता तकनीक की दृष्टि से ये सभी संगीत की आध्यात्मिक अनुभूति के तत्व से सम्बन्ध रखते है।

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय संगीत के उत्थान मे आध्यात्मिकता का सम्पूर्ण हाथ है। संगीत द्वारा शुचिता, दिव्यता एव आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को समझने की शक्ति, राग व रस के सम्बन्ध का अनुभव करते हुए अलौकिक आनन्द की प्राप्ति, आत्मचेतना की जागृति, रस के किसी रूप का आनन्द उठाते हुए भी परमात्मा के साथ एकरूपता का अनुभव करना आदि, यही संगीत का अध्यात्मिक पहलू है। आध्यात्म के बिना कोई भी कला उन्नति के शिखर पर नहीं बढ सकती है। अत सगीत कला और आध्यात्मिकता का अटूट सम्बन्ध है।

मेरा उद्देश्य इस शोध कार्य में संगीत के अन्तर्गत आध्यात्म का तादात्म्य स्थापित करना ही है जिससे शोधार्थी आध्यात्म के परमतत्व का रसास्वादन करें।

****

विषयानुक्रमणिका

(भारतीय संगीत और संस्कृति तथा अध्यात्म के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का विश्लेषनात्मक अध्ययन)

संगीत का स्वरूप

सरस ब्रह्म की रसवतता ही संगीत है, संगीत ईश्वरीय वरदान है। अत वह ब्रह्मा रूप ही है। शास्त्रों के अनुसार ब्रह्म अद्वीतीय अखण्ड अद्वैत होते हुए भी परब्रह्म और शब्द ब्रह्म अन्य दो रूपो मे कल्पित होता है। शब्द ब्रह्म को जान लेने से ही परम ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

'शब्द ब्रह्माणि निष्णाता परब्रधिगच्छति' ।[2]

वस्तुत यह शब्द ब्रह्मा गा नाद ब्रह्म ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है-

'नादेन व्यंज्यते वर्ण पदं वर्णात् पदाद्धच्च ।
वचसां व्यवहारोऽयं नादाधी नमतो जगत ।[2]

भारतीय दर्शन में शब्द को आकाश का गुण माना जाता है-

'शब्द गुणाक आकाशम'

आकाश नित्य है अतः शब्द भी नित्य है। लोक व्यवहार मे तथा साहित्य में शब्द के साथ अर्थ को जोडा जाता है परन्तु ये अर्थ आरोपित माने जाते है।

ससार के ध्वनि सम्बन्धी अविष्कार आकाश के शब्द गुणवत्ता सिद्धान्त के आधार माने जाते है। संसार के ध्वनि सम्बन्धी अविष्कार आकाश के शब्द गुणवत्ता सिद्धान्त के आधार पर ही हुये हैं। संस्कृत हिन्दी तथा सभी भारतीय भाषाओं मे स्वं शब्द अपने के अर्थ मे आता है और किसी कल्पित अदृश्य लोक को जिसे सामान्यतः मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होना माना जाता है - स्वर्ग कहा जाने लगा। स्वर्ग लोक भय, चिन्ता, रागद्वेष आदि सांसारिक वासनाओं से रहित पृथक माना जाता है।

रसां वै स - तैत्सारीय ब्रह्मण 3/7 अनु
ब्रह्म बिन्दुपनिषत् - श्लोक 22.
संगीत दर्पण 1/15 दमोदर पंडित
योग दर्शन / तर्क भाषा

उपनिषद् ने मृत्यु के उपरान्त जिस स्वर्ग व उसके सुखो का वर्णन किया है। संगीतज्ञ इसी लोक व इसी जीवन मे इसी शरीर के माध्यम से उसे सिद्ध कर लेता है, संगीत जिसमें कण्ठ-संगीत और वाद्य-सगीत दोनो में सम्मलित है, साधना के अनेक (युग्म) प्रकार माने जाते हैं। अर्थात् ये एक-दूसरे के पूरक, समर्थक, ज्ञापक अभिन्न सहचर्य ज्ञापक माने जाते हैं। विशेष बात यह है कि दोनों ही स्वर साधक मानी गयी हैं अर्थात दोनों में स्वर साधना होती है।

अर्थात 'स्व' स्वयं को 'स्वर्ग' - अलौकिक सुख प्राप्ति कराने वाली पद्धति स्वर साधना या नाद साधना ही है।

मनीषियों ने नाद के दो प्रकार माने हैं - आहत और अनाहत नाद।

संगीत इतिहास में कला शास्त्र दोनों का विवेचन अभीष्ट है।

सगीत कला शास्त्र दोनों में हैं। संगीत का माध्यम नाद है और यही नादात्मक कलाकृति प्रस्तुत करने के लिये तत्सम्बद्ध नियमों का अनुसरण आवश्यक है।

'आहत नाद बजै सिर उपर' कबीर ।

संगीत का आधार आहात नाद माना जाता है। यह आहत नाद पंच महावाद्यों द्वारा ध्वनि रूपों में जिन्हें संगीतात्मक ध्वनियाँ कहते हैं, प्रस्फुटित होता है -

''सोऽप्याहत पंचविद्यो नादस्तु परिकीर्तित. '
नखवायुजमणि चर्मण्य लोह शारीर जास्ताथः ।[2]
एकं ईश्वर निर्मित नैसर्गिक अन्यच्च्यतुर्पिधि मनुष्य निर्मित
चेति पंचप्रकाशा महावागनम्'' ।[2]

ये संगीतात्मक ध्वनियां नखज वायुज, चर्मज, लोहज तथा शरीरज होती है। वीणा आदि वाद्य नखज है। वंशी आदि वाद्य वायुज है, मृदंग आदि वाद्य चमर्ज है

1- नारदीय शिक्षा - 2.

मंजीण आदि वाद्य लोहज है। और कण्ठ ध्वनि शरीरज है। इसमे कण्ठ यत्र ईश्वर निर्मित एवं नैसर्गिक है। शेष चारों प्रकार वाद्य मानव विरचित हैं। इस प्रकार संगीत के अन्तर्गत कण्ठ सगीत एवं वाद्य संगीत दोनों का अन्तर्भाव हो सकता है।

वैदिक साहित्य और प्राचीन साहित्य में 'नृत्य' और नृत्य दो प्रकार प्रयोग मिलते हैं। प्राचीन भारतीय शब्द शास्त्री चौदह प्रकार के मानते है, जिसकी उत्पत्ति शिव के नर्त्तन से हुयी थी।[3] यह नर्तन नृत्त का नृत्य वही इसके साथ डमरू के चौदह स्वरों से उसमें वाद्य का समावेश हुआ। मुख्य वाद्य यह है 'नृत' अंग-संचालन की विशेष प्रक्रिया है। जो पशु-पक्षियों में भी देखी जा सकती है। थिरकना, फुदकना आदि शब्द इसके लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

शरचंद्र परांजये के अनुसार संगीत ताल लय वाद्य वंश गतापि भौतिस्थकुभ परिरक्षण धीर्नरीव ।।

नरमोर आदि पक्षी अपनी मादा को रिझाने के लिए या दीन बकरी से लेकर भयंकर सिंह तक प्रेम सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए विविध प्रकार की चेष्टाए करते हैं। वह एक प्रकार से 'तत्व' कहा जा सकता है। मानव ने उसे शास्त्रबद्ध किया है और चेष्टाओं के द्वारा उसे समुन्नत बनाया है।

इसी प्रकार संगीत में गायन वाद तथा नृत्य का अन्तर्भाव हो गया।

ग्रन्थों में संगीत की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। मानव हिन्दी शब्द कोष में 'संगीत' शब्द की व्युत्पत्ति 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'गै' धातु में 'क्त' प्रत्यम के योग से बतलाई गई है। जिस अनाहतं नाद योगिजात साक्ष्य है तथा आहत नाद संगीतज्ञों का उपास्य है।

भा0 प्राचीन साधकों ने विशेषकर निराकार की उपासना करने वाले कवि और साहित्यकारों ने अनाहत नाद को स्वाभाविक नाद्य भी कहा है। स्वभाव का अर्थ परमुखपेक्षी न हो स्वतः स्फूर्तया अनिर्मित हो। उनकी मान्यता है अनाहत नाद की प्रेरणा स्वयं परमात्मा देता है, इस सम्बन्ध में यौगिक प्रयोग किया जाता है -

---

1- संगीत चूड़मणि, पृ0 - 63.

साधक एकान्त और स्थान शब्द रहित स्थान पर अपने कानों को बंद कर प्राणवायु को ऊपर की ओर खींच कर लेता है। अपने मस्तिष्क में अनेक ध्वनि प्रति ध्वनि सुनाई पड़ती है। यही 'अनाहत नाद है' जो किसी आदृश्य शक्ति की प्रेरण ा से साधक को प्राप्त होती है।

नाद सर्व वर्णोत्मति हेतुर्वर्ण समस्त वर्णों की उत्पत्ति का हेतु नाद है। परा पश्चन्ती मध्यमा और बैखरी इन चारों वाणियों की अधिष्ठात्री चार शक्तियां कही जाती हैं, जिन्हें वामा, ज्येष्ठा रौद्री और अम्बिका कहते हैं। इनका लक्षण इस प्रकार है-

"तत्र वामा नाम स्वान्त स्थिति प्रवञ्चवमनाद् विश्व जनयित्री ज्येष्ठ।"
सर्वमंगलकारिणी, रौद्री सत्र रोग विद्राविणी अम्बिका सर्वेष्ट प्रदाशक्ति।[3]

परावाक अम्बिका इच्दा ज्ञान क्रिया शक्ति क्रम से पश्यन्ति मध्यमा और बैखरी रूप कही जाती है। नाद तत्व से श्वेत बिन्दु (शिवात्मक) तथा रक्त बिन्दु शक्त्यात्मक व्यक्त होते हैं। श्वेत बिन्दु में रक्त बिन्दु एवं रक्त बिन्दु में श्वेत बिन्दु प्रविष्ट होकर कला की व्यक्ति स्फुट रूप से होती है इस प्रकार नाद बिन्दु और मिश्र इन तीनों से यह स्थूल दृश्यमान जगत उत्पन्न होता है।

1- नृत्यावसाने राज राजो निनाद पंचवाश्म।। महेश्वर सूत्र।।

2- शरद चन्द्र परांजपे - भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 - 16

3- श्रीधर परांजपे - भारती संगीत का इतिहास, विषय प्रवेश.

4- (कामकला विलास. पुण्यनन्द विरचित) नटनान्द की टीका - पृष्ठ - 9.

5- श्रीधर परांजपे - भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 - 276.

6- भरत कोष, पृष्ठ - 955.

7- संगीत दर्पण - प्रष्ठ - 57, 58.

इस अन्विति में विद्वानों ने गायन को सर्वोपरि माना है। भारत के अनुसार गीत, नाटक प्रमुख अंगो में से अन्यतम है तथा वादन और नृत्य दोनों उसके अनुयायी हैं। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में वाद्य तथा नृत्य को गीत का अनुवर्ती माना गया है-

नत्यं वाद्या नुगंप्रोक्तं वाछं गीतानुवृत्ति च ।

अतो गीत प्रधा नत्वादत्राऽदावमिधीधत ।।[1]

कंठ संगीत के प्रधान्य का कारण इसका, स्वभाव, सिद्धत्व और निरालम्बत्व है अर्थात् कण्ठ स्वर बिना किसी भौतिक उपादान की सहायता के कण्ठ सहज रूपेण निसृत होता है मानव ही नहीं जीव भाव में ध्वनि के साधन या शब्द उद्घाटन का एक मात्र साधन कण्ठ है। कण्ठ के सहयोगी के रूप तालू, जिव्हा, मुर्धा और नासिका के सम्यक प्रयोग की साधना ही स्वर साधना है। अर्थ है -

मधुर ध्वनियों या स्वरों का कुछ विशिष्ट लय में होने वाला प्रस्फुटन। प्राचीन संस्कृत वाडमय में संगीत व्युत्पत्तिपरक अर्थ 'सम्यक गीतम्' रहा है।

वाराहोपनिषद में इस प्रकार है -

'संगीत ताल वाद्यवंश गतापि मौलिस्थ कुम्भ परिरक्षगधीर्नटीव'

भरत काल में भी संगीत केवल 'साम्यगीत' का पर्यायवाचक रहा है नृत्य गीत और वाद्य के समन्वित रूप का नहीं। संगीत का यही अर्थ सगीत के टीकाकार कल्लिनाथ तक रूढ़ रहा है। ऐसा व्याख्या से स्पष्ट है।

'ननु अविष्करोति संगीतरत्नाकर मुदारछी' इति प्रतिज्ञायां संगीत शब्देन लोक प्रसिद्धया गीत स्यैव ग्रन्थ प्रतिपाद नत्वं प्रतीयते न तु वाद्य नृत्य योरित्याशंकां परिणिहोर्ष संगीत शब्दार्थ माह।'

मध्यकालीन संगीत ग्रन्थकारों के अनुसार संगीत स्वयं एक त्रयी है, जिसमें गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों कलाओं का समावेश है। उनकी यह कल्पना वस्तुतः

1- गन्धर्व वेदोधृतसार, पृष्ठ - 35.

तीनों के अभिन्न व्यवहारिक साहचर्य पर आधारित है न कि सैद्धान्तिक एकता पर। सम्भवत इसी परिभाषा के कारण संगीत तॉयत्रिक तथा नाट्य का पर्याय-स्वरूप माना जाता है। तथा नाट्य और संगीत के बीच की भेदक रेखा विस्मृत की जाती है। वस्तुत संगीत शब्द की व्याप्ति भरत काल के गीत एक सीमित रही है, गीत, वाद्य तथा नृत्य इस त्रयी का बोध उबसे कथमपि नहीं होता, यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। भरतोक नाट्य में केवल नाट्यंग के रूप में इन तीनों का प्रयोग निहित है, न कि स्वतंत्र रूप मे तथा इनके अतिरिक्त पाठ्य अभिनय आदि अन्य अगो का तुल्य महत्व उसमे स्वीकृत है (नाट्य में अन्तर्भूत होने वाले विषयों का परिगणन भरत) निम्न श्लोक मे स्पष्ट -

रसा भावा हमिनया धर्मिवृत्ति प्रवृत्तय ।
सिद्धि स्वरास्तथातोद्यं गानं रंग च सग्रह ।। 6/10 ।।

अर्थात् नाट्य सगह मे रस भाव अभिनय, धर्मि, वृत्ति प्रवृत्ति सिद्धि स्वर आतोद्य गान तथा रंग विषयक ज्ञान का समावेश है।

कार्य कारण का अभेद होने से यह जगत वृह्स्रूप ही है। एकोऽहं यह वाक्य शब्द ब्रह्मा एवं सामरस्य शिव शक्ति रूपात्मक अद्वैतक एक सा ही बोधन करता है -

'अकार. सर्व वर्णाग्रथः प्रकाशः परमः शिव. ।
हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शख्य·प्रकीर्तितः ।।'

अर्थात् शिव को प्रकाश तथा शक्ति को विमर्श कहते हैं। समस्त वर्णों के आदि में अनेक प्रकाश रूप शिव का वाचक है तथा अन्त मे आये हुये हकार शक्ति तत्व का बोधक इसी को यह अहम् यह पर्व बता रहा है इसी से इसे नाद या शब्द ब्रह्मा कहते हैं। अकार एवं हकार का सामजस्य परमत्व में है। इसी 'अहम'

1- कुमारी रेखा शर्मा द्वारा लिखित संगीत पत्रिका द्वारा प्रकाशित, अगस्त 1983 में प्रकाशित लेख

से समस्त मातृ का चक्र व्यक्त होता है, जिन्हें वाच्यवाचक भाव का बोधक कहते हैं। 'स्वर' शब्द स्वर धातु से 'अच्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है - 'शब्द' 'कोलाहल' 'संगीत के सुर' 'ध्वनि की लय' 'सात की संख्या' आदि[1] स्पष्ट है कि 'स्वर' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता हुआ देखा जाता है। कहीं पर 'स्वर' शब्द 'वाणी' के अर्थ में, कहीं 'वर्ण-विशेष' के अर्थ में कहीं संगीत के षड्ज आदि संपृक के अर्थ में कहीं 'सूर्य', 'सोम', 'प्रणव', 'श्री' इत्यादि के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[2]

श्रुत्यनंतरभावी य स्निग्धोऽनुरणानात्मक· ।
स्वतो रंजयति श्रोतृचित्तस स्वर उच्यते ।।

अर्थात् वह ध्वनि, जो अनुरणात्मक है तथा स्वत मनोरजन प्राप्त करने वाला गुण जिसमें निहित है, वही स्वर है। स्वत· रंजयति के अनुसार 'स्वत' शब्द का 'स्व' और रंजयति का 'र' मिलकर 'स्वर' शब्द बनता है। राघव आर0 मेनन के अनुसार-स्वर 'स्व' तथा 'र' से मिलकर बनता है, जिसका अर्थ है 'स्वयम् के लिए प्रस्तुत करना।।[3] रंजकता स्वर का प्रमुख लक्षण है। स्वर में स्निग्धत्व न रहने से अनुरणहीन प्रतीत होता है और उससे रंजक क्रिया नहीं हो सकती। स्वर में स्निग्धत्व न रहने से अनुरणहीन प्रतीत होता है और उससे रंजक क्रिया नहीं हो सकती। प्रथम उत्पन्न रणन (नाद) मात्र 'श्रुति' कहलाती है। तदनंतर जो अनुरणन अर्थात् उससे उत्पन्न होने वाला नाद=आँस होता है, उसे 'स्वर' कहते हैं। अनुरणनयुक्त (श्रुति के साथ) स्वर का व्यवहार करने से स्निग्धता तथा मधुर भाव उत्पन्न होता है। संक्षेप में जिस आवास में माधुर्य है, वही स्वर है।

क्या श्रुति स्वर क्या एक है अथवा भिन्न-भिन्न "संगीत परिजात" में अहोबल पंडित ने इस अंतर को भली-भाँति स्पष्ट किया है।

श्रुतयः स्यु स्वराभिन्नाः श्रवणत्वेन हेतुना ।

× × ×

रागाहेतुत्व एतासां श्रुति संज्ञैव सम्मता ।।('संगीत परिजात' 38-39)

1- डा0 सुषमा कुलश्रेष्ठ - कालीदास साहित्य एवं वादन कला विषय प्रवेश.

श्रुति व स्वर के संबध-विषयक मतों में बहुत अंतर है। कुछ लोगों का मत है कि यह श्रवणेंद्रियगोचर तत्व होने से एक ही प्रकृति के हैं, किन्तु यह मत सही प्रतीत नहीं होता, क्योंकि श्रुतियाँ स्वरो के आधार तथा सहायक हैं। अत सहायता प्राप्त करने वाले तत्व एक ही समय में सहायक नहीं हो सकते अन्य मतानुसार संगीत स्वर व्यक्त होने की जो जगह है, उसको श्रुति समझना और जिस जगह श्रुति अनुरणन पाती है, उस जगह (श्रुति) को 'स्वर' समझना चाहिए। मतंग के अनुसार श्रुतियों से उत्पन्न स्वर अनुरणनात्मक होता है, जो मन का रंजन करने के कारण 'स्वर' कहलाता है। षड्ज स्वर कहने-मात्र से तीव्रा कुमुद्धती आदि चारों श्रुतियाँ मुखरित हो उठती हैं, अतः श्रुति ही स्वर की अखण्डनीय इकाई है।

निखिल घोष ने अपनी परिभाषा अथवा संगीत में स्वर-संबंधी धारणा को स्पष्ट करते हुये कहा है कि जो ध्वनि रंजक है, वह स्वर है यदि वह ध्वनि रजक नहीं है, तो स्वर नहीं है। किन्तु श्रवणीय होने के कारण श्रुति है। नृपति कुभकर्ण ने 'स्वर' शब्द को शोभा, रजन, ध्वनन आदि का द्योतक माना है। 'सिंह भुपाल' ने कहा है कि प्रथम आघात से जो सूक्ष्म ध्वनि आकाश में उत्पन्न हो, वह श्रुति और वही नाद जब पूर्ण दशा को प्राप्त होकर स्थिर हो जाए, तब स्वर हो जाता है। अतः श्रुति का नाद भी रंजक होता है। 'श्रुत्यनतर' शब्द से भी यही भाव स्पष्ट होता है कि श्रुति के अनंतर यानी बाद में इसका स्पष्टार्थ है कि प्रत्येक स्पर अपनी अंतिम श्रुति पर निनादित होता है। इस प्रकार स्वर श्रुतियों के मेल से बनी हुई इकाई है व राग में स्वर का प्रयोग होने पर श्रुतियाँ स्वर की संज्ञा प्राप्त करती हैं। अतएव मन को आकृष्ट करने वाली मन के भाव को दिखाने वाली श्रुति ठहराव की स्थिति स्वर है।

वैदिक काल में स्वर का प्रयोग मुख्यत अ, इ, उ आदि कडमयीन वर्णों के लिए प्रयुक्त है और गोणरूप से संगीत मूलक ध्वनि के लिए। मानव-मुख से निःसृत ध्वनियों का ही एक रूप स्वर है। 'स्वर' शब्द 'स्वृ' धातु से बना है। जिसका अर्थ उपताप है।

1- डा0 उमेश जोशी, पृ0 - 39, भारतीय संगीत का इतिहास.

नारदी शिक्षाकार की स्वर संबंधी निम्न व्याख्या है।

"व्यंजनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः ।"

इस प्रकार स्वर वाग्यत्रोच्चरित् अखण्ड पूर्ण विवृत ध्वनियाँ हैं, जो स्वत उच्चारण की क्षमता रखते हुए व्यंजनोत्पत्ति का कारण बनती है। उन्वट, कैयर, पतंजलि के अनुसार श्वास-वायु स्वर के उत्पादन मे महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है, हृदयगत् भावों को प्रकाशित करने के लिए मनुष्य अव्यक्त नादों का आश्रय लेता आया है, वे सार्वभौम एवं सनातन हैं रोदन, चीत्कार कराहना अथवा हँसना इत्यादि क्रियाएँ जिन ध्वनियों को जन्म देती है, उनका निर्बाध निरपवाद एवं अव्यभिचरित प्रयोग सदा से एक जैसा रहा है। विभिनन भावों को प्रकाशित करने वाली ये ध्वनियाँ ही संगीत के स्वरों की जननी हैं।

ध्वनि का जो उतार-चढ़ाव सभाषण से भावों का बोधक होता है, वही नियत अवधान देने पर संगीत के स्वरों का स्थान ले लेता है। इसी अवधान से सगीत प्रयोज्य सात प्रधान स्वर षड़ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद का जन्म हुआ है। (संगीत चिंतामणि)

शाडगंदेव-प्रणीत सडगीत-रत्नाकर के अनुसार गायन, वादन एव नृत्य इन तीनों की अन्विति सडगीत है -

'गीत वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सडगीतमुच्ययते'।

प्राचीन काल से लेकर आज तक संगीत की ही परिभाषा बहुमान्य रही है। संगीत के अन्तर्गत गीत वाद्य एवं नृत्य तीनों को परिगणित किया जाता है, वात्स्यायन के काम की उपायभूत 64 विद्यायों-कलाओं में सर्वप्रथम जिन तीन को महत्व दिया गया है वे गीत, वाद्य एवं नृत्य ही हैं। संडगीत के अन्तर्गत जिन तीन विद्याओं का जिक्र होता है वे हैं गीत, वाद्य एवं नृत्य ही हैं संगीत के अन्तर्गत जिन तीन विद्याओं

1- विष्णु धर्मात्तर पुराण 3/35.

की गणना की गई है, वह उनके उभय विधरूपो पर आधृत है - व्यक्तिगत तथा समूहगत तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत गीत वाद्य एवं नृत्य के साथ समूहगत गीत वाद्य एवं नृत्य भी सगीत के अभिव्यंजक है। संस्कृत भाषा के अनुसार 'सगीत' का व्युपतिलभ्य अर्थ है - सम् + गीत अर्थात् सम्यक प्रकार से गाया गीत। इसी अर्थ मे 'संगीत' पद का प्रयोग वराहोपनिषद् में उपलब्ध है -

"संगीत ताल लय वाद्य वंश गतापि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणाधीर्नरीव'।[1]

'संगीत' का व्युत्पतिलभ्य अर्थ सम् (सम्यक) + गीत' रहने पर भी 'सगीत' गीत वाद्य एवं नृत्य के अभिनन साहचर्य का ही परिचायक रहा है। भरतभूमि स्पष्टत कहा है कि 'गीत' नाट्य के प्रमुख अंगो में महत्वपूर्ण है। 'वाद्य' और 'नृत्य' उस 'गीत' के अनुगामी हैं।[2] नाट्य के अन्तर्गत गीत, वाद्य एव नृत्य ये तीन कलाएं महत्वपूर्ण रूप से विद्यमान हैं। गीत, वाद्य, नृत्य, रूप, संगीत के तीन उपादानो का निर्देश मेघदूत मे सगीतार्थ[3] पद के प्रयोग द्वारा किया गया है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' के अनुसार 'वाद्य' और 'नृत्य' 'गीत' के अनुगामी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्पष्टत कहा गया है कि गीत, वाद्य, नृत्य ये नाट्य सहचरी कलाएं हैं।" 'बौध ग्रन्थों' में संगीत के लिए गन्धष्वभेद गान्धर्ववेद की संज्ञा दी गई है। इसके अन्तर्गत गीत, वादित (वाद्य) (नच्च) नृत्य तथा अख्खानम् (इसके अन्तर्गत प्राचीन आख्यान तथा वीरगाथाओं का गायन सम्मलित था) का अन्र्तभाव था।[4] संगीत के लिए 'संगीतक' पद का प्रयोग भी किया जाता रहा है। ये वस्तुत पर्याय है। पश्चात्य देशों में संगीत के लिए म्यूजिक शब्द का प्रयोग किया जाता है।

1- नाट्य शास्त्र चौखम्बा संस्करण 4/262/69.

2- अर्थशास्त्र 2/26.

3- ऋग्वेद, अर्थवेद, स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन।

4- अभिज्ञान शाकुन्तलम्, कालीदास प्रणित, सम्पादन रेखा प्रसाद द्विवेदी.

5- उमेश जोशी, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 - 11.

महा देवस्य पुरत स्तन्मार्गाख्र्य विमुक्तदम"।।

अर्थात् ब्रह्माजी ने जिस संगीत को शोधकर निकाला भरतमुनि ने महादेव जी के सामने जिसका प्रयोग किया गया तथा जो मुक्तिदायक है वह मार्गीय संगीत कहलाता है।

इस प्रकार के अनेकों कथायें मानी जाती हैं कि विभिन्न धर्मों की विभिन्न प्रकार से संगीत की उत्पत्ति हुई।

अरब से सुप्रसिद्ध इतिहासकार ओलासीनिज्म ने अपनी पुस्तक 'विश्व का संगीत' में लिखा है, कि 'मानव ने संगीत को सर्वप्रथम बुलबुल से पाया।'

इस मत को स्वीकारते हुए दामोदर पंडित ने सगीत की उत्पत्ति पक्षियो की विभिन्न स्वरों द्वारा हुई। उन्होंने सातों स्वरो का अर्विभाव इस प्रकार से माना 'मोर से षडज, चातक से रिषभ, बकरा से गन्धार, कौआ से मध्यम, कोयल से पचम मैढक से धैवत और हाथी से निषाद स्वर की उत्पत्ति हुई'।

जल-ध्वनि ने ही संगीत का रूप लिया ऐसा अपने 'सगीत के रेखा चित्रों में लिखा है - विश्चात संगीतज्ञ रिन्सोबोल्स ने झरनों की कल और नदियों के कल-कल से स्वरों की मीठी ध्वनि संगीत के ही सात स्वरों को उत्पन्न किया।

वैसे संगीत के जन्म का एक और कारण या माध्यम माना जाता है वो है ईश्वर उपासना चूँकि मानव को ईश्वर ने पैदा किया था इसलिए उसके ईश्वर के प्रति असीम श्रद्धा और आदर भावना जागृत हो गई, हालांकि उनमें ईश्वर को अपने इर्द-गिर्द देखा नहीं होगा, किन्तु उसने अनुमान लगा लिया होगा कि हमें अवश्य किसी न किसी शक्ति ने पृथ्वी पर पैदा किया है, और फिर इतनी सुन्दर पृथ्वी, इतना सुन्दर आकाश तथा चांद-सूरज किसने बनाये हैं ये मनोरम प्रकृति किसने निर्मित की है, अवश्य ही कोई अपूर्व एवं दिव्य शक्ति है, जो कि हम सबसे अद्वितीय और महान्

1- आचार्य वृहस्पति, संगीत चिन्तामणि.

है। बस उसी शक्ति को उन्होंने ईश्वर मान लिया होगा। उस सर्वशक्तिमान की उपासना करने के लिए उन्हे सगीत की आवश्यकता पड़ी, क्योंकि बिना प्रार्थनाओं के, स्तुति की आराधना कैसे हो सकती है इसलिए उन्होंने सर्वप्रथम सगीत को सीखा होगा। ईश्वर की उपासना जीवन निर्माण की मुख्य वस्तु थी। बिना ईश्वर उपासना के जीवन में सुख शान्ति का प्रादुर्भाव नहीं पाता है। संगीत का धार्मिक रूप इसीलिये जन्म लिया।

सगीत की उत्पत्ति प्रणव अक्षर 'ओउम्' से भी मानी गई, जिसका विस्तृत विवेचन हमने पंचम अध्याय मे किया गया है।

डा0 राधा कृष्णन् के आधार 'पतोन्मुखी नैतिक स्वर के इस युग के आशा का स्फुरण कहीं से दृष्टिगोचर होता है वह है संगीत-विशेष से भक्ति-संगीत।'

1- "स्वयं राजते इति स्वरा" - महाभाष्य पस्पशलिक.

अध्यात्म की दृष्टि से विभिन्न युगों में संगीत

वैदिक युग -

संगीत वेदों का मूलाधार है। सगीत का आधार स्वर है और स्वर का आधारभूत तत्व नाद है। नाद या शब्द आकाश का गुण है। शब्द गुणकमाकाश। शब्द सर्वव्यापक है। वैदिक ऋषि देवताओं के अर्चन स्तवन हेतु जिन मंत्रो या सामों का पाठ या गायन किया करते थे वे स्वराश्रित होते थे विशिष्ट केश वैशिष्टम से युक्त सामगान विशिष्ट देवता को प्रसन्न करने वाला तथा विशिष्ट फल प्रदान करने वाला माना गया है।[1] सामचीन स्वर और वर्ण से विहित मत्र पाठ अनिष्ट का उत्पादक होता था यह तथ्य 'इन्द्रवृत्त सुरवृत्त से स्पष्ट है।

'मन्त्रोहीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थयाह ।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽवराघ ।।[2]

अर्थात् यजमान वृत्तासुर ने अपनी अभिवृद्धी हेतु यज्ञ कराया। मंत्रपाठी ने समासयुक्त शब्द इन्द्र शत्रु का जिस ढंग से पाठ किया उससे स्वर भेद हो गया। परिणाम स्वरूप 'इन्द्र के शत्रु वृत्तासुर' के स्थान पर 'स्वयं इन्द्र जो शत्रु' है उसकी अभिवृद्धि हो गयी यजमान वृत्तासुर मारा गया। प्रसिद्ध अंगल विद्वान 'पॉपली' ने 'स्वर शब्द संयोग' का प्राचीनतम् उदाहरण माना है।[2]

संगीत तत्व की दृष्टि से ऋग्वेद की यह पंक्ति दृष्टव्य है 'पश्च देवस्य काव्यं न भमार जीर्यति·'।

इसमें वेद को दवकाव्य कहा गया है। काव्य सदैव संगीत प्रधान होता है।[3] इसलिए उसका दूसरा नमम है गेय। काव्य की आत्माध्वनि है और यही ध्वनि संगीत का आधार है। मेरे कहने का आशय यह है कि वेद स्वराश्रित है अतः संगीतात्मक है, इसीलिए वेदों को संगीत का मूलाधार माना गया है। मेरे कहने का आशय है कि वेद स्वराश्रित है अतः संगीतात्मक है इसीलिए वेदों को संगीत का मूलाधार मानना असंगत नहीं है।

पाणिनि शिक्षा, दि म्युजिक आफ इण्डियन ए (पेज 8) वेद संगीत का उद्गम स्थल और प्राचीनतम् रूप के संरक्षक माने गये हैं। वैदिक वाङमय मे मत्र संहिताओ, ब्राह्मणों, आख्यको, उपनिषदो तथा सूत ग्रन्थों का अन्तर्भाव माना गया है। ऋगवेद मत्रदृष्टा ऋषियों का आर्षकाव्य है। सामवेद ऋग्वेद ऋचाओं का सगीतबद्ध सग्रह है, यजुर्वेद प्राय गद्यात्मक है तथा अर्थववेद अर्थवन (मांगल्यप्रद) और आंगिरस (अभिचार विषयक) मंत्रो का संकलन है। 'गांधर्व वेद' सामवेद का उपवेद कहा गया है, जो उस महत्वपूर्ण सगीत का आधार है जो देवार्चन से पृथक था जिसका उद्देश्य प्रधानत लोकरंजन था।

वेदों ने समस्त जीवन को ही संगीत माना है ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है, रचना में पद्य प्रधान है और आयुर्वेद कर्मकाण्ड माना जाता है। इसके बाद सामवेदन संगीत प्रधान है, अर्थात् ज्ञान और कर्म की परिसमाप्ति या पूर्णता संगीत में ही होता है। वैदिक पद्धति में विवाह के समय पाणिग्रहण के छ मंत्रो के उपरान्त अथर्ववेद का एक मंत्र अनिवार्य रूप से पढ़ा जाता है। जिसमे पति घोषणा करता है कि 'तुम ऋक हो और मैं साम हूँ'।

अर्थात् जीवन के सगीत को स्वर देने वाला मैं हूँ और तुम ऋग्वेद के समान ज्ञान का विस्तार करने वाली अर्थात् संगीत की साधना हो मैं छलोक हूँ तो तुम पृथ्वी के समान हो अत यह सम्बन्ध वृद्धावस्था की अन्तिम स्थिति तक चले और हम सो वर्ष पर्यन्त जीते रहें।[2] वैदिक विवाह प्रसंत्र में ही अन्यत्र नारी की प्रसंशा करते हुये उसकी गीत गाने की बात कही गयी है।

उपनिषदों में जहां जीवन को अनेक रूपों में संगीत निरूपित किया गया है वहां ब्रह्मचर्य या बाल्यावस्था को आरोह माना गया है। गृहस्थ जीवन में आरोह-अवरोह समान रूप से विद्यमान रहते हैं। सुख-दुख, राग-द्वैष, विस्तार-सकोच, आशा-निराशा, आकांक्षा-वितृष्णा, दिन और रात के समान सृष्टि और प्रलय के समान अनुस्युत हो अन्योन्याश्रित रहते हैं। यही जीवन संगीत की स्वरमयता है, यही गृहस्थ है और यही लोकधर्म है। ऋषियों ने तीसरी अवस्था वानप्रस्थ को 'सम' या समता की स्थिति

माना है। सगीत यही पूर्णता को प्राप्त करता है। वैदिक वर्ण्य व्यवस्था मे 'सन्यास' संगीत की एकलयता या तुशीयावस्था का रूप है। अत· उसे विस्तार नहीं दिया गया है।

सामवेद विपुल विस्तार माना गया है। पातंजलि ने इसे एक हजार शाश्वा ब्रह्मा कहा है 'सहस्त्रवर्त्मा सामवेद' अधुना प्रयज्यहृदय दिव्यावदान चरणव्यूह तथा जैमिनि ग्रहय सूत्र ।3 के पर्यालोचन से केवल ।3 शाखाओ के नाम मिलते है। आजक सामगान की केवल तीन शाखायें ही प्रचार में हैं -

।- कौयुमीप 2- राणायनीप 3- जैमिनीय

वैदिक युग मे 'सामगान' के विधिवत प्रशिक्षण की परम्परा थी। 'सामवेद' के अतिरिक्त अन्य वैदिक शाखाओं में भी सामगान की अल्पाधिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। सामगायकों का एक स्वतंत्र वर्ग था जो सामग कहलाता था। इसका कार्य यज्ञ के अवसर पर परम्पराग रूप से सामगान करना था। 'साम' के अविष्कर्ता आचार्यों में अंगिरस, भारद्वाज, तथा वशिष्ठ के नामों का भूरिशः उल्लेख हुआ है।

।- देव अंगि रसा सायभि स्तूयमान ।

2- भारद्वाजो वृहदाचक्रे अग्ने ।[2]

3- रथ-तरमाजमारा वशिष्ठः ।[3]

वैदिक काल में प्रचलित सामों के नाम वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। ऋगवेद में तैरूप, वृहत्, रैवत, गायत्र, भद्र आदि सामो के नाम मिलते हैं। यजुर्वेद में रथन्तर, वैराज, वैरवानस, वामदेव्य, शक्वर, रैवत, अभीवर्त तथा एतरेय, ब्रह्मण मे नौघस, रौरय, यौधालय, अग्निष्टोमीप आदि विशिष्ट सामों में नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य के अनुसार साम पांच खण्डों का भक्तियों में विभक्त होता है -

।- प्रस्ताव, 2- उद्गीय, 3- प्रतिहार, 4- उपद्रव और निधन, इनमें हिंकार और प्रणव को जोड़ने पर भक्तियों के सात रूप बनते थे। प्रस्ताव नामक विभाग का गायन

अस्तोता करता था। उसके पूर्व होने वाले हिंकार की हुय ध्वनि में समि ऋत्विक एक साथ सहयोग देते थे। उदगीय नामक दूसरा विभाग प्रधान ऋत्विज उद्गाता गाता था प्रतिहार नामक तिसरा विभाग प्रतिहर्त्ता द्वारा गाया जाता था तथा निधन नाम अन्तिम खण्ड प्रस्तोता, उद्गात तथा प्रतिहर्त्ता तीनों ऋत्विक एक साथ मिलकर गाते थे।[4]

उपनिषदों के सार 'श्री भद्भागवद्गीता' मे भगवान कृष्ण ने अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करते हुये स्वय को वेदना सामवेतोऽस्मि'। कहा है अर्थात मै वेदो में सामवेद हूँ, दूसरी ओर एक अन्य परिभाषा में 'समत्व' योग उच्यते[2] कहा है अर्थात सुख-दुख इच्छद्वेष लाभ-हानि में समता की स्थिति का नाम ही योग है। विश्व सगीत में मुख्य रूप से स्वर की तीन दशाएं आरोह-अवरोह और सम मानी गयी है।

उदात्त आरोह है, अनुदात्त अवरोह है और स्वरित 'सम' है। वेद के प्रत्येक मंत्र के साथ स्वरों के चिह्न देवता, छंद और प्रबन्ध का वर्णन अनिवार्य होता है। इसके बिना ऋषि और देवता का निर्णय भी नहीं हो सकता और काल निरूपण जिसे 'समन' कहते है संभव नहीं है, आरोह या उदात्त का चिह्न अक्षर के ऊपर खड़ी पायी और अवरोह या अनुदात्त का चिह्न अक्षण के नीचे पडी पाई के रूप मे दिखाई देता है।

इन दोनों की पूर्णता समत्व सम या स्वरित में होती है। यही संगीत के जीवन की विशेषता है और यही जीवन का संगीत हे।

वैदिक साहित्य में संगीत का विशद विवेचन किया गा है। उस काल मे सगीत का उदात्त और उत्कृष्ट रूप विद्यमान था जिससे उद्भूत 'रस' (आनन्द) अलौकिक और ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है।

1- श्री वैस्वर शतपथ ब्राह्मण 11/4/10.

2- स्वर+अच् = स्वर, संस्कृत हिन्दी कोष आप्टे, पृ0 - 1158.

उपनिषद काल भारतीय सगीत का प्रमुख आधार है। भारतीय तत्वज्ञान तथा धर्म सिद्धान्तों की सरित् इसी स्रोत से प्रवाहित हो उठी है। वैदिक काल मे कर्मकाण्ड के साथ ही ज्ञानकाण्ड का उन्मेष हुआ जिसका प्रतिफलन 'उपनिषद' नामक रहस्य-ग्रन्थो मे लक्षित होता है। जैसा कि माना गया है उपनिषदो की रचना ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशिष्ट के रूप मे हुई है। अध्यात्मिक दृष्टि कोण से उपनिषद काल के संगीत का बहुत महत्व है। क्योंकि उपनिषद युग के संगीत मे सामगान विशेष प्रशंसा पाई जाती है, उननिषद काल मे मुण्डकोपनिषद् में विद्धाओं का द्विविध विभाजन माना गया 1- परा, 2- अपरा (1, 1, 4)। पर वह है जिसमें अक्षर तथा अव्यक्त परमात्मा की उपलब्धि होती है। अपरा मे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद के साथ शिक्षादि समस्त वेदांगो का अन्तर्भाव किया- 'तत्रापरा, ऋग्वेदों, यजुर्वेद, सामवेदोऽथर्ववेद. शिक्षाकल्पों ज्यातिषमिति' (1, 1, 5)। छान्दोग्यपनिषद के अनुसार साम का आधार 'स्वर' है तथा स्वर का आधार है 'प्राण' - का साम्नो गतिरिति स्वर इतिहोवच स्वस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच' यज्ञ की सफलता के लिए स्वर संपन्न गान परमावश्यक है। उपनिषद् काल में सगीत कला मे सगीत कला मे निपुण व्यक्ति को नैसर्गिक आनन्द का उपभोक्ता माना जाता था। ब्रह्मा के प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन माना जाता था। सगीत जो वैदिक काल में यज्ञादि अवसरों को महत्वपूर्ण माना जाता था। उपनिषद काल व्यक्ति की जीवन की अमरता का भी प्रतीक बन गई थी। संगीत पर मोक्ष-प्राप्ति की कामना के साथ-साथ जीवन मन्यत्यायें निर्भर थी।

प्रमुख 12 उपनिषद् माने गये हैं जो इस प्रकार हैं - (1) ईश (2) केन (3) कंठ (4) प्रश्न (5) मुण्डक्य (6) मुण्डक (7) तैतिरीप (8) छान्दोग्य, (9) एतेरेय (10) वृहदाख्यक (11) जाबालीपनिषद् (12) श्वेताश्वेतर ।

उपनिषद की रचना-काल में संगीत कला की अध्यात्मिक महत्ता पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। छान्दोग्यपनिषद में सामवेद के दूसरे भाग का वीणा-वादन के साथ, गायन के साथ, ओम अक्षर का गायन करते हुए ब्रह्मा-चिन्तन करने का उपदेश है। संगीत तथा योग द्वारा मुक्ति पर विचार किया गया है। इसमें दर्शन एवं

अध्यात्म का सगीत सामंजस्य स्वीकार किया गया है। इस काल में संगीत को धार्मिक लौकिक संगीत कहा जाता था। जनसाधारण भी संगीत की समस्त प्रक्रियाओं में अध्यात्म को खोजने का प्रयास किया जाता था।

उपनिषद में दो विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन मूर्त उदाहरणों और सैद्धान्तिक निर्देश के साथ दिया हुआ है। जीवन का एक मार्ग अज्ञान सकीर्ण भावना और स्वार्थ से पूर्ण है, जिसके द्वारा मनुष्य अस्थायी अपूर्ण और अवास्तविक आनन्द को चाहता है। दूसरा मार्ग वह है जिसके द्वारा वह परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करता है और सामान्य जीवन के दुखो से मुक्त होकर अनन्त आनन्द को प्राप्त करता है। उपनिषद काल मे मोक्ष प्राप्ति का कर्मकाण्ड पर विशेष महत्व दिया जाता था।

शिक्षा ग्रन्थो मे सगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा-ग्रन्थो में जिन छ विषयों का निरूपण प्राप्त होता है वे हैं - वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान। इन ग्रन्थों का सम्बन्ध मूलत· प्राचीन ध्वनि विज्ञान से है। पाविनीय, याज्ञवल्क्य, नारदी तथा माण्डुकी आदि प्रमुख हैं।

शिक्षा ग्रन्थों के संगीत को दर्शन शास्त्र में इन्हें 'प्रतिशख्य' भी कहते हैं और वेद-मत्रो का संगीत शास्त्र भी कह सकते हैं।

"नारदी शिक्षा" में ऋक, यजु तथा साम तीनों वेदों की विभिन्न शाखाओं के द्वारा प्रयुक्त स्वरों का विवरण प्राप्त है। मंत्र समीचीन स्वर तथा वर्ण से विहीन होने पर अनिष्ट का उत्पादक माना गया है।

मन्त्रोहीन· स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनन्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोउपराधात् ।[2]

इसमें स्वर संधि का वर्णन करते हुये कहा गया है कि एक स्वर दूसरे स्वर पर जाते हुए प्राकृतिक तथा स्वाभाविक लय होनी चाहिए, जिस प्रकार अन्धेरे से उजाला।

"नारदी शिक्षा" में स्वर-समूहों को ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक पार जातियों मे विभाजित किया गया है। संगीत की धार्मिक, अध्यात्मिक तथा दार्शनिक महत्वता थी।

विवेच्य ग्रंथ में (पृष्ठ 28) में साम-गायन को सातों स्वरों के अनुसार करने को निर्देश किया गया है। सर्वप्रथम इसी ग्रंथ मे सप्तक का परिचय इस प्रकार दिया गया है।

य सामगानां प्रथम सवेणोर्मध्यम स्वर ।
यो द्वितीय सगन्धारस्तृतीयत्वृषभ स्मृत ।।

चतुर्थ षड़ज इत्याहु. पन्चमो धैवतो भवेत् ।
षष्ठो निषादों विज्ञेय सप्तम पंचम स्मृतः ।।

इस सन्दर्भ में स्वामी प्रज्ञानन्द जी का यह कथन है - "According to Naradatana, raga Swara, Grama and Murchchana that Consititute the Swara-Mandata are Sacred and Purifying because they bring Permanent Salace and tranquility to the minds of men and women."

- A Historikal Study of the Indian Music, P.24

पाणिनी शिक्षा -

यह व्याकरण प्रधान ग्रन्थ है, इसमें गायन, वादन और नृत्य, संगीत के तीनों तत्वों का उल्लेख है।

नाद के सम्बन्ध में पाणिनी ने इस प्रकार विवेचना की है -

"आत्मा बुद्धया समत्यार्थान् मनो युक्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्रिमाहन्ति स प्रेरयति मारूतम् ।।
मारूतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।। 6-7-।।[4]

अर्थात् प्राण शरीर के विभिनन भागों का संचरण कर मन्द्र, मध्य तथा तार इन स्थानों से विभिन्न स्वर स्थानों का निर्माण करता है।

इस ग्रन्थ के प्रणेता ने समकालीन समाज मतें संगीत कला के व्यापक प्रचार-प्रसार का उल्लेख इस तथ्य का परिचायक है कि गायन-पद्धत्ति सर्वथा नियमबद्ध और अनुशासित होती थी निपुण कलाकार के लिए यह आवश्यक समझा जाता था। उसे संगीते-शास्त्र का भी पर्याप्त ज्ञान हो। अत· सगीत कला के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से यह काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम महर्षि पाणिनि ने स्वरों का विभिन्न पशु-पक्षियों के साथ सम्बन्ध तथा साम-गायन के समय-सिद्धान्त का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया -

यथा- प्रात· पाठेन्नित्यभुरसिस्थतेन स्वरेण शर्दूलरूतोपमेन
माध्येन्दिने कण्ठगतेन चैटा चक्राहत्सकुचित संनिभेन ।।
तारन्तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोजतन्तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
मयूर हंसाम्बुभृत स्वराणां तुल्येन नादेन शिरस्थितेन् ।।

अर्थात प्रातः काल वक्ष से उत्पन्न शार्दूल के समान, दोपहर में चक्रवाक के समान सायंकाल को मयूर के समान (अथवा हंस और कोयल के समान) वेद-पाठ नियमित रूप से करना चाहिए।

पाणिनी ने ताल नियंत्रण के क्षेत्र में भी विभिन्न पशु-पक्षियों की ध्वनि से एक रहस्यपूर्ण उपलब्धि का उद्घाटन करते हुये लिखा है -

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां त्वेत वायस· ।
शिखी रौति त्रिमात्रां तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ।।

अर्थात् नीलकंठ की ध्वनि में एक मात्रा और कौए मे दो मात्रा, मयूर की ध्वनि में तीन मात्रा तथा नेवले की ध्वनि में आधी मात्रा मे निहित होती है।[25] अत ये कहा जा सकता है कि ये शिक्षा-शास्त्र सांस्कृतिक, धार्मिक, अध्यात्मिक रूप से विशेष महत्व रखती है। इस काल की कला और कलाकार दोनों को ही विशेष रूप से सम्मान दिया जाता है।

धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण ये धर्म से अत्यधिक जुड़े हुये हैं।

याज्ञवल्क्य शिक्षा -

अध्यात्मिक और दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान याज्ञवल्क्य ने इस प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्र की रचना की थी। याज्ञवल्क्य शिक्षा आरम्भ से ही संगीत का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है और संगीत-निपुण व्यक्ति के लिए मोक्ष का मार्ग स्वय ही प्रशस्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति अत्यंत सरल साधन सगीत साधन माना जाता है।

वीणावादन तत्वज्ञ श्रुतिजाति विशारद ।
तालज्ञश्च प्रयासेन मोक्ष मार्ग नियच्छति।।

(यति धर्म प्रकरण श्लोक ।।5)

अर्थात् जो व्यक्ति वीणा-वादन को जानने और श्रुति, जाति, ताल गीतादि के ज्ञान से अलंकृत होता है उसके लिए मोक्ष का मार्ग आसान हो जाता है।

याज्ञवल्क्य- शिक्षा के ही यतिधर्म का प्रकरण के श्लोक ।।6 के अनुसार-

गीतज्ञो यदि योगे न माप्नोति परमं परम् ।
रूद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैवसह भादेते ।।

अर्थात् गीतादि का ज्ञाता यदि किसी प्रकार योग द्वारा परम-पद पद पद न भी कर सके तो अगले जन्म हो वह रूद्र भगवान का अनुचर होकर उनका सन्निध्य प्राप्त करता है।

इस ग्रन्थ में सूर्य कणिका शब्द की उपमा संगीत से देते हुए कहा गया है -

सूर्य रश्मिप्रतीकाशात कणिकात्रेय दृश्यते ।
अणवस्य तु सा मात्रा मात्रा तु चवतुराणवा ।।

अर्थात् सूर्य किरण मे जिन कणिकाओं को देखा जा सकता है, उसकी चार कणिकाओ से एक ताल की मात्रा बनती है। सगीत के साधको को शान्त, सुन्दर, दन्त-पंक्ति और सुन्दर ओठ तथा प्रगल्भ एवं विनीत होता चाहिए। याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार - अभ्यासार्थे द्रुता वृति प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् । शिष्याणामुपदेशार्थ कुर्याद् वृति विलम्बिताम् ।। अर्थात् शिष्य के प्रति गुरू की सबसे पहली शिक्षा शुद्ध उच्चारण तथा विधि पूर्वक स्वर क्रिया के लिए होती है।

माण्डूक्य शिक्षा -

याज्ञवल्यक्य शिक्षा के उपरान्त माण्डूक ऋषि ने इस शिक्षा शास्त्र की रचना की। इस ग्रन्थ मे सर्वप्रथम सप्तस्वरों की भूचर या खेचर प्राणियों से समानता की गई है।

इसमे साम-गायन के लिए सात स्वरों का प्रयोग इस प्रकार से किया गया है -

षडजकृषभगान्धारो मध्यम पंचम तथा ।
धैवतश्च निषादश्च स्वरा स्पतेह सामसु ।।

ये सारे शिक्षा ग्रन्थ धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण सभी अध्यात्मिक स्वरूपों को अपने संगीत के अन्दर समाहित किये हुये हैं। इन ग्रन्थों के अनुसार दीर्घ श्वास से लगातार ध्वनि में जब इसे गाया या बजाया जाता है तो ईश्वर के प्रति की जाने वाली वन्दना के उपरान्त लक्ष्य-प्राप्ति के लिए पूर्णतया सर्मपण भाव उत्पन्न हो जाता है, इन ग्रंथो में स्वर-साधना की विशेष महत्ता थी जो आज भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है स्वर साधना के लिए।

नारदिय शिक्षा में कहा गया है कि अपनी आत्मा को परमात्मा की तरफ लगाने का सर्वश्रेष्ठ स्वर-साधना है। स्वर साधना से बढ़कर कोई योग नहीं है।

महाकाव्य काल में संगीत

1. रामायण कालीन संगीत 2. महाभारत में संगीत

रामायण कालीन संगीत -

रामायण भारत का प्राचीन सास्कृतिक महाकाव्य है। यह भारत की प्राचीन सास्कृतिक महाकाव्य है। यह भारत की प्राचीन सास्कृतिक परम्परा के परिज्ञान का वह महत्वपूर्ण का वह महत्वपूर्ण स्रोत है। रामायण हिन्दुओ का लेकप्रिय ग्रन्थ फिर भी यह ग्रन्थ अन्य वर्ग के लोगों, अन्य धर्म के लोगों के लिए अध्यात्मिक, दार्शनिक दृष्टिकोण से अत्यन्त लोकप्रिय साहित्यिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को आदि काव्य तथा ग्रन्थकार बाल्मीकि को आदि कवि कहा जाता है। बाल्मीकि जी ने अपने इस ग्रन्थ में विभिन्न परिस्थितियों में अपने पात्रों के विवरण के साथ उस काल समय की सास्कृतिक, संस्कृति और सामाजिक विषयों पर भी विशेष प्रभाव डाला है। बाल्मीकि ने अपने वर्णन में ऐसा गंभीर और वास्तविकता से युक्त प्रभावकारी वर्णन किया है -

1- भयं भीताद् हि जायते। रामायण 2-8-5

2- समृद्धि युक्ता हि पुरूषा न सहन्ते परस्तवम् । रामायण 2-26-25

3- अनिर्वेद. श्रियोमूलम् अनिर्वेद· परं सुखम् ।
अनिर्वेदो हिसतंव सर्वार्थेषु प्रवर्तक ।। रा0 5-12-10

4- सुलभा पुरूषा राजन् सतत प्रियवदिन ।
अद्रिपस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता चदुर्लभः ।। रा0 3-36-2

5- उत्साहवन्तः पुरूषा नावसीदन्ति कर्मसु । रा0 4-1-122

वे मनुष्य को भौतिक और अध्यात्मिक उन्नति का मार्ग की शिक्षा देती हैं। किस प्रकार अत्यधिक धन लिप्सा मनुष्य के जीवन को नष्ट कर देती है यह कैकेयी और बालि के जीवन से स्पष्ट है बाल्मीकि ने जीवन अध्यात्मिक पवित्रता बहुत बल दिया। उमेश जोशी के अनुसार रामायण काल में सम्पूर्ण समाज संगीत की पावन एवं दिव्य आभाछिटक रही थी, इस काल का संगीत अपनी आत्म-सौन्दर्य विकसित

होने लगा - लोगों के जीवन में सागर के समान अथाह गहराई आती जा रही थी और यह सब दैवी संगीत की अटूट साधना का प्रतिफल था। प्रत्येक व्यक्ति सुख-शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा था। संगीत ने लोगों की रूचियों को उनके स्वभाव को अत्यन्त प्रभावित धार्मिक और अध्यात्मिक बना दिया था। वैदिक काल की तरह इस काल में भी हर गृह में प्रातःकाल होते ही ईश्वर आराधना की संगीतमय स्तुति प्रस्फुटित हो उठती थी। इस काल में सार्वजनिक रूप से समाज में संगीत के आयोजन हुआ करते थे। वीणा तथा मृदंग आदि वाद्य यन्त्रों का वादन किया गया था। स्त्रीयां आनन्द विभोर होकर नृत्य करती थीं। चौदह वर्ष का बनवास काटकर पुनः अयोध्या लौटे तो उस समय अयोध्या नगरी अपने पूरे उल्लास हर वर्ग के स्त्री-पुरूष संगीत नृत्य में झूम-झूम कर आनन्द विभोर होकर नृत्य कर अपनी आत्मिक उल्लास और प्रसन्नता को प्रकट किया।

इस काल का महान नायक रावण स्वयं सर्वगुण सम्पन्न शिक्षा और विद्वता की दृष्टि से था।

रावण वेदों का विद्वान और टीकाकार थे। तमिल ग्रन्थों के अनुसार रावण अश्त्र-शस्त्र के ज्ञान के साथ-साथ महान संगीतज्ञ भी था। वह स्वर सहित वेद पाठ करते थे भगवान शंकर की आराधना सामवेद के स्त्रोतों का सगीतमय पाठन करके करता था।

अशोक वाटिका में सीता के समीप जाते हुए रावण वैदिक मंत्रो का घोष करता था।

नर्मदा का तीर पर बालू की वेदी अध्यात्मिक दृष्टि कोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यहाँ शिव की मूर्ति स्थापित कर रावण ने सुगन्ध वाले पुष्पों से उसकी अर्चना वन्दना और नृत्य गान भी किया था।

ततः सतमविंहरं परं वरं

वर प्रदं चन्द्रमूखभूषणम् ।

सर्वर्चायित्वा स निशाचरोजगो

प्रसार्य हस्तान् प्रर्णनतं चाग्रित ।

बाल्मीकि आश्रम अपने धार्मिक अध्यात्मिक के महत्वपूर्णता के कारण सीता और उनके पुत्र लव और कुश को अत्यन्त ज्ञानी और धनुष विद्यता की सफल शिक्षा के साथ-साथ सगीत की शिक्षा मे भी दक्ष किया।

रामायण काल में संगीत के अध्यात्मिकता का विशेष महत्व था। स्वयं महर्षि बाल्मीकि संगीत के महान आचार्य थे।

महाभारत कालीन संगीत -

महाभारत दूसरा भारतीय ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसके रचयिता व्यास जी हैं। यह विश्व इतिहास का सबसे बड़ा महाकाव्य है। यह महाकाव्य 18 पर्व में विभक्त है, वे हैं - आदि, सभा, वन, विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्ति, अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रम वासिक, मोसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण। इसमें लगभग 14700 श्लोक हैं। हरिवंश को सम्मलित करने पर महाभारत में एक लाख श्लोक हैं।

महाभारत के पांडवों और कौरवों की कथा है। यह कथा अत्यन्त प्रचलित है, हमारे इस शोध में कथा के वर्णन की आवश्यकता नहीं है, केवल इस कला के धार्मिक, भौतिक और अध्यात्मिक महत्व के वर्णन की आवश्यकता है। महाभारत काल में मनुष्य जीवन के उद्देश्य स्वरूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुवर्ग की प्राप्ति की शिक्षा देता है। इसी आधार पर इसको 'पंचम वेद' कहा गया।

"भारत· पंचमो वेदः ।

महाभारत में तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक तथा स्थिति से संगीत कला के अत्यन्त विकसित स्वरूप का परिचय दिया गा।

इस काल संगीत के ज्ञाता श्रीकृष्ण जो महाभारत के मुख्य पात्र जो विश्व के सबसे बड़े बांसुरी वादक के रूप में जाने जाते हैं इनके बांसुरी वादन में इतना अध्यात्मिक प्रभाव था गोपियां पशु-पक्षी गाय आदि सभी इतने मगन हो जाते थे कि बाँसुरी सुनने से पहले वे क्या कार्य कर रहे होते हैं। उन्हें ध्याम नहीं रहता और वह खिंचे चले आते थे। इतना श्री कृष्ण के बांसुरी वादन में सम्मोहन था।

अर्जुन पखावज के प्रकाण्ड पण्डित थे, जिनकी यह संगीत विद्या अज्ञातवास में इनके बहुत काम आयी। महाभारत काल में साम एव गाथा-गायन का बहुधा उल्लेख मिलता है। ऋषियो और मुनियों के आश्रम सदैव साम एवं अन्य वेद-मन्त्रों के गायन से प्रतिध्वनित रहते हैं। साम-संगीत के अतिरिक्त विशिष्ट अवसरों पर आयोजित अनुष्ठानों मे धार्मिक संगीत का भी प्रयोग होता था। साम-संगीत के साथ-साथ लौकिक संगीत में भी धार्मिक नियमों और मर्यादाओं का निर्वचन गये रूप में होता था। महाभारत के अनेक अध्यायों में संगीत का उल्लेख मिलता है। महाभारत में वेदिक यज्ञों के अनुरूप राजसूय एवं अश्वमेघ यज्ञों का अनुष्ठान होता था। इस काल में वेणु, मृदग, शंख, झर्झर, आनख, गोमुख, प्रणव, तुरभेरी, घण्टा, पुष्कर, नूपुर, आडम्बर, पटह तन्त्रीयुक्त वीणाओं का प्रयोग होता था। आश्वमेघिकावर्प में षडजाति स्वरों की उत्पत्ति के विषय में दार्शनिक व्याख्या दी गई है 'त्रिविधं दुःखम्" तत्व समास का 22वाँ तथा अन्तिम सूत्र है। आध्यात्मिक, अधि देविक, अधि भौतिक इन तीनों प्रकार के दुःखों से जीवग्राम को बचाने के लिए आदि विद्वान ने इस तत्व को प्रकट किया। इनका विस्तृत वर्णन पुराण, महाभारत, सांख्यसुल तथा सांख्य कारि की टीकाओं में उपलब्ध होता है। ब्रह्मा पुराण में प्राकृतिक लय के विवेचन के पश्चात् आत्यन्तिक लय का निरूपण करते हुए इस प्रकार का हो गया है -

"अध्यात्मिकादि भो विप्रा ज्ञात्वा तापत्रयं बुधः ।
उत्पन्न ज्ञान वैराग्यः प्राप्नोत्यान्तिक लयम् ।।
अध्यात्मिकोऽपि द्विविध· शारीरो मानसस्तथा ।
शरीरो बहभिभेदर्मिद्यते श्रूयतां च सः ।।
मानसोऽपि द्विजश्रेष्ठास्तापो भवति नैकधा ।
मृगपक्षि नमुष्याद्यै· पिशचोरगराक्षसैः ।।
सरीसृपाद्येश्च नृणां जन्यते चाधि भौतिक ।
शीतोष्ण वात वर्षाम्बु वैद्युतादिसमुद्भव ।।
तापो दिजवरश्रेष्ठा कथ्यते चाधि दैविक· ।। ब्र0पु0 233/1-7

अर्थात् हे ब्राह्मण आध्यात्मिक आदि (अध्यात्मिक, अधिवैदिक, अधिभौतिकता) तीनों दुःखों को जानकर उत्पन्न हुए ज्ञान वैराग्य वाले ज्ञानी अत्यन्तिक लय को प्राप्त करते हैं।

अध्यात्मिक दुःख भी दो प्रकार का होता है, शारीरिक एवं मानसिक वह शरीर दुःख भेदों वाला सुना जाता है।

हे द्विजोत्तम! मानसिक दुःख भी अनेक प्रकार का होता है। मनुष्यों मे मृगपक्षी मनुष्यादि, पिशाच, पक्षी, राक्षस और सरीश्रृप आदि द्वारा आधिभौतिक दुःख पैदा होता है।

ठण्डी, गर्मी, वायु, वर्षा के जल, विद्युत आदि से उत्पन्न हुआ दुःख आधि द्वैविक कहलाता है।

महाभारत में संगीत के विभिन्न अध्यात्मिक आचार्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है -

तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरूतोऽथाश्विना तथा
आदित्या वसवो रूदास्तथा ब्रह्षयो मता
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुख नृपा. ।
तुम्बरूर्नारदश्चैव गन्धर्वो च हा हा हू हू ।
तन् सर्वान् स समागम्य विविधत कुरूनन्दन
ततो पश्यत् देवराज शतक्रतुमरिन्दम
विश्वासप्रभुतिभिर्गन्धर्वैस्तुतिवन्दिभि.
स्तूयमानं द्विजाग्रयैश्य ऋग्यंवुसामसभवै।

अश्वमेधिकावर्प में षड़जादि स्वरों की उत्पत्ति के विषय में दार्शनिक व्याख्याऍ दी गई है। उसका सभी परवर्ती संगीत शास्त्रियों ने अनुसरण किया है।

महाभारत के अनुसार -

"आकाशमुत्तमं भूतम् अहंकारस्तत् पर ।
अहंकारात्पराबुद्धि बुद्धेरात्मातत पर ।

अर्थात् सांगीतिक स्वरों का कारण केवल आत्मा है। महाभारत में सप्त स्वरों एवं गन्धार ग्राम का भी उल्लेख है। विद्वानों के अनुसार महाभारत काल में संगीत, धार्मिकता, पवित्रता तथा आध्यात्मिकता की दृष्टि से अपने उच्च शिखर पर जा पहुँचा था। डा0 सुनीत शर्मा के अनुसार 'महाभारत काल में संगीत कला का धार्मिक अनुष्ठानों में सहज प्रयोग किया जाता था। इस काल में संगीत सर्वथा विकसित और सुसम्पन्न था। महाभारत के दो प्रमुख नायक श्रीकृष्ण और अर्जुन जो संगीत के प्राकाण्ड पण्डित थे। श्रीकृष्ण जी को वंशी वाद का प्रवर्तक माना जाता है। और यही संगीत के निर्माता 'गीता' के रचयिता था, जो कि भारत की सर्वश्रेष्ठ उपदेश जनक ग्रन्थ मानी जाती

है। दर असल इस काल में संगीत अपने अध्यात्मिकता के कारण मानव-जीवन के विकासशील मानी गई।

पौराणिक युग -

पौराणिक युग के संगीत की स्थिति कैसी थी इसके बारे मे हमें विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती है। लेकिन माना जाता है कि समाज के अन्दर संगीत की स्थिति आदरणीय थी। लेकिन जितनी पवित्रता एवं निर्मलता वैदिक युग के समय के संगीत में थी उतनी इस युग में नहीं थी। "समन" संगीत उत्सव "समज्जा" का रूप ले लिया था "समज्जा द्वारा वर वधू एक-दूसरे को अपना जीवन साथी बनाते थे।

वायु पुराण में सात स्वर, तीन ग्राम, 21 मूर्च्छनाऐं, 4 तालें और इसके समदृष्टिगत स्वरूप "स्वर मण्डल" की विस्तृत आलोचना होती है। लेकिन फिर भी "मार्कण्डेय पुराण" में इस उपाख्यान में षड़जादि सात स्वरों, पांचव प्रकार के ग्रामों एवं चार प्रकार के पदों का परिचय प्राप्त होता है। वाद्य यंत्रो के रूप में वीणा, दर्दुर, पणवं, पुस्कर, मृदंग, देवदुन्दभि आदि का वर्णन मिलता है।

भारतीय परम्परा के अनुसार जय महाकाव्य के रचयिता व्यास के पिता पराशर को विष्णु पुराण का लेखक माना जाता है ईंष 17 पुराण के लेख व्यास जी माने जाते हैं। जो इस प्रकार है -

(1) ब्रह्मड़ (2) ब्रह्मवैवर्त (3) मार्कण्डेय (4) भविष्यपुराण (5) वामन पुराण (6) ब्रह्मा पुराण (7) विष्णु पुराण (8) नारद पुराण (9) भागवत पुराण (10) गरूण पुराण (11) पदम पुराण (12) वराह पुराण (13) मतस्य पुराण (14) कूर्म पुराण (15) लिंग पुराण (16) शिव पुराण (17) स्कन्ध पुराण (18) अग्नि पुराण। ये पुराण भारतीय काल के धार्मिक, सांस्कृतिक, अध्यात्मिक महत्त्वों का वर्णन करते और पौराणित काल के स्थिति के बारे में हमें विशेष ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

पाणिनी युग के संगीत -

पाणिनी को संस्कृत व्याकरण के महापण्डित माने जाते हैं। पाणिनी ने व्याकरण पर अष्टध्यायी नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रंथ से हमे भारतीय सगीत के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त है। मन्त्रों का उच्चारण करने की विधि बताई गई है। उच्चारण-स्वर कैसा होना चाहिए इसकी भी जानकारी दी गई है। पाणिनी काल मे संगीत शिक्षक ब्राह्मण वर्ग था, वे ही समाज को संगीत का ज्ञान कराते थे। सूत्रों और मंत्रों को याद करना आवश्यक माना जाता था। स्वर साधना पर विशेष ध्यान दिया जाता था जिससे की स्वर की मधुरता आन्तरिम सुषमा को अभिव्यक्त किया जा सके। यज्ञ हवन के समय संगीत का विशेष महत्व था। वीणा का प्रचलन था और वशी का भी प्रयोग इस काल मे होता था। संगीत चारों वर्णों में एक धारा संगीत की नहीं थी लोक संगीत का तेजी से विकास हो रहा था, ग्रामीण लोग जो कि शास्त्रीय संगीत के विशेष ज्ञाता नहीं थे, वे मनमाने ढंग से गाते-बजाते थे। ग्रामीणों में सम्पूर्ण धार्मिक पर्व पर संगीत द्वारा पूजन-अर्चन किया जाता था, जिससे सगीत अपने पूरे अध्यात्मिक विकास की ओर जा रहा था। अपने पुस्तक भ0सं0 के इति0 में उमेश जोशी जी ने संगीत की आध्यात्मिकता के विषय मे कुछ इस तरह के विचार व्यक्त किये हैं-

"संगीत पृष्ठभूमि को इतना मजबूत और व्यापक बना दिया था कि वह दिव्य संगीत अपनी आत्मिक ज्योति से महान से महान दार्शनिक, महान से महान कर्मनिष्ठ तथा महान से महान धर्मनिष्ठ को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल होता था। इस काल में भक्ति मार्ग एवं ज्ञान मार्ग दोनों ने मिलकर संगीत की पावनता की रश्मियों को पूर्ण ज्योतिर्मय कर दिया था।

बौद्ध एवं जैन युग का संगीत

बौद्ध व जैन धर्म में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

बौद्ध कला के समय का संगीत अपने चरमोत्कर्ष पर था। बुद्ध के निर्वाण प्राप्त किए आज लगभग ढाई हजार वर्ष हो चुके हैं, किन्तु सुदूर जापान से लेकर करोड़ों नर-नारी प्रात उठकर 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्ममं शरणं गच्छामि, सघ शरणं गच्छामि अर्थात् बुद्ध की शरण मे जाता हूँ, धर्म की शरण मे जाता हूँ, संघ की शरण में जाता हूँ, संगीत मय जाप करते हैं। बुद्ध भगवान अत्यन्त संवेदन-शील, चिन्तन-शील, धार्मिक और सांसारिक विपत्तियों का किस प्रकार नाश हो, इसके लिए सोचते रहते वे विलासिता पूर्ण जीवन से अत्यधिक नफरत करते हैं। उनके अन्दर तो एक ऐसा जीवन-संगीत प्रस्फुटित हो रहा था कि जिकसा मेल उस समय के सांसारिक वातावरण से मेल नहीं खाता था।

इस युग में संगीत का निर्माण मानव मात्र की भलाई एवं कल्याण के लिए हुआ। इस काल का संगीत मानव को अध्यात्मिक प्रकाश के किरणों को विश्व में अग्रसर किया गया। जिससे वह अपना यथार्थ रूप समझता गया और, मानव सृष्टि में क्यों आया इसका ज्ञान होने लगा और उसका लक्ष्य क्या भगवान बुद्ध ने बचपन में संगीत का विलासपूर्ण रूप देखा, जिसे उन्होंने धर्म के माध्यम से संगीत को एक दिव्य ज्योति दी और उसे पवित्र रूप में लोगों में प्रवाहित किया। वास्तव में यह युगत अध्यात्मिक संगीतोत्थान की नयी सुबह थी। इस युग के अध्यात्मिक संगीत के नये रूप के सुन्दर उद्यान में नये-नये रंग-बिरंगे फूल स्फुटित हैं। गायन वीणा पर चलता था। राग रागनियों का जन्म हो चुका था। सर्वसाधारण लोग भी शास्त्रीय संगीत के बारीकियों को समझने लगे थे। नृत्य करती हुई नारियां इस युग में प्रदर्शित की गई नारियों को नृत्य गीतों द्वारा भगवान बुद्ध की आदर पूर्वक आरती उतारती थीं। तथागत के अध्यात्मिक सौन्दर्य इतना था कि उनके सामने किसी भी प्रकार के बाहरी

सौन्दर्य का प्रभाव नि·शप्रभाव था। तथागत की अध्यात्मिक शक्ति बहुत ऊँची थी। स्वयं भगवान बुद्ध एक पुरूष से वार्तालाप में कहा कि - "भद्रे धर्म का मार्ग सबके लिए खुला हुआ है। संसार दु खाग्नि की ज्वाला से प्रज्ज्वलित हो रहा है। तुम अपने आत्मा का संगीत जगाओ। वह अध्यात्मिक संगीत ही विश्व कल्याणकारी होगा और वही आध्यात्मिक संगीत ही विश्व में एक नव प्रकाश का आर्विभाव करेगा। पथभ्रष्ट यात्री मार्ग पर चलने लगे तो उसका कल्याण निश्चय है।"

बौद्ध काल के समय सगीत की वैदिक तथा लौकिक दोनों पक्षों का प्रचलन था। शिक्षा बौद्ध को संगीत का उपयोग परमार्थिक तथा श्रृंगारिक दोनों कार्यों के लिये किया जाता था। बौद्ध संतो का संगीत वही था जो अध्यात्मिक साधना में बाधक न हो। बौद्ध बिहारों में संगीताराधना के लिए देवदासियों की नियुक्ति होती थी। सगीत के अन्तर्गत स्वर, ग्राम, मूर्च्छना के साथ रागों का प्रचलन हो चुका था।

सर मोनियर विलियम के अनुसार बुद्ध के मृत्यु के लिए समान्यतः 543 ई0पू0 का काल निश्चित है। मानव जाति के धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास में इस घटना का महत्वपूर्ण योगदान है। बिहार तथा पूर्वी हिन्दुस्तान में लगभग पाँच शताब्दी ई0पू0 बौद्ध धर्म का उदय हुआ और यह अत्यन्त वेग के साथ फैला है। मुस्लिम धर्म की भाँति किसी शस्त्रबल अथवा अन्य प्रकार के दबाव के कारण नहीं, अपितु अपनी सैद्धान्तिक प्रेरक शक्ति के बल पर इसका प्रयोग हुआ।"

महात्मा बुद्ध प्रतीकात्मक रूप भरहुत, बौद्ध, गया तथा सांची के भित्ती प्रस्तरों में खोदकर किया गया। बौद्ध साहित्य तथा धर्म का वर्णन पालि विपिटकों में किया गया। जिस प्रकार वेद-उपनिषद, ब्राह्मण आदि पवित्र धार्मिक ग्रन्थ माने जाते हैं। विपिटकों के अतिरिक्त इस काल में बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। यथा - 'ललित विस्तार' जो बुद्ध के जीवन का दिग्दर्शन करता है। 'मिलिन्द प्रश्न' ग्रीक राजा मिनान्डर एवं भिक्षु नागसेन से संबंधित प्रश्नोत्तर रूप में है।

डा0 सुनीता शर्मा कहा कि बौद्ध युग की कला एवं संस्कृति तथा कलाकृतियों में आर्य तथा द्रविड़ जातियों से ग्रहण की गई अध्यात्मिक परम्पराओं तथा ईष्ट देवों की पूजा-विधियो के ही पुनदर्शन होते हैं।

भरहुत और सांची में केवल बुद्ध-जीवन, जातक तथा उपासना का ही चित्रण नहीं हुआ है, आपेतु उसमें नृत्य तथा संगीत को भी पूर्ण स्थान मिला है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध युग में संगीत का इतना विकास हुआ जितना वैदिक युग के बाद किसी भी युग में संगीत का विकास नहीं हुआ। बौद्ध युग का संगीत जहाँ अपनी अध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि किया वह दूसरी तरफ वह इतनी अद्वितीय थी कि इस युग में संगीत कला का विकास भावात्मक, कलात्मक, सौन्दर्यात्मक, चेतनात्मक, रूपाकात्मक, तथ्यात्मक तथा रंगात्मक के रूप में हुआ। इसी लिए इस युग का संगीत अत्यन्त समृद्धिशाली रहा है।

जैन युग का संगीत -

जैन युग पहले से ही मानसिक अध्यात्मिक एवं कलात्मक क्रान्ति का युग था। इस युग के कई विद्वान जैसे फारस में जरथुष्ट, चीन में कन्फ्यूसियस ने विचारों में नई क्रान्ति प्रदान की। इस काल में विचार क्रान्ति का केन्द्र मगध था। सगीत जो केवल ब्राह्मणों का एकाधिकार था, इस युग में वह उसमें विफल हो चुका था और आम आदमी से लेकर अन्य वर्गों के लोग जो संगीत के अध्यात्मिक पवित्रता से दूर थे वो इसके महत्व को समझने लगे और भगवान की उपासना भक्ति अराधना, पूजन, अचर्वन, संगीत से करने लगे।

महाभारत के बाद देखा जाय तो भारतीय संगीत की आत्मिक स्तर कमजोर पड़ चुका था जो इस युग में सुदृढ़ करने की कोशिश की गई।

वैदिक अध्ययन क्रम के अन्र्तगत सामदेव तथा उसकी शिक्षाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक वाड्मय की उदात, अनुदात, स्वरित, वाली स्वरोच्चारण-प्रणालि जैन सुतों के पठन-पाठन में भी प्रचलित दिखाई देती है। स्वर के लिए घोष शब्द का प्रयोग होता था तथा सही अभ्यास वही माना जाता जो घोष विशुद्ध अध्ययन हो।

जैन ग्रन्थ में प्रमुख सुत रायापसेणीय तथा कल्पसूत्र में संगीत सम्बन्धी प्रचुर सामग्री पायी जाती हे। अनुयोद्वार सूत्र (लगभग ई0 ।) में स्वर, गीत, वाद्य, मूच्छंना आदि गन्धर्व के विषयों का सूत्रबद्ध विवरण पाया जाता है।

जैन धर्म का मुख्य दो प्रमुख धारायें मानी जाती है - श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र धारी) और दिगम्बर (आकाश रूपी वस्त्रधारी अर्थात् नग्न) जैन धर्म का सिद्धांत

नामक पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। जैन धर्म का प्रमुख उद्देश्य उन पवित्र आत्माओं के प्रति श्रद्धार्पण करना है। बौद्ध मत के तुल्य इस मत में आत्मा का नाश नहीं होता है, अपितु आत्मा आनन्दमय-स्वरूप को प्राप्त करना है। इस अवस्था को प्राप्त होने पर जीवन 'अर्हत्' कहते हैं ये 'अर्हत्' सर्वज्ञ होते हैं। उदाहरण हेतु-

"सवर्ज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलक्य प्रवित ।
यथास्थितार्थवादी चव देवोऽहन्परमेश्वरः ।।

जैन ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते और न वेदों को ज्ञान का आदि स्त्रोत आद्यनिश्चयलंकार मानते हैं। उनके मतानुसार तीन प्रमाण हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द जैन आचार्यों के ग्रन्थ के रूप में है। जैन मतावलम्बी के अनुसार स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं। अहिंसा-सिद्धांत के अपनाने से ही जैन धर्म का विशेष प्रचार हुआ। यह मत धर्म के नैतिक सिद्धान्तों पर जितना बल देता है, उतना विवेचनात्मक विषयों पर नहीं बौद्धों की अपेक्षा जैन ने संस्कृत साहित्य को अधिक देन दी है। जैन के काव्य सरल और सुन्दर है। इस काल में पदात्मक तथा राग-रागनियों में लिखित पदों में अध्यात्मिक भावान्विति समाविष्ट रहती है। इन कवियों ने श्रवपद को टेक की संज्ञा दी है। ध्रुव पद के द्वारा भक्ति, योग, अध्यात्म तथा संवेग की

मूलभूत भावना का पुनरावर्तन किया है। जैन काल में जब कोई व्यक्ति जिनत्व प्राप्त कर लेता था तो वातावरण संगीतमय हो जाता था और देवतागण भी प्रसन्न होकर संगीत-मग्न हो जाते थे।

जैन सूत्रों में संगीत का अनेक स्थानों पर वर्णन प्राप्त होता है। इनमें वर्णित 72 कलाओं में संगीत को समुचित स्थान दिया गया है।

"गायन्त्राणि व वायत्राणि व नच्चन्त्राणि"।काल्प सूत्र के पृ0 223 पर विभिन्न संगीत आचार सूत्र पृष्ठ ।।7 पर संगीत के तीनों अंगो का वर्णन है।

काल्प सूत्र के पृ0 223 पर विभिन्न संगीत वाद्यों का उल्लेख है -

नड नट्ट गणल्लमल्ल - ः सासगलखभंशलूण इल्लतुम्ववीणिय अणेग तालायराणु वीरथ करे ह.......

पदम्पुराण में मंगल गीतों से आकाश को गंजायमान कर देने का उल्लेख इन शब्दों में किया गया -

ततो मंगलगीतेन सुमदाना नमस्तलम् ।
तूर्यनादस्य विच्छेदे शब्दात्मकमिवाभवत् ।।

जैनाचार्य रविषेण-कृत पद्मपुराण के नवम पर्व में लंकाधिपति रावण के विषय में बताया गया है कि वह भगवान की भाव-भक्ति में इतना लीन हो गया था कि उसने अपनी भुजा की नाड़ी रूपी तंत्री खींच कर वीणा-वादन किया। सैकड़ों स्तुतियों के द्वारा उसने जिनराज का गुणगान किया। उनकी स्तुति करते हुए वह कह रहा था -

हे नाथ! आप देवों के देव हैं! लोक-अलोक को देखने वाले हैं। अपने अपने तेज से समस्त लोक को आक्रांत कर दिया है। आप कृत-कृत्य हैं, महात्मा हैं, तीनों लोक आपकी पूजा करते हैं, अपने मोह रूपी महाशत्रु को नष्ट कर दिया है-

जगद रावण साधो साधु गीतमिदं त्वया ।

जिनेन्द्रस्तुति सम्बद्ध रोहषकारणम् ।।

अर्थात् हे रावण! तुमने जिनेद्रवे की स्तुति से सम्बन्ध वह बहुत अच्छा गीत गाया। तुम्हारा वह गीत निश्चय ही रोमांच उत्पन्न करने वाला है।

पदम् पुराण के सत्रहवें सर्ग में आचार्य रविषेण लिखते हैं कि रावण के भक्ति भावपूर्ण संगीत से अभिभूत होकर देवाधिदेव अर्हन्त देव प्रसन्न हुए -

"गन्धर्वौ प्यवयोश्चक्रे सर्वत परिरक्षणम् ।

आतोद्य प्रत्यहं कुर्वन् काकण्याग्जिनभक्तित ।।

सम्पूर्ण जैन-साहित्य (महाकाव्य, पुराण, तन्त्र आदि) में संगीत सम्बन्धी व्यापक जानकारी उपलब्ध होती है।

अनुयोग-द्वारा (सं0 127, गाथा 1, 2 मे पशु-पक्षियों द्वारा संगीत के स्वरों की उत्पत्ति के साथ-साथ स्वर, ध्वनि, ग्राम, मूर्च्छना, तान आदि अन्य) सांगीतिक तत्वों का भी वर्णन किया है -

मग्गा कोरावया हारेय, रयणी अरारकता य ।

छट्ठी अ सारसी नाम सुद्धसज्जा य तत्मा ।

मज्झिमगामस्सणं सत्र मुच्छणाओं पण्णताओं ।

त जहां -

उत्तर मदारयणी उतरा सभा ।

समोक्कता य सोवीरा अभिरूवा होई सतमा ।

गन्धारगाम्मसणं सत्र मच्छणाओं पण्पताओं ।

त जहां -

नंदी अरतुड़िडया, अपूरिमाय चअत्थीअ सुद्धगन्धारा
उत्तरागन्धारा वि अ सा पंचमिपा हवई मुच्छा
सुद्धत्तरमायामा, सा छट्ठी सेवयों य णायण्मा
अह उत्तरायया केडिमा य सण सत्रमी मूच्छा ।

इसमें गीत को आकर्षक बनाने के लिए बताया गया है कि ऋषभ स्वर से गायन आरम्भ करने पर यश, कीर्ति, गन्धार स्वर से गायन आरम्भ करने पर विद्या एवं कलाओं में प्रवीणता, मध्यम स्वर से गीत आरम्भ करने पर सुख-शान्ति तथा पंचम स्वर से गीत आरम्भ करने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है।

जैन संस्कृति एवं समाज में मन्दिर, मठ, अथवा चैत्य आदि प्रतिष्ठान धर्म के साथ-साथ संगीत के भी मूलाधार रह हैं। जैन संस्कृति में वासना प्रधान संगीत पूर्णतया निषिद्ध माना गया है। संगीत का उद्देश्य केवल स्तुति स्त्रोत पूजा, अचर्ना, प्रतिष्ठा - कल्याणक, रथोत्सव, अष्टाहिनका आदि महोत्सवों के अवसर पर धार्मिक आयोजन में होता है। आज भी जैन मन्दिर में संगीतात्मक स्तोत्र एवं पूजा-पाठ में संगीत का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता है। संगीत भक्ति-विह्वल भक्त के हृदय की एक साधना है। संगीत में तनमयता, एकान्तता और एकात्मक की स्थिति पायी जाती है। डा० सुनीत शर्मा के अनुसार "भगवान के प्रति सर्वतोभावेन्" आत्म समर्पण और तन्मय होने के लिए संगीत का आश्रण लिया जाता रहा है। वृहत् स्वयंभू स्तोत्र से लेकर महाकवि वृन्दावन-कृत दुःखहरण और संकटहरण विनती तक सभी स्तवन और स्तुतियों में संगीत की रसपेशलता प्राप्त होती है। दृष्टाष्टक स्तोत्र में भक्तिभावना को प्रबुद्ध करने के लिए संगीत के पुट को आवश्यक माना गया है।

जैन धर्म मानने वाले लेखक जैसलमेर पाश्र्वन स्तवन में 1917 रागों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक राग एक-एक पद के अन्त में द्वयर्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है। प्रारम्भ में गायन-पद्धति की भी जानकारी दी गई है। लेखक ने 'जन स्तवनम्' एवं जिन गीतम् नाम से कतिपय अन्य जैन रचनाओं को दर्शाया है -

सुविधि जिन स्तवन - राग के दार
प्रभु तेरे गुण अनंत - अपार
सहस रसना करत सुर गुरू
कहत न आवै पार (पहरा)

कौन अंबर गिणै तारा मेरू गिर को भार

वचरम सागर लहरि भजा, कौन करता विचार (पहरा 2)

भवतिं गुण लवलेश मारतूं, सुविध जिन सुखकार ।

समय सुन्दर कहत हम कूं स्वामी तुम अधार (पहरा 3)

जैन संगीत पूरी तरह से अपने आप में धार्मिक, विचारों को समाहित किये हुये थी, यह संगीत अध्यात्मिक स्वरूप को आधार मानकर हजारो रचनाएं सगीत वृद्ध गेय रूप में गायी जाती है। भा0 ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित डा0 प्रेम सागर जैन का शोध प्रबन्ध विशेषत. दृष्टव्य है, जिसमें जैन-धर्म की संगीतबद्ध रचनाओं के साथ-साथ उनकी स्वरलिपियाँ भी दी गई हैं। जिन्हें प्रमुख उत्सवों और पर्वो पर गाया बजाया जाता है। जैन धर्मावलम्बी संगीत इसलिए भी अपने अन्दर अध्यात्म भाव को समेटे हुये था क्योंकि इनका मन सात्विक भाव को लिये हुये था। ये लोग, तपस्या, उपवास का सच्चा महत्व समझते थे, सयम जीवन के महत्व का ध्यान रखते थे। महावीर स्वामी के पावन उपदेशों ने मानव जीवन में महान क्रान्ति कर दी थी, उस क्रान्ति की विशाल नींव संगीत के आधार पर खड़ी थी। संगीत ने मानव जीवन में तत्व चिन्तन के दिव्य भावों को पर्याप्त मात्रा में प्रकट किया। इसी कारण संगीत का अध्यात्मिक द्रृष्टिकोण से अत्यन्त महत्व माना गया जो हमें भौतिक ऐश्वर्य के चमक की शून्यता का ज्ञान संगीत के द्वारा करता है। और मनुष्य के अस्तित्व का ज्ञान करता है।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के विकास में भक्ति भाव से अध्यात्मिक संगीत प्रणालियों को अपनाया संगीत में योग साधना, आदि का कठिन मार्ग अपनाया और सगीत के प्रेम, वात्सल्य भाव को भी सरलता से अपनाया इस प्रकार भारतीय संगीत के इतिहास पर विभिन्न सम्प्रदायों का विभिन्न युगों में अत्याधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। निजामुद्दीन औलिया, अमीर खुसरो के अध्यात्मिक गुरू एवं आदर्श रहे हैं। इनके सूफी संगीत के प्रभाव से असंख्य लोगों को पूर्णानन्द अवस्था को प्राप्त होने का वर्णन है। अमीर खुसरो ने संगीत के क्षेत्र में अनेक नवीन अविष्कार किये। अध्यात्मिक

रचनाओं में उनके द्वारा साहित्य, पहेली, मुकैरिया, सुखन अन्य अनेक राग-बद्ध रचनाएं शेरो-शायरी, कव्वाली, तराना, ख्याल आदि चत्कारमूलक के और गूढ़ार्थता के कारण लोकप्रिय है। सूफी काव्य साहित्य संगीत ने मुस्लिम कट्टरता और कठोरता को कम किया। आत्मा को परमात्मा से साक्षात्कार करने की भावना को संगीत के माध्यम से प्रचारित-प्रसारित किया।

भारतीय संगीत की यह विशेषता है कि वह साधारण लोक संगीत के ज्ञान से लेकर उच्चतम् संगीत के ज्ञान को प्रसारित करने में सहायक सिद्ध हुआ जहां एक ओर संगीत शास्त्र दर्शन से प्रभावित रहा और वहीं दूसरी ओर उपासना के संगीतिक गेय होने के कारण संगीत का सम्बन्ध अध्यात्मिकता स रहा। मोक्ष प्राप्ति या आत्मदर्शन के साधन के रूप में संगीत सर्वश्रेष्ठ सहायक सिद्ध हुई।

संगीत की मनोवैज्ञानिकता

संगीत ऐसी ललित कला है जो अपने सूक्ष्म अवयवों के माध्यम से पाँचो ललित कलाओं में सर्व श्रेष्ठ स्थान रहता है, वास्तव में जितनी भी कलायें हैं सबके द्वारा अलौकिक आनन्द की सृष्टी होती है। रसानुभूति हर एक कला का युग है। संगीत को भी ललित कला मानते हुए मन को शक्ति देने वाली आनन्द एवं प्रेरणा प्रदान करने वाली उच्च कोटि की कला की संज्ञा दी गई। यह जीवन प्राणदायनी गंगा है। ईश्वर का साक्षात्कार कराने वाली ब्रहम् सहोदर है। संगीत एक ईश्वरीय देन है, संगीत की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वर है।

मानव जीवन में भावनात्मक, क्रियात्मक तथा ज्ञानात्मक इस प्रकार तीन पक्ष हेगा। इनमें से खासकर भावनात्मक विकास में सबसी बड़ी सहायता संगीत की है। विश्व के इतिहास द्वारा भी हमें यह ज्ञात होता है कि समस्त जातियों में कला महत्वपूर्ण थान पर रही है। खेती में काम करता हुआ किसान थकान से चूर होकर पेड़ की छाया में बैठकर गुनगुनाने लगता है। इससे हम समझ सकते हैं कि संगीत मानव जीवन से कुछ अलग नहीं है। संगीत का क्षेत्र असीमित है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संगीत को स्वर्गीय सौन्दर्य का साकार रूप एवं सजीव प्रदर्शन माना है। प्राचीन काल के महान मुनियों ने भी इसका गुणगान किया है और यहां तक कि कह दिया -

"साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशु· पुच्छ विषाणहीनः"

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मानव जीवन ही संगीतमय है, पर उसका ज्ञान करने के लिये संगीत सीखने की उत्तर प्रणाली ढूंढकर उस प्रकार से संगीत शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

पृष्ठ 19, संगीत प्राविधि हाथरस।

कलाकार भाव प्रदर्शन है। वह अपने हृदय से आविभूर्त होने वाली उन भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। जो उसकी रागात्मक वृत्ति से संबंधित होती है। मन के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को हम ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक इन तीन भागों में बांट सकते हैं। इन तीनों पक्षों का समुचित विकास होता है, तब आदर्श व्यक्तित्व की निर्मिति होती है।

मानव मानव के बीच में जो रागात्मक सम्बन्ध है उसे संगीत के माध्यम से नित्य के व्यवहार में लाकर उसका अनुभव साधारण जनता को भी कराया जा सकता है। इसीलिए इसमें भाषा, राज्य, धर्म आदि विवाद खड़े नही होते हैं।

मनोवैज्ञानिकता - मनोविज्ञान की परिभाषा -

मनोविज्ञान का अर्थ है मन का विज्ञान अर्थात् मन के अन्दर की जो प्रेरणा मिलती है। उसे मन का गया है। हम जो भी कार्य करते हैं उससे पहले हमे आन्तरिक प्रेरणा मिलती है उसे मन कहा गया है। कोई भी कार्य करने से पूर्व हमारे मस्तिष्क में विचार आता है कि यह सहही है या गलत है। इसके पश्चात् मन को उसे देखकर प्रेरणा मिलती है। दोनों की आन्तरिक संघर्ष की स्थिति होती है, उसीके अनुसार हम व्यवहार करते है। विज्ञान में सभी बातें परफेक्ट होती हैं।

लेकिन मनोविज्ञान में ऐसी बात नहीं है हर व्यक्ति की अलग-अलग बुद्धि अलग-अलग मन होने के कारण वह अलग-अलग सोचने की क्रिया करते हैं। हर व्यक्ति बराबर नहीं होते, इसलिए सभी का व्यवहार भिन्न-भिन्न होता है। इसी कारण इसे कला के अन्तर्गत रखा गया है।

विज्ञान का अर्थ है सीमित विषय का व्यवस्थित अध्ययन। कोई भी अध्ययन केवल जिज्ञासा की शांति हेतु नहीं किया जाता। प्रत्येक ज्ञान का जीवन मे कुछ मूल्य होता है कुछ उपयेगिता होती है।

मनोविज्ञान क्या है -

मनोविज्ञान का अर्थ अनेक विद्वानों ने अलग-अलग दिया है, और यही कारण है कि मनोविज्ञान विकासशील और गतिशील है। वोल्फ नामक एक मनोवैज्ञानिक था, उसको शक्ति मनोवैज्ञानिक कहा जाता था। उसके अनुसार हमारे मन अथवा आत्मा मे इच्छा स्मरण तर्क आदि विभिन्न क्रिया की भिन्न-भिन्न शक्तियां हैं। इस शक्ति मनोविज्ञान को आजकल प्रयोगो द्वारा असिद्ध कर दिये है, जब हम इन शक्तियो का अभ्यास करते है, तो उसे मनोविज्ञान कहते हैं।

, जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुव्ट ने लीपझिग में पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की। इन्होंने प्रयोग करके मनोविज्ञान को विज्ञान के रूप में दर्शाया। अमेरिका, इंग्लैण्ड और युरोप के अन्य प्रगतिशील देशों ने भी वुव्ट के पास अपने मनोवैज्ञानिक भेजे और उन्होंने दीक्षा लेकर अपने-अपने देश जाकर 'वूव्ट' के अपनाये तरीकों से मनोविज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया। 'वूव्ट' के शिष्यों में 'टिचनर' और 'केटस' ने वूव्ट के बाद का काम पूरा किया।

19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में गाल्टन ने व्यक्तिगत अन्तर के मनोविज्ञान की सृष्टि की। उनके अनुसार दो व्यक्तियों के भावों में अन्तर हो वही मनोविज्ञान है। इसको कहते हैं। उसने स्मृति पर भी काम किया है। जिस पर सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम 'एर्बिवहॉस' ने किया। इस काल में विलियम जेम्स नामक मनोवैज्ञानिक ने लगभग मनोविज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है। बीसवीं शताब्दी में पैवलन नामक रूसी मनोवैज्ञानिक ने शरीर शास्त्र के प्रतिबद्ध अनुक्रिया के किए गए प्रयोग को मनोविज्ञान की इस दिशा में प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया। पैवलन के प्रभाव से इसी समय 'वॉटसन' मनोविज्ञान के क्षेत्र में मन अथवा चेतन शब्द मनोविज्ञान से निकाल देने का प्रस्ताव रखा।

संगीत और मनो0, डॉ0 शंकर लाल मिश्रा

संगीत संबंधी मनोविज्ञान का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है क्योंकि संगीत प्रदर्शन के समय प्रदर्शनकर्ता में अनेक प्रकार की चित्त-वृत्तियों, संवेगों और विचारों का होना स्वाभाविक है। साथ ही श्रोता में भी अनेक प्रकार की योग्यताओं और अभिरुचियों के पाए जाने का महत्व है इसलिए हम कह सकते हैं संगीत का मनोविज्ञान के अन्तर्गत मुख्यतः दो बातें आ सकती हैं - एक तो संगीत प्रदर्शन पर आधारित है। इस मनोविज्ञान को जानने के लिए आवश्यक है कि हम इस कला की विशेषताओं को भली प्रकार लिख सके, फिर उन्हें माप सके और साथ ही उनका उचित ढंग से विश्लेषण कर सके। हम यह जानते हैं कि संगीत उत्पत्ति ध्वनि तरंगो से होती है, और तरंगो में नाद की निम्नलिखित चार विशेषताएं प्रमुख हैं -

(1) नाद का ऊँचा-नीचापन (तारता)

(2) नाद का छोटा-बड़ापन (तीव्रता) उनाद की जाती-गुण

(3) नाद का काल

नाद की इन्हीं चार विशेषताओं से संगीत की रचना होती है जोकि कलाकार के संगीत प्रदर्शित होती है और अंत में वह श्रोता को प्रभावित करती है इनका अध्ययन किया जा सकता है जैसे कि तारता के स्थल रूपों का अध्ययन, ध्वनि तरंगो की कथन संख्या के आधार पर तीव्रता का अध्ययन, हेसीबल या फोन के आधार पर, नाद जातियों का अध्ययन, उपस्वरों के आधार पर किया जा सकता है। काल के मापने का अध्ययन स्वरों के काल के अनुसार रखने के आधार पर किया जा सकता है इससे स्पष्ट होता है कि संगीत से सम्बन्धित है, जैसे - नाद की विपुलता घनत्व या फैलाव किसी एक ध्वनि की तीव्रता को बढ़ाकर दूसरी ध्वनि को धीमा कर देना, ध्वनि की दिशा का ज्ञान, स्वरों का संवाद, ठाठो की स्वर की रचना अथवा लणे राज का चुनाव जिसके अन्तर्गत अनुभूति ध्यान, सहचर्य, स्वभावगत बातें, सीखना और स्मृति आदि। इनका अध्ययन भी वांछनीय है साथ ही संगीतज्ञ का चिंतन उसकी कल्पना, प्रेरणा, उसके संवेग, भाव चित्तवृत्ति, उसकी प्रतिभा तथा रचना करने की योग्यता और उसकी प्रतिभा तथा रचना करने की योग्यता और उसके महत्वपूर्ण प्रदर्शन की शैली आदि का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है।

इसके साथ ही संगीतज्ञ का संगीत संबंधी ज्ञान तथा शिक्षा जिसके अन्तर्गत आनुवांशिक या घरानेदारी से प्राप्त शिक्षा भी है। उसका स्वास्थ ध्वनि उत्पन्न करने की वाद्य-विशेष की क्षमता, संगीत प्रस्तुत करने का ढंग, संगीत की विधाओं, ध्रवपद, धमार, टप्पा, ठुमरी का ज्ञान सौन्दर्य शास्त्र के सिद्धान्तों एवं प्रस्तुत राग का शास्त्रीय ज्ञान, ताल अधिकार शब्दों का स्पष्ट उच्चारण और संगीतज्ञ की वेशभूषा आदि अनेक बातों का अध्ययन भी संगीत के मनोविज्ञान के लिए अपेक्षित है।

इसी प्रकार श्रोता के बारे में भी अध्ययन करना होगा कि जो संगीत उसके सामने प्रस्तुत किया जा रहा है उससे वह किस भाव को ग्रहण करता है जैसे कोई ताल देखता है तो कोई तैयारी कोई स्वरों की शुद्धता पर ध्यान देता है इसके अतिरिक्त श्रोता मे राग के सौन्दर्य व भाव को ग्रहण कर आनन्दित होने की कितनी क्षमता है। प्रारम्भ से मस्तिष्क से संबंधित प्राकृतिक ज्ञान तथा उसकी क्रिया प्रणाली का नाम ही मनोविज्ञान था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से इस शास्त्र का ज्ञान विस्तार पाने लगा। अब मनोविज्ञान का अर्थ मन के व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन करना है। इन्हीं कारणों से परिभाषाओं में कुछ-कुछ भेद हैं मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण करके जो कुछ निश्चय किया गया है उसे "आत्म चेतना" या "अंतारावलोक" की क्रिया कहते हैं और जब प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर उसका निरीक्षण किया जाता है तो उसे वाह्य विधि की क्रिया कहते हैं।

श्रावण शक्ति -

मनोविज्ञान का कार्य शारीरिक उत्तेजना अैर चेतना के प्रवाह के संबंध को स्थापित करना है। संगीत के क्षेत्र में हमें इस बात पर विचार करना है कि कंपन्न की वह कौन सी छोटी-से-छोटी उत्तेजना है, जो हमरी कर्णेपि को प्रभावित कर सकती है और इन कंपन्नों के कितने समय बाद हमारे मस्तिष्क पर उनका प्रभाव होता है। सुनी जा सकने वाली जो न्यूनतम आन्दोलन संख्या सीशोर ने बताई है, वह सोलह कंपन्न प्रति सेकेंड है पर कुछ लोग बीस सेकेंड प्रति सेकेण्ड से उत्पन्न

होने वाले वाद को भी नहीं सुन पाते। इसी प्रकार अधिकतम् आंदोलन की सुनी जा सकने वाली ध्वनि सोलह हजर से पच्चीस हजार तक माना गया है यह अंतर परिस्थितियों के करण हो जाता है। परन्तु यदि ध्वनि को सोलह से पच्चीस हजर तक माना गया है यह अन्तर परिस्थितियों के कारण हे जाता है। परन्तु यदि ध्वनि की तीव्रता को बढ़ाते चले जायं ते एक सीमा से ऊपर पहुँचकर वह कर्णकुट हो जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों का समय के विषय में यह मत है कि भिन्न ध्वनियाँ समझने के लिए अलग-अलग समझ लेती हैं ध्वनि के कर्णद्वीप के उस भाग तक पहुँचने के लिए जहाँ कि उसे भली प्रकार समझा जा सके लगभग 1/20 सेकेंड के काल की आवश्यकता होती है। सीशोर के मतानुसार 128 आंदलोन संख्यावली ध्वनि को 09 सेकेण्ड 256 आन्दोलन संख्या वाली ध्वनि के 04 सेकेण्ड और 512 आन्दोलन संख्या वाली ध्वनि को भी लगभग इतना ही समय उसके स्पष्ट सुने जाने के लिए आवश्यक है।

नाद का ऊँचा-नीचापन (तारता) -

जब हम ध्वनि की ऊँचाई-नीचाई का संबंध देखते हैं, तब उसे "स्वर" कहते हैं। भारतीय संगीत में यह संवाद तत्व पर आधारित है पर विज्ञान में इसे आन्दोलन संख्या के आधार से जाना जाता है। अतः हमें भी इसे यहाँ आंदोलन संख्या के आधार पर ही परखना अधिक उपयुक्त समझते हैं। आंदोलन-संख्या के आधार पर ही परखना अधिक उपयुक्त समझते हैं। स्वर का प्रभाव हमारी श्रावण शक्ति पर निर्भर है, जैसे कि यदि नाद को बहुत बड़ा कर दें तो स्वर के ऊँचे-नीचेपन में बहुत सूक्ष्म सा परिवर्तन हो जाता है, परन्तु यदि अति स्वरों में कुछ परिवर्तन कर दिया जाए तो नाद के ऊँचे-नीचेपर में बहुत अंतर हो जाता है।

जब एक नाद में अनेक अतिस्वरों का मिश्रण होता है, तब हम मूल आन्दोलन संख्या को मुख्य मानकर उस स्वर की तारता को निश्चित कर लेते हैं। साधरणतः इस अतिस्वरों तक को ही संगीतज्ञ सुन पाता है जिस प्रकार कानों में किसी

रोग, चोट या वृद्धावस्था के कारण श्रवण-शक्ति में अंतर आ जाता है, उसी प्रकार प्रौढ़ता प्राप्त होने पर अनुभव और अभ्यास से इस शक्ति को कुछ सुधारा भी जा सकता है।

संगीत में इष्ट स्वरों का संबध मिलाने का प्रकार जैसे (तानपूरे या सितार में जोड़ का तार) और दूसरा, षडज-पंचम षडज मध्यम या षडज गंधार भाव भी होता है, कुछ विद्वानों का अनुभव है कि एक मनुष्य साधारणत. 1,400 स्वरों की भिन्नता को सुन सकता है परंतु यदि इन स्वरों में नाद का छोटा-बड़ापन भी मिलादि पा जाए तो इनकी संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। स्वरों के ऊँचे-नीचेपर की पहचान की शक्ति को शिक्षा अभ्यास और अनुभव के द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है। कुछ व्यक्तियों में वह शक्ति बहुत कुछ अशो मे ईश्वर प्रदत्त भी हो सकती है।

नाद का छोटा-बड़ापन (तीव्रता) -

परीक्षणों द्वारा यह विदित हो चुका है कि नाद के छोटे-बडेपन के भौतिक कारण तीन है - (1) तीव्रता (2) आदोलन सख्या और (3) अतिस्वरो की बनावट कितु नाद का छोटा-बड़ापन आदोलन संख्या और अति स्वरों की बनावट के बजाए तीव्रता से तुरत प्रभावित हो जाता है। इस आधार पर साधारणतया यही विचार बना लिया गया है कि नाद का छोटा-बडापन केवल तीव्रता पर आधारित है। ध्वनि के छोटे-बड़ेपन को मापने की इकाई को डैसीवल कहते हैं। वैसे अब इसक लिए (फॉन) शब्द भी प्रयुक्त होने लगा है और इस आधार पर साधारण बातचीत की ध्वनि का क्षेत्र 60 से 70 फॉन के मध्य में रहते हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि यदि किसी वाद्यवृंद में वाद्यों संख्या बढ़ा दें तो नाद उसी अनुपात में बड़ा नहीं होता उदाहरण के लिए यदि एक बांसुरी से उत्पन्न नाद का ध्वनि स्तर 40 फॉन है, तो दो नाद उसी अनुपात में बड़ा नहीं होता उदाहरण के लिए यदि एक बांसुरी से उत्पन्न नाद का ध्वनि स्तर 40 फॉन है, तो दो बाँसुरियों को एक साथ बजाया जाए तो यह केवल 50 फॉन के लगभग ही हो सकेगा। यहाँ यह भी समझ

लेना युक्तिसंगत होगा कि नादात्मक ध्वनि उत्पन्न करती है जो ठीक से समझ में भी नहीं आता। वह केवल कोलाहल ही होता है, जो यदि कभी समझ में भी आ जाए तो भी कर्णकटु वो होता ही है। जब से ध्वनि बड़ी होगी, इसके विपरीत यदि यह कप-विस्तार कम है, तो नाद छोटा होगा।

नाद की जाति -

नाद की जाति के भौतिक रूप को (जो तरंग का एक रूप होता है) हम कुछ इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि य वह चीज है, जिसके द्वारा यदि एक ही ऊँचाई-नीचाई अैर छोटे-बडेपन के समान नादों को दो भिन्न पार्छो पर बजाए जाएं, तो हम उन्हें अलग-अलग पहचान सके। इसी के द्वारा हम नाद की ऊँचाई नीचाई और छोटे-बड़ेपन की ओर ध्यान दिये बिना भी यह बता सकते हैं कि यह ध्वनि किस वाछ की है। उदाहरण के लिए सितार या सरोद की ध्वनि को सरलता से पृथक - पृथक बताया जा सकता है।

नाद का काल या समय -

कोई नाद जितनी देर तक सुनाई देता है, उसे "नाद का समय" कहते हैं। स्वरों को संगीत मे लय के साथ रखने के लिए नाद के काल की आवश्यकता होती है। विद्वानों ने परीक्षणों द्वारा यह तथ्य पता कर लिया है कि जिन लोगों के कान संगीत सुनने के अभ्यस्थ हैं, उन्हें किसी एक नाद को सुनने के बाद दूसरे नाद को सुनने के लिए 0.1 सेकेण्ड के काल की आवश्यकता होती है। परन्तु जो लोग संगीत सुनने के अभ्यस्थ नहीं हैं, उन्हें यह समय 2 सेकेंड का लगता है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि कान की बनावट पर नाद के काल का यह अंतर निर्भर नहीं है।

नाद विपुलता -

इसे हम यों समझ सकते हैं कि ध्वनि की विपुलता ध्वनि का यह अध्यात्मिक गुण है, जो कि एक प्रकार से उसके विस्तार के अनुरूप है नीची ध्वनियाँ ऊँची

ध्वनियों से विपुलता के कुछ अधिक होती है। पर नाद के ऊँचे-नीचेपन पर ही नाद विपुलता निर्भर नहीं होती क्योंकि नाद के स्थित रहने पर भी उसकी तीव्रता के साथ-साथ नाद की विपुलता में भी अंतर होता रहता है। फिर थीप नाद के ऊँचे-नीचेपन को तथा तीव्रता के साथ-साथ नाद की जाति के बदलने के साथ-साथ नाद की विपुलता में भी अंतर होता रहता है। उदाहरण के लिए यदि दो ऐसी बाँसुरियों में जिसमें एक तो भारी और बड़ी है और दूसरी कुछ पतली और छोटी हो यदि एक ही कंपन्न संख्या के स्वर को उत्पन्न किया जाए, तो मोटी बाँसुरी के नाद में कुछ अधिक विपुलता प्रतीत होगी। इसी प्रकार छोटे काल के नाद में बड़े काल के नाद की अपेक्षा विपुलता कुछ कम होगी।

ध्वनि को छिपाना -

जब किसी एक ध्वनि के साथ ही किसी अन्य ध्वनि को उत्पन्न किया जाए और उनकी तीव्रता को इतना अधिक बढ़ा दिया जाए कि पहले वाली ध्वनि सुनाई न दे तो कहेंगे कि पहली ध्वनि को दूसरी ध्वनि ने छिपा लिया। साधारणत नीची तारता की ध्वनियाँ नीची तारता को छिपा नहीं पाती। ध्वनियों के इस प्रकार छिपाने का प्रभाव तब सबसे अधिक होता है, जबकि नीची और ऊँची ध्वनियां एक ही तारता की हों। किंतु एक नीचा नाद, बहुत ऊँची तारता के नाद को छिपाने में असमर्थ, होता है। उदाहरण के लिए, एक शहनाई के नाद की एक क्लारनेट छिपा सकती है परंतु उसके द्वारा एक छोटी बाँसुरी के बाद को छिपाना कठिन है।

ध्वनि के दिशा का ज्ञान -

जब हम दो कानों से सुनते हैं तो यह कैसे निर्णय कर पाते है कि ध्वनि कौन से दिशा की है ? इसके निर्णय का सिद्धान्त है- (1) ध्वनि की तीव्रता और (2) ध्वनि का परिवर्तन प्रथम सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि की तीव्रता जब दोनों कानों पर अपना प्रभाव डालती हैं कुछ कम तीव्र हो जाती है यह इसलिए कि सिर के दोनो ओर कान है। अतः ध्वनि जब सीधी कान पर नहीं पहुंच पाती किंतु ध्वनि

1- डा0 शंकर लाल मिश्र, मार्डन ट्रेण्ड्स, म्यूजिक एजूकेशन, पृ0 - 39.

के परिवर्तन के दूसरे सिद्धांत के अनुसार जब ध्वनि सीधी कान पर न आकर किसी कोण दिशा से आती है तो ध्वनि तरंगो का कोण भिन्न होता है। यही भिन्नता ध्वनि उत्पादक केंद्र का निर्णय कराती है। परंतु इस विषय पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

अब हम संगीत से संबंधित स्वरोत्तर ग्राम, लयुराग इत्यादि जैसी अन्य बातों पर भी उनके भौतिक रूप के अनुसार कुल विचार कर लेना उपयुक्त समझते है।

स्वरांतर -

जब तक किसी एक ध्वनि का किसी अन्य ध्वनि से संबंध न हो तब तक हम उसे संगीतात्मक ध्वनि नहीं कह सकता दूसरे शब्दों में जब ध्वनि के आधार पर हम अंतराल ग्राम लय राग इत्यादि का विचार करते हैं, तभी वे ध्वनिया संगीत के क्षेत्र में आती है जब हम इनके संबंध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते, तब हम यह जानना चाहते हैं कि जो अंतराल हमें कर्णप्रिय या कर्णकटु प्रतीत होता है, उनका क्या कारण है और वे इस प्रकार के क्यों प्रतीत होते हैं परंतु जब हम इन अंतरालों को सौंदर्य की दृष्टि से देखते हैं तब हमें यह क्यें देखना होता है कि रागों में सौंदर्य उत्पन्न करने की दृष्टि से इनका क्या महत्व है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अंतराल का महत्व किन्ही दो स्वरों की तारता से संबंधित है। इस तारता का महत्व भी तभी तक है जब तक कि हम यह देखते हैं कि राम में लगने वाले अन्य स्वरों का आपसी अंतराल मधुर और कर्णप्रिय भी बनता है, अथवा न हो। उदाहरण के लिए हम किसी राग विशेष में चाहे शुद्ध गंधार का प्रयोग करें चाहें कोमल गंधार का परंतु हमें ध्यान रखना होगा कि जोभी गंधार हम प्रयोग में लायें उससे संबंधित अन्य स्वर ऐसे होने चाहिए जो सुनने में मधुर लगे उसे गंधार के साथ संवाद करने वाले हों।

इस आधार पर यह समझना चाहिए कि "अंतराल" शब्द केवल ध्वनि की तारता के अंतर का पर्यायवाची नहीं है यद्यपि इसमें तारता का संबंध होना आवश्यक है। जब आप किसी राग में लगने वाले स्वरों को साधारण दृष्टि से संपर्क अर्थात मेल में देखें तो भले ही कुछ उल्टे-पुल्टे-सीधे व एक-दूसरे से असंबधित दिखाई दे परन्तु ध्यान से देखने पर प्रतीत होगा कि प्रत्येक स्वर का उसके आगे या पीछे के स्वरों से संवाद है।

ग्राम -

जब संपर्क के स्वरों को एक विशेष स्वर-संवाद में व्यवस्थिता क्रम मे रखते हैं, तब उसे 'ग्राम' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार ग्राम की रचना का आधार भी कुछ ऐसे अतराल ही है जो एक के बाद एक आते हैं। इन ग्रामों की उत्पत्ति का मनोवैज्ञानिक आधार इंद्रियजन्य ज्ञान ही है। दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण यह भी हो सकता है कि जब हम किसी ध्वनि को सुनते हैं तब उसकी कुछ चौडाई भी होती है। अर्थात् उसकी सीमा के अंतर्गत यदि उस ध्वनि के आदोलन मे ऐसा सूक्ष्म परिवर्तन कर दिया जाए कि तारता में विशेष अंतर प्रतीत न हो तो यह भी एक अंतराल हो जाएगा। तीसरे अंतराल के गुण पर भी ग्राम की रचना होती है भले ही वह नवीन स्वर सुनने में कुछ बेसुरा ही प्रतीत क्यों न हो। उदाहरण के लिए, जब मध्यम ग्राम में पंचम का षडज के साथ संवाद देखेंगे तो ठीक प्रतीत नहीं होगा, परंतु प्रयोग में आने पर वही मधुर प्रतीत होगा। फिर, प्रकृति ने हमें जो तारता और अंतराल ग्रहण करने की शक्ति दी है उसका आधार पर भी ग्राम की रचना संभव है। इन सब बातों के अतिरिक्त हम जिस वातावरण में रहते हैं और जिन लोगों के मध्य में रहते हैं, उनके सम्पर्क और हमारे स्वभावों से भी ग्राम की रचना पर कुछ प्रभाव होना संभव है। कुछ हो, ग्राम के अंतर्गत स्वरों की स्थिति का कार्य राग में सौंदर्य वृद्धि करना ही है।

लय -

जब ध्वनि की तारता, तीव्रता, जाति या गुण और नाद के काल के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि उसमें गति भी उत्पन्न हो जाए तो उसे 'लय' कहते हैं, जो विलंबित मध्य और द्रुत गति की हो सकती है। किसी राग विशेष में जब एक स्वर को अन्य स्वरों के साथ इस प्रकार से मिलाएं कि उनमें गति उत्पन्न हो जाए तो उसे 'लय' की संज्ञा दे देंगे। यदि एक ही स्वर को कई बार बजाएँ तो वह ऐसा ही प्रतीत होगा, जैसे एक लँगड़ा व्यक्ति एक पैर से एक ही स्थान पर ऊपर-नीचे कूद रहा हो। परंतु जब अनेक स्वरों को किसी लय में प्रस्तुत किया जाता है तो उनमें एक प्रकार की उत्तम झूलती हुई अथवा कूदती हुई सी या भ्रमयुक्त अथवा विचार-शून्य छलांगे जैसी या कृतिम जल-प्रणातों आदि जैसी गतियों का भान होता है।

लय पर विद्वानों द्वारा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार हो ही चुका है, अत. यहाँ हम केवल यही कहना यथेष्ट समझते हैं कि लय का प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क और नाड़ियों पर विशेष रूप से पड़ता है। एक पाश्चात्य विद्वान के मतानुसार यह सरलता से कहा जा सकता है कि लय हमारे से पूर्ण शरीर के नाद के काल के ज्ञान से उसकी तीव्रता की दृष्टि से श्रवण शक्ति को प्रभावित करती है। इस प्रकार लय का प्रभाव संगीत के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ समझा जाना चाहिए।

राग -

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राग में लगने वाले स्वरों का पारस्परिक संबंध देखा जाता है। इसके अंतर्गत मनोविज्ञान की अनेक बातें जैसे संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, अनुभूति, ध्यान, साहचर्य, शैवी और स्मृति इत्यादि अनेक बातों का संबंध राग की रचना में देखा जाता है। इन बातों के अध्ययन से हम संगीत में सौन्दर्य के कारण और उसके अभ्यास के ढंग को भली भाँति समझ सकते हैं।

परंतु रागों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय हमें राग रचना की अंतराल, ग्राम लय, ताल आदि सरीखी अनेक बातों की अवहेलना नहीं करनी है। इस आधार पर यह का जा सकता है कि रागों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए कुछ ऐसे नियम नहीं बनाए जा सकते कि उनके अनुसार कार्य किया जाना आवश्यक हो। किंतु साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि रागों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय हमें उसे राग सौन्दर्य और संगीत शास्त्र के सिद्धांतों से पृथक रखना है, जिनका वर्णन इसे छोटे से लेख की सीमा से बाहर का विषय है।

संवाद - तत्व -

इसके पूर्व की संवाद या इष्ट स्वर और विवाद या अनिष्ट स्वर के भेद को स्पष्ट किया जाय, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इनकी परिभाषाए स्पष्ट कर दी जाएँ मानव शास्त्र और ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से संवाद अथवा विवाद-तत्व को सबसे सरल ढंग से स्वरों के कपनों के संबंध द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इस आधार पर जब दो समान कपानांक के स्वरों को एक साथ मिलाया जाएगा तो वह सबसे अधिक सुसंवाद होगा। कारण कि दोनो स्वरों के कंपन समान रूप से मिलते हुए आंदोलित होंगे इससे अगला सुसंवादी मेल मध्य षड़ज और तार षिड़ज का होगा। इसलिए सप्तक को । और 2 के आधार पर बताया जाता है। इसके विपरीत यदि "सा" के साथ शुद्ध त्रिषाद या कोमल ऋषभ को बजा दें तो वे सबसे अधिक विवादी तत्व के स्वर होंगे। इन्हीं सा ओर-सां-दोनो स्वरों के मध्य में अन्य अनेक स्वरों के ऐसे मेल होंगे जिन्हें अपूर्ण, सुसंवाद अथवा थोड़े विवादी की संज्ञा दी जा सकती है। इस सुसंवाद और विवाद तत्व के बीच में कहां रेखा खींचकर इन्हें पृथक किया जा सकता है, इसका उत्तर ध्वनि विज्ञान नहीं दे सकता। मानद मनोविज्ञान ने इसे स्पष्ट करते हुये यह कहा है कि जिन ध्वनियों का श्रवणेंद्रियों पर मधुर प्रभाव हो, वे सुसंवाद तत्व की ध्वनियां और जो ध्वनियां कर्णकटु प्रभाव उत्पन्न करें वे विवाद तत्व की ध्वनियां[3] हैं। पश्चात्य संगीत पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जो संवाद तत्व में परिवर्तित हो गया अथवा यह

कहिए कि किसी अन्य काल में उसकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। ऐसा होने पर यह नहीं हुआ कि कहीं विवाद तत्व के स्वर संवाद तत्व में परिणत हो गए हों वरन् यह परविर्तन लोगों की रुचि में परिवर्तन का ही सूचक है, हो सकता है कि श्रोताओं के विवाद तत्व के ही स्वरों में अधिकाधिक रुचि होने लगे और पाश्चात्य संगीतज्ञ भी अपनी रचनाओं में इन्हीं मेलों को अधिक स्थान देने लगें। पर विवाद तथ्य के स्वर रहेंगे सदैव कोमल, ऋशभ, शुद्ध निषाद और तीव्र मध्यम ही।

इस संवाद और विवाद तत्व की दृष्टि से यदि भारतीय संगीत को देखें तो विदित होगा कि भारतीयों ने इस तत्व को जब भी संगीत का जन्म हुआ होगा तभी से स्पष्ट रूप से उत्पन्न हुये माने जाते हैं। इसी विवाद तत्व की प्रियता की ओर संकेत करते हैं।

इसी बात को यदि थोड़ा और भी सूक्ष्म दृष्टि से भा0सं0 में खोजें तो विदित होगा कि जब तक स्वरित की भावना दृष्टि में रहती है, तभी तक ये स्वर विवाद तत्व को प्रदान करने वाले प्रतीत होते हैं, परन्तु इन्हीं पूर्वी, तोड़ी और मारवा ठाठ के रागों में स्वरों का पारस्परिक संबंध देखा जाए, तो उनमें पूर्वरूपेण संवाद तत्व के ही दर्शन होंगे। इसी संवाद-तत्व के ही दर्शन होंगे। इसी संवाद तत्व को सुगम बनाने के लिए भा0 संगीत में बारह स्वरों के स्थान पर बाइस श्रुतियों की स्थापना की गई थी।

चिंतन, कल्पना और प्रेरणा संगीत की रचनाओं में चिंतन, कल्पना और प्रेरणा का भी विशेष महत्व है। अत. अब तीनों पर भी कुछ विचार होना चाहिए-

चिंतन -

संगीत के लिए चिंतन करते समय व्यक्ति राग में लगने वाले स्वर, लय, ताल, गीत का साहित्य प्रयुक्त वाद्य आदि समस्या संबंधी सभी संभव सूचनाओं को संगृहीत करके रचना करता है। फिर उसमें आवश्यक परिवर्तन करता है, जिसमें 'प्रयत्न और अनुकूल' की क्रिया स्पष्टत. लक्षित होती है। उदाहरण के लिए आपने

अपने संगीत प्रदर्शन में कोई तिहाई लेने का प्रयत्न किया, परंतु तिहाई की समाप्ति पर प्रतीत हुआ कि तिहाई का अतिम चरण भूल से या तो कुछ बढ गया या कम हो गया।

कभी-कभी वह सगीत रचनात्मक क्रिया अचेतन रूप मे या स्पुरण के रूप मे भी प्रकट हो जाती है। एक मनोवैज्ञानिक तो विचारों के उत्पन्न होने अथवा प्रेरणा के सिद्धातों की स्थापना सामान्यत विचलित निरीक्षण के आधार पर करता है, किंतु एक सगीतज्ञ अपने स्पुरण प्रेरण या रचना को व्यक्तिगत मापदण्डो के आधार पर ही प्रस्तुत करता है।

वह अपनी प्रेरणा या कृति को मनोवैज्ञानिक के सिद्धान्तो के अनुसार स्थापित करने की अपेक्षा उसे व्यक्तिगत रूप देता है, अर्थात अपनी रचना को स्वय संचित ज्ञान के आधार पर प्रस्तुत करता है। इस प्रकार एक संगीतज्ञ के सिद्धांत की स्थापना उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों का स्पष्टीकरण है जबकि मनोवैज्ञानिक उसे सामूहिक अध्ययन के आधार पर करता है।

कल्पना -

कला के लिए कल्प ना अत्यत उपयोगी है। संगीत कला मे सगीतज्ञ कल्पना के द्वारा ऐसे काल्पनिक जगत् की दृष्टि करता है जिसमे उसकी सारी आकाक्षाए तृप्त हुई जान पड़ती है। संगीत का श्रोता भी कल्पना के द्वारा ही सगीतज्ञ के साथ तादात्म्य स्थापित करके अपनी कल्पना शक्ति पर निर्भर होता है। कल्पना के द्वारा ही संगीतज्ञ अपने अमूर्त विचारों को मूर्त रूप मे देने में समर्थ होता है। हिदुस्तानी संगीत के अन्तर्गत रागरागनियों के जो चित्र बने हैं इसी कल्पना तत्व के परिणामस्वरूप तैयार हो सके है।

प्रेरणा -

मानव व्यवहार के मूल में प्रेरक वृत्ति वर्तमान रहती है, जिससे अनुप्रेरित होकर ही प्राणी कोई कार्य करता है। इस प्रेरक वृत्ति से उस आतंरिक स्थिति

का वोध होता है, जो प्राणी मे क्रिया उत्पन्न करती तथा उस क्रिया को तब तक चालू रखती है, जब तक कि उसके लक्ष्य की पूर्ति न हो जाए। अल्फ्रेड ऐड्लर ने कहा है कि व्यक्ति के समस्त कार्यो का मूल कारण उसके भीतर 'मान प्रतिष्ठा' की भावना ही है। इसीलिए एक सगीतज्ञ भी पप्रतिष्ठा, प्रभुता शक्ति व नेतृत्व आदि प्राप्त करने के लिए क्रियाशील रहता है। यह प्रेरणा अभिरुचि पर विशेष रूप से निर्भर है।

संवेदन -

राग के सदर्भ मे जहां हमने मनोविज्ञान की अनेक बातों का जिक्र हमने मनोविज्ञान की अनेक बातो का जिक्र किया है, वही राग-रचना से अनेक बातो का संबध देखे जाने की बात कही है, जिसमे 'संवेदन' का भी नाम आया है। यो तो सवाद तत्व के अन्तर्गत भी सवेदना का संवाद प्रतिलक्षित होता है, पर उसे तो हमने केवल ईष्ट स्वर के अर्थ में ही लिया है, इसलिए यहां उस पर अलग से थोडा सा विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि 'संवेदन' मनोविज्ञान का एक प्रमुख स्तभ है।

प्रत्यक्षीकरण -

एक ऐसी मानसिक क्रिया है, जिसके द्वारा वातावरण में उपस्थित वस्तु तथा ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करने वाली परिस्थितियो का तात्कालिक ज्ञान प्राप्त होता है जब कोई उत्त्रेजना ज्ञान प्राप्त होता है, जब कोई उत्तेजना उपस्थित की जाती है, तब कोई विशेष ज्ञानेन्द्रिय उसे ग्रहण करती है। फलत वहाँ 4 विद्युत रासायनिक संक्षेभ उत्पन्न हो जाता है, जिसे समझने के लिए व्यवहारिक भाषा मे 'स्नायु-प्रवाह' कहते हैं। यह स्नायु प्रवाह ज्ञानवाही स्नायुयों द्वारा मस्तिष्क में जाता है। इसके मस्तिष्क में पहुंचते ही मनुष्य उस उत्तेजना के प्रति अपनी प्राथमिकता प्रतिक्रिया प्रकट करता है। इस प्रप्कार उत्तेजना के प्रति प्राथमिक प्रतिक्रिया को 'संवदेना' कहा जाता है। इस प्राथमिकता प्रतिक्रिया की विशेषता यह है कि इसके द्वारा मनुष्य को उस उत्तेजना का आभास मात्र होता है, उसका अर्थ ज्ञात नहीं होता। उदाहरण के लिए मनुष्य जब ध्वनि तरंगो को सुनता है तब उसे श्रवण-सवेदना होती है।

ये ध्वनि तरंगे कहां से आ रही हैं, किस वाद्य से निकल रही हैं - इत्यादि बातों की जब तक जानकारी नहीं होती तब तक इसे 'श्रवण-संवेदना' ही कहना उचित है। किन्तु जब मनुष्य इन बातों को समझ लेता है, तब उसे **'संवेदना'** न कहकर **'प्रत्यक्षीकरण'** की संज्ञा दी जाती है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त संगीत रचनाओं पर संवेग भाव और चित्तवृत्ति का भी प्रभाव पड़ता है, अत: अब इनपर भी कुछ विचारकर लेना उचित होगा।

संवेग -

मानव मन मे उपस्थित होने वाले भय, क्रोध और प्रेमी भाव जब स्थूल शरीर मे विकार उत्पन्न करे अथवा क्रियाओं के द्वारा स्पष्ट होने लगे, तो उन्हे संवेग कहा जाता है। हम प्राय लोगों की मुखाकृति, उनके स्वर तथा समान्य शारीरिक मुद्रा आदि के द्वारा उनके संवेग को समझने की चेष्टा करते है। अभिनय करते समय कोई अभिनेता यदि किसी संवेग जन्य क्रिया का अभिनय दिखाते समय स्वयं भी उस सवेग का अनुभव करने लगे, तो उसे सफल अभिनेता कहा जाता है। संगीत मे नृत्य के क्षेत्र मे तो इन संवेगों का विशेष महत्व है ही गायन और वादन के क्षेत्र मे भी संगीतज्ञो का प्रदर्शन के समय भिन्न-भिन्न प्रकार से हाथों आदि का चलाना अथवा श्रोताओं का ताल देते हुए हिलाना इन संवेगो के कारण ही होता है।

भाव -

मनोविज्ञान के क्षेत्र में सुख तथा दु ख की चेतन अनुभूति को "भाप" की सज्ञा दी जाती है। साहित्य मे भावों की अभिव्यक्ति प्रसन्नता, आश्चर्य, भय, आशा, करूणा आदि शब्दों द्वारा की जाती है। व्यक्ति को रुचिकर इंद्रिय-संवेदन से दु:ख के भाव की अनुभूति होती है। भाव मनुष्य की मानसिक स्थिति के द्योतक है, जो आंतरिक ही होती है वाह्य उत्तेजना अथवा वाह्य परिस्थिति से भाव की कोई परिलक्षणा नहीं होती। भाव की उत्पत्ति किसी विशेष अंग में

नहीं बतलाई जा सकती, प्रत्युत उसका प्रभाव सारे शरीर पर समान रूप से पड़ता है। वैसे, यह कहा जाता है कि अनुभवी लोग और या मुख मुद्रा को देखकर मनोभावों को पढ़ लेते हैं। किंतु भाव कोई स्थूत वस्तु नहीं होती। यह तो एक आंतरिक चेतन अनुभूति होती है। गायन रोगकाकु इस भाव को व्यक्त करता है। वाछ वादन में भी चाहे वह तत क्ति या अवन, किसी प्रकार का हो नाद के छोटे-बड़े पन से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है।

चित्त वृत्ति -

मन का अचानक ऐसा झुकाव, जिससे प्रेरणा या तो भंग हो या फिर झुकाव, जिसे प्रेरणा या तो भंग हो या फिर अधिक उत्प्रेरित हो जाए, 'चित्त वृत्ति' कहा जाता है। मनोभावों, संवेगों तथा वाह्य परिस्थिति व क्षणिक उत्तेजनाओं का च्त्तिवृत्ति पर प्रभाव तो अवश्य पड़ता है, परंतु कभी-कभी यह ज्ञात नहीं हो पाता कि किसी विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का कारण क्या है। जब मनुष्य उस विशिष्ट च्त्तिवृत्ति का कारण नहीं जान या बता पाता तो वह अपने मनोभावों को यह कहकर व्यक्त करता है कि अमुक समय उसकी कुछ ऐसी चित्तवृत्ति थी या है किसी संगीतज्ञ से कुछ गाने या बजाने को कहा जाए तो योग्यता व क्षमता होने पर भी वह अनुकूल या प्रतिकूल चित्तवृत्ति के अनुसार ही क्रमशः अच्छा या बुरा गा या बजा सकेगा।

संगीत में सीखने और स्मृति का भी अपना महत्त्व है। इसी प्रकार कुछ न कुछ थकान भी होती ही है। अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से यहाँ इन पर भी विचार करना आवश्यक है -

सीखना -

सीखने से मुख्य अभिप्राय संगीत संबंधी ज्ञान का उपार्जन कर उसे बार-बार प्रयोग में लाकर उसकी अनुभूति करना और उस अनुभव को अपनी स्मरण शक्ति के सहारे इस प्रकार हृदयभंग कर लेना है कि आवश्यकता पड़ने या इच्छा होने पर दुबारा उसी प्रकार करके दिखाया जा सके या कहकर बताया जा सके।

यह 'सीखना' या 'शिक्षा प्राप्त करना' आगे अभ्यास द्वारा संगीत के ज्ञान प्रवर्धन में भी सहायक होता है। इस प्रवर्धन के लिए 'स्मृति' का सहारा लेना आवश्यक है।

स्मृति -

संचित ज्ञान को समय पर पुनः ज्यों का त्यों कह सकता या कर दिखाना ही 'स्मृति' का कार्य है। वैसे तो स्मृति को प्रभु की देन भी कहा जा सकता है और कुछ अंश तक यह वंशानुगता भी हो सकता है, पर अभ्यास द्वारा स्मृति को सुधारा अवश्य जा सकता है। संगीत में तो अभ्यास द्वारा स्मृति को सुधारा अवश्य जा सकता है। संगीत में तो अभ्यास से स्मृति को बहुत ही सहायता मिलती है। कई बार ऐसा होता है कि किसी राग या गीत के स्वर 'स्मृति' में अर्थात याद नही आते, किन्तु वाद्य बजाते समय उस वाद्य पर अभ्यस्थ अगतियाँ अथवा गले द्वारा गुनगुनाई गई स्वर-लहरी राग के स्वर या गीत के बोलों को स्मृति-पटल पर लाकर स्पष्ट कर देती है।

थकान -

कामकाज से उत्पन्न होने वाले विविध प्रभावों को व्यक्त करने वाला एक व्यापक शब्द 'थकान' हो या लगातार किसी कार्य को करते रहने और विशेषतः उस समय जब उस कार्य का करना कार्य के करने की क्षमता से कुछ अधिक हो जाए तो थान होने लगती है। पर यह थकान कभी ध्वनि द्वारा भी उत्पन्न हो सकती है। जीवशास्त्र व मनोविज्ञान दोनो ही दृष्टियों से यह संगीतज्ञ के जानने की वस्तु है। यह थकान प्रायः तीन प्रकार की होती है- (1) नाड़ियों की, (2) संवेदी या बुद्धि की, (3) ध्यान का या सचेत रहने की। यदि एक प्रकार के ही कार्य को लगाता अधिक समय तक किया जाए तो नाड़ियों में शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। संगीत के क्षेत्र में शुवि के कार्य करने वाली नहियो को भले ही यह थान बेमालूम सी हो, पर होती अवश्य है। यदि ऐसा न होता तो संगीत सुनते-सुनते श्रोता को नींद क्यूं आ जाती। हो सकता है ऊब जाने के कारण ऐसा होता है, पर भी वो

एक प्रकार की थकान के कारण ही होता है। ध्यान देना भी थकान के भाव का द्योतक है। अधिक जानकारी के लिए इस विषय के अन्य ग्रंथ पढ़ने चाहिए। आप देखेंगे कि एक संगीतात्मक जितना प्रतिभाशाली उसकी संगीत रचना भी उतनी प्रभावशाली होगी, प्रतिभा का मनोविज्ञान से सीधा संबंध होने के कारण अब हमें पहले 'सांगीतिक प्रतिभा' पर विचार करेंगे उसके बाद कुछ अन्य बातों पर।

सांगीतिक प्रतिभा, उसकी माप तथा जॉच -

मनुष्य की उस विशेष योग्यता को जिसके आधार पर व 'सागीतिक प्रतिभा" कहा जा सकता है। इस प्रतिभा को जनने का आधार उस मनुष्य द्वारा की गई सांगीतिक रचना, उसके द्वारा किया गया सगीत प्रदर्शन अथवा किसी के सगीत को सुनकर उसके द्वारा की गई उसकी तथ्यातथ्य की व्याख्या आदि है।

यदि हम किसी की सगीत प्रतिभा की जॉच करना चाहे या उसे मापना चाहे वा इस बारे मे यही कहा जा सकता है कि पहले हमे उस व्यक्ति विशेष की 'उस योग्यता का ज्ञान प्राप्त करना होगा, जिसके द्वारा वह सगीत के माध्यम से इच्छित भाव का उत्पादन करने की क्षमता रखता हो। इस प्रकार मोटे तौर पर इस क्षेत्र में उसकी 'संगीत-संबधी योग्यता और ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता आती है। फिर इस योग्यता और क्षमता को जनने के लिए हमें व्यक्ति-विशेष के तीव्रता तथा नाद के काल से संबंधित ज्ञान एवं उसके द्वारा सृजन किए हुए संवाद-तत्व ज्ञान और उसकी स्मरण शक्ति का परिचय प्राप्त करना होगा। वैसे, अभ्यास के द्वारा इन समस्त शक्तियों को विकसित किया जा सकता है। इस आधार पर मनुष्य ज्यों-ज्यों अभ्यास की सहायता से इन शक्तियों की वृद्धि करता रहेगा, त्यों-त्यों उसकी संगीत संबधी प्रतिभा उन्नत होती चली जाएगी।

रचना -

स्वरों की सहायता से भावों की अभिव्यक्ति को 'संगीत रचना' कहते हैं, पर यह भावाभिव्यक्ति प्रेम धृवा, प्रसन्नता, दु:ख आदि भावों की अपेक्षा कहीं अधिक

सूक्ष्म है। भारतीय संगीत मनीषियों ने भिन्न-भिन्न राग-रागनियों की रचना करके यह कार्य कुछ सरल कर दिया है। यदि रचनाकार को राग-विशेष से उद्भूत भाव-विशेष का ज्ञान है, तो उसकी रचना के द्वारा इच्छित प्रभाव की उत्पत्ति संभव है।

रचनाकार के प्रायः तीन बातों का ध्यान रखना पड़ता है - (1) रचना करते समय राग के सिद्धान्तों का (2) विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न लयों का और (3) रचना के उपरांत उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव का। परन्तु यह सब होते हुए भी यह विषय इतना जटिल है कि इस पर कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

संगीत प्रदर्शन -

पाश्चात्य संगीत और भारतीय सगीत के प्रदर्शन मे बडा अंतर है। पाश्चात्य संगीतज्ञ तो किसी अन्य विद्वान की ऐसी रचना को, जिसमें उचित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इच्छित सशोधन कर दिए गए हैं, अपने वाह्य कंठ द्वारा प्रदर्शित करता है। इस प्रदर्शन में (यदि वह किसी वछवृंछ के अन्तर्गत है तो) उसे सबसे अधिकध्य उल्लिखित संगीत लिपि की ओर देना होता है, जिसके आधार पर वह रचना को प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही उसे उस निर्देशक की छड़ी का भी ध्यान रखना पड़ता है ताकि उसका अभ्यावदन भी उन सबके साथ-साथ चलता रहे। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य संगीतज्ञ के प्रदर्शन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कठिन है।

परन्तु एक भारतीय संगीतज्ञ का प्रदर्शन पाश्चात्य संगीतज्ञ की उपर्युक्त प्रदर्शन क्रिया से बिल्कुल भिन्न है। उसे श्रोताओं के समक्ष आकर 'कल्पना' का सहारा लेना पड़ता है। वह समयानुसार राग का चुनाव करता है। यदि समय की और अधिक ध्यान न भी दिया जाए, तब भी उसे श्रापेताओं का ध्यान तो रखना ही पड़ता है। वह कल्पना का सहारा लेकर आपाल प्रारंभ करता है। आलाप समाप्त करने के पश्चात् वह गत अथवा गीत प्रारंभ करता है, जो रटा हुआ होता है।

पुन वह कल्पना के सहारे गत या गीत का विस्तार अनेक प्रकार के बहलावो या तानों द्वारा करता है। साथ में ताल में महत्व को भी कम नहीं होने देता। इस प्रकार भारतीय संगीतज्ञ के प्रदर्शन में पहले सं संशोधित अंश कम और कल्पना के आधार पर सद्य.कल्पित संगीत अधिक होता है।

शैली -

यहाँ एक बात और ध्यान मे रखनी है कि कलाकार जिस तात्कालिक उद्भूत मंच पर बैठकर की गई कल्पना को अपनी समझता है, वह वस्तुत वैसी है नहीं। उस काल में आई हुई कल्पनाएँ उसके द्वारा किए गए पूर्व अभ्यास के कारण उसके द्वारा किए गए पूर्व अभ्यास के कारण उसके अंश्चेतन (अचेतन) मन में बहुत गहरी जम जाती है। प्रदर्शन के समय यद्यपि वह अपने उसी अचेतन मन में निर्देशों के अनुसार कल्पनाएँ कर रहा होता है, परंतु वह स्वयं भी इस भ्रम में रहता है कि ये उसके द्वारा उसी समय की गई नई कल्पनाएँ हैं। इसीलिए उसके संगीत-प्रदर्शन की कल्पनाएँ प्राय. समान सी ही रहती हैं और यही उसकी शैली बन जाती है। शैली वास्तव में प्रदर्शन का एक ढंग है, जिसका अच्छा या बुरा होना श्रोताओं की अभिरूचि पर बहुत कुछ निर्भर है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यदि संगीतकार पर प्रदर्शन से पूर्व क्रोध, घृणा, दृष्य, लोभ अथवा अहंकार जैसी निम्न भावनाओं का प्रभाव हो जाता है, तो उसकी कल्पना भी निम्न कोटि की होगी और वांछित श्रेष्ठ प्रभाव न उत्पन्न कर सकेगी। इसके विपरीत, यदि प्रदर्शन से पूर्व वह उक्त क्रोधादिक मनोविकारों से मुक्त होगा, तो हो सकता है कि उसका प्रदर्शन श्रोताओं की आशा से भी अधिक सफल हो जाए।

श्रोता और उस पर संगीत का प्रभाव -

प्रदर्शनकर्ता सगीतकार भिन्न-भिन्न स्तर के श्रोताओ पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त, एक अच्छे कलाकार मे भाव पक्ष तथा कला पक्ष दोनो ही का यथेष्ट सम्मिश्रण होता है, अतएव श्रोता जितना

अच्छा कला मर्मज्ञ होगा वह उस कलाकार की कृति से उतने ही अधिक आनद की अनुभूति कर सकेगा। ये कला मर्मज्ञ न केवल राग में प्रयुक्त होने वाले स्वर, उनके विभिन्न मेल, भिन्न-भिन्न गमको तथा लटाकारियों अनेक प्रकार की तानों तथा सम पर मिलने वालो मुखड़ों और विहाइयों की और ही बारीकी से ध्यान देंगे बल्कि कलाकार की लयकारी और रागबारी परभी सूक्ष्म दृष्टि रखेंगे। इस प्रकार उक्त समस्त बातों में से जितनी बातें श्रोता जानता है उसी अनुपात में वह संगीत रचना से आनंद प्राप्त करता है।

अब यदि ऊपर की बातों को ध्यान में रखते हुए आप श्रोता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें तो यह बड़ा कठिन कार्य होगा।

संगीत का प्रभाव -

संगीत के प्रभाव के विषय में कोई मनोवैज्ञानिक तर्क नही दिया जा सकता। इसका कारण यह है कि संगीत का प्रभाव केलव मनुष्य पर ही नहीं अपितु समस्त जीप जन्तु एवं वनस्पति जगत पर पड़ता है। यह बात दूसरी है कि हम उस प्रभाव को तुरंत देख या समझ न सकें। उदाहरण के लिए यदि आप प्रकृति को तनिक ध्यान से देखें तो आपको यह आसानी से पता चल जाएगा कि मनुष्य-मन जिस प्रकार सूर्योदय या सूर्यास्त के दृश्य प्रतिदिन अनुभूत करता है। बहुत कुछ उसी प्रकार अनेक पशु पक्षी ही नहीं वरन् समस्त वनस्पति वर्ग भी अनुभूति करता है। हो सकता है कि मानव के अनुभव की अनुभूति में किसी भ्रम के कारण कभी कोई परिवर्तन या त्रुटि हो जाए किंतु प्रकृति के अन्य जीवों में और वनस्पति वर्ग जिसे हम जड़ की संज्ञा देते हैं, में सामान्यतः को परिवर्तन या त्रुटि नहीं होती।

उदाहरण के लिए सूर्योदय के समय सूर्योदय का आभास मात्र से चाहे फिर सूर्य बादलों से ढ़का क्यों न रहे - पक्षी चहचहाकर और सूर्यास्त के समय शांतिपूर्वक अपने नीड़ो की ओर प्रस्थान कर अपनी अनुभूति का परिचय देते हैं। इसी प्रकार सूर्यमुखी प्रभति पुष्प सूर्योदय के समय खिलकर रात्रि को बंद हो जाता है और रजनीगंधा जैसे पुष्प केवल रात्री में ही खिलते हैं। छुई-मुई का पौधा मानव के स्पर्श होते

पत्तों को सिकोड़ लेता है। आँवले का पत्ता सूर्यास्त होते ही अपने पत्तों को आपस में सटा लेता है। अब तो विज्ञान की उन्नति कर लेने से हहमारे लिए यह जान लेने से भी संभव हो गया है कि पौधों पर संगीत का यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। संगीत सुनने वाले पौधों की बढ़वार की अपेक्षा संगीत न सुनने वाले को पौधों की ज्यादा है। यह सब लिखने का तात्पर्य यही है कि वह सब क्यों और कैसे होता है। इस बात का विश्लेषण करने से पूर्व यह स्पष्टत: समझ में आ जाए कि ध्वनि-तरंगो जो वायु के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते हैं, का प्रभाव उन समस्त स्थानों पर समान रूप में होता है, जिन्हें कि वे स्पर्श करती हुई हाती है।

अब संगीत का प्रभाव क्यों और कैसे होता है, इसे समझने से पूर्व संगीत की परिभाषा जाननी होगी, स्वरों की उस लययुक्त रचना को 'संगीत' कहते हैं जो चित्त को प्रसन्नता प्रदान करें, नियमित आन्दोलन वाली ही ध्वनि 'स्वर' है और नाद का काल उसकी 'लय' । कोई भी नाद बिना काल के तो उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए संगीत के प्रभाव उत्पन्न करने वाली जो विचारणीय वस्तु रह गई है वह है स्वर का नियमित आन्दोलन वाली संख्याओं की नाद लहरें एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाएगी तो जहाँ-जहाँ वे स्पर्श करेंगी उन सब स्थानों पर नियमित अर्थात नियम के अंर्तगत होने वाले आंदोलन का ही प्रभाव पड़ेगा। नियमित आंदोलन का प्रभाव उन अनियमित आंदोलन से भिन्न होगा, जो किसी सेवक के अन्तर्गत न होने से अस्तव्यस्त सा प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि नियमित आंदोलन की ध्वनि तरंगो का प्रभाव जीव मात्र पर उनकी प्रकृति के अनुरूप होगा अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रिय होगा तथा अनियमित आंदोलन की ध्वनि-तरंगो का प्रभाव प्रतिकूल होगा अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अप्रिय होगा। इस आधार पर वह नि:संकोच कहा जा सकता है कि संगीत का प्रभाव प्रत्येक प्राणी (जीव मात्र) पर अवश्य ही होता है। यह दूसरी बात है कि हम उस प्रभाव को स्पष्ट रूप में समझ पाए या न पाए।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संगीत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व संगीतकार के मन की अनुभूति के अनुसार उसकी अभिव्यक्ति और फिर उससे श्रोता के मन में होने वाली भावनुभूति ही है।

संगीत का मन पर प्रभाव -

जब मन और सगीत के बारे में विचार करते है, तो मन को अग्रजी मे माइन्ड कहते है जिसको हमें कई अर्थ मे लेते है जैसे स्मरण शक्ति, लक्ष्य ध्येय, ध्यान देना, याद रखना, चित्त लगाना और मे विचार से देखा जाय तो चित्त प्रसन्न हुए नि कभी स्थिर नही हो सकता क्योंकि भाष्टाकार कहते है, तभ्यामनस स्थिति को संपादन करें और विज्ञान भिक्षु कहते "आभ्यामापि चितस्यकुर्यात् अर्थात् इन प्रच्छदर्न तथा विधारण के द्वरा चित्त प्रसादन करे। इससे स्पष्ट ही भाष्य विरोध प्रतीत होता है। और विचार दृष्टि से देखा जाय तो प्राणायाम चित्त प्रसाद का हेतु नहीं किन्तु चित्तस्थिरता का हेतु है क्योंकि मन की गति प्राण की गति के आधीन है। प्राणयाम से जब प्राण की गति श्रमित होकर निरूद्ध होती है तब मन की गति भी (चित्तवृत्ति) निरूद्ध हो जाती है यह अनुभव सिद्ध है। अत उक्त प्राणयाम चित्त स्थिति का ही हेतु है।

मन पर प्रभाव हेतु डा0 'शपेन हॉवर' कहते है केवल सगीत ही ऐसी कला है, जो श्रोताओं से सीधा सबध रखती है। उसके लिए किसी प्रकार के 'माध्यम' की जरूरत नही होती।'

उदाहरण के लिए जब सितर कहते है तो सितार "ऑख सामने चित्रित हो जाता है उससे निकलने वाली ध्वनि अनुभव से काल्पनिक आनन्द भी लेने लगते हैं।

डा0 वी0एच0 शर्मा के अनुसार सगीत में हम मन और व्यवहार का अध्ययन करते हैं। अत मन क्या है। मन की विभिन्न स्थितियां क्या हैं। तथा मन का कार्य क्या है। वह बताने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उसके साथ ही सगीत का उदगम् स्थल भी मन ही है। और मन की जो विभिन्न अवस्थाऍ है जो मन के कार्य है, उनका संगीत से क्या सम्बन्ध है।

संगीत शिक्षण और मंच प्रदर्शन मे मन का काफी प्रभाव पडता है।

1- डा0 वी0एच0 शर्मा, मनोविज्ञान का संगीत से सम्बन्ध, पृ0 - 111.

मा0 मनोविज्ञान में मानव व्यवार पर नहीं बल्कि मानव मन पर विशेष रूप से विचार किया गया है, तथा "मानस" शब्द का प्रयोग यंत्र के रूप मे किया है। भाषा की दृष्टि से मानस का अर्थ मन, हृदय, समक्ष, प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रज्ञा आदि के अर्थ मे लिया गया है। अनेक साहित्य रचनाओ मे मन शब्द को सोच-विचार, कल्पना, प्रत्यक्ष-योजना प्रयोजन, अभिप्राय संकल्प कामना, इच्छा, रूधि विचार-विमर्श आदि के अर्थों में प्रयोग हुआ है। मा0 मनोविज्ञान मे मन की प्रकृति का अधिकार विश्लेषण उसको नियत्रित अथवा अनुशसित करने के उपयोग की विवेचना के प्रसग में दिया गया है। मा0 मनो0 के अनुसार अवधान मन का विशेष लक्षण है तथा उनके अनुसार मन की निम्नलिखित अवस्थाए बतलाई गई है। रामनाथ शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक "भारतीय मनोविज्ञान" से उदधृत है -

(1) **मुढ़** - जो मन मिथ्या दृष्टि और मिथ्या आचार से व्याप्त होता उसे मुढ कहा जाता है।

(2) **विक्षिप्त** - जो मन इधर-उधर विचरण करता रहता है और किसी एक विधा पर स्थिर हो सकता है विक्षिप्त कहा जाता है।

(3) **यातायात** - जो मन कभी अन्तर्मुखी और कभी बहुमुखी होता है उसे यातायात कहा जाता है।

(4) **शिलिष्ट** - ध्येय मे स्थिर बने हुये मन की शिलिष्ट कहा जाता है। यह उक्त निरीक्षण के अभ्यास का परिणाम है।

(5) **सुलीन** - अपने ध्येय में सुस्थिर मन सुलीन कहलाता है। शिलिष्ट कहलाता है। शिलिष्ट दशा के समान मन को यह अवस्था भी परिपनय अभ्यास वाले योगियों में होती है। मनोविज्ञान में मन की तीन अवस्थाए है - चेतनावस्था, अचेतनावस्था, अवचेतनावस्था।

1- **चेतनावस्था** -

चेतन मन का अस्तित्व वर्तमान स्थिति पर आधारित होता है। जब हहम कुछ सीख रहे होते हैं तो हमारा चेतन मन ही सक्रिय होकर क्रिया विशेष को ग्रहण करने में सायक होता है। मन की कुल शक्ति का दस प्रतिशत ही चेतन मन के साथ है।

2- **अवचेतनावस्था -**

यह मन की सबसे सक्रिय एव महत्त्वपूर्ण अवस्था है। मन की शक्ति का नब्बे प्रतिशत हिस्सा अवचेतन मन के पास है किसी क्रिया विशेष का सीख लेने पश्चात् वह अवचेतन मन के पास चली जाती और जरूरत पडने पर वह पुन अवचेतन मन अभिव्यक्त करता है। यह अवचेतन मन ही मानव की समस्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं का केन्द्र कहा जाता है।

3- **अचेतनावस्था -**

यह मन की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति किसी क्रिया विशेष के ग्रहण करने व प्रतिक्रिया करने की स्थिति में नहीं रहता। अचेतन मन की प्रबलता चेतन व अवचेतन मन को निष्क्रिय कर देता है। जिससे व्यक्तित्व में असमर्थ हो जाता है।

मनोविज्ञान मन व मानव व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमे देह मानव के सम्पूर्ण विचारो और क्रियाओ का विवेचन करता और समझता है। आज के भौतिक युग में अनेक व्यक्ति विभिन्न समस्याओ से जूझ रहा है और उसके जीवन में विवाद और तनाव ग्रस्तता स्थितियां बनी रहती है। प्रमाण स्वरूप वह विभिन्न प्रकार के मानसिक विचारों से ग्रस्त होकर अपने मन व शरीर दोनो को अस्वस्थ कर बैठता है, ऐसी स्थिति में मनोविज्ञान का अध्ययन नितांत आवश्यक है और उपयोगी है। ऐसी स्थिति मे उसके लिए मनोविज्ञान का अध्ययन नितांत आवश्यक है। इसके द्वारा ही वह मानसिक क्रियाओं और शक्तियों को जान कर अपने व्यवहारिक जीवन को सफल बना सकते हैं। मानव और समाज के व्यवहार से सम्बन्धी कोई ऐसा विषय नहीं है जिसमें मनोविज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता अनुभव न हो। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीत साहित्य आदि सभी विषयों का अध्ययन-अध्यापन में ही सहायक है। जटिल एव दुरह विषय भी मनोविज्ञान की सहायता से रोचक एवं ग्रहया बनाए जा सकते हैं।

1- कवित चर्कवर्ती - 71, संगीत की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि

2- डा0 मधु बाला, मार्डन ट्रेंड्स इन म्यूजिक एजूकेशन.

मनोविज्ञान के अन्तर्गत मन का अध्ययन किया जाता है और संगीत का उदगम् स्थाई भी मन है, अत· दोनो अन्यो में आश्रित है। सगीत मनोभाव की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है। सीशोट ने तो इसे भावनाओं और सम्भवो की भाषा कहा है, संगीत कला द्वारा मानव अनेक प्रकार के दबे हुए मनोभावो को प्राकृतिक रूप से प्रकाशित करता है, सुख मे हो या दु ख मे, आशा मे हो या निराशा असक्ति मे हो या विरक्ति संगीत द्वारा अपने मनोभावो को व्यक्त करके कई प्रकार के मानसिक विकास से बच सकता है। मनोविज्ञान मन की मनोस्थिति का अध्ययन करता है और संगीत मानव भावों की अभिव्यक्ति करता है। इसी कारण सगीत मनुष्य को तनावमुक्त हो करके संतुलित व्यवहार की ओर प्रेरित करता है। इससे मानव भौतिक बन्धनों से मुक्त होकर शक्ति और आनन्द का अनुभव करता है। सगीत के द्वारा भावों को उद्दीप्त किया जा सकता है, जिसे साहित्य और संगीत आचार्यो ने रस को सगीत की शब्दावली में परा अनुभूति कहा जाता है। प्राचीन काल से ही भारतीय संगीत आचार्यों ने रस को संगीत की आत्मा माना है। श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक अद्भुत, वीभत्स, शान्ति घृणा है। मनोविज्ञान में ही मनोभावो का विवेचन है तथा सगीत आचार्यो ने तो स्वरों के रस भाव ही नहीं बताए बल्कि उनके रग, जाति, गोत्र और प्रभाव आदि की भी कल्पना की थी। यद्यपि उपरोक्त कल्पना का कोई ठोस आधार नही दिखाई सकता है कि किस स्वर का किस परिस्थिति विशेष में मानव व्यवहार पर क्या प्रभाव हो सकता है। मन मानव जीवन का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण घटक है, क्योंकि मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का मूल कारण उसका मन ही होता है। कोई भी कार्य मन द्वारा ही सचलित होकर प्रत्यक्ष रूप धारण करता है। सब प्रकार की अनुभूतियों का सम्बन्ध भी मन से ही है। मन का मूल स्वरूप क्या है इस विषय पर बहुत समय से विवाद होता आया है। कई लोग तो हार्ट (दिल) को ही मन कहते है। कोई ब्रेन को मन मानते है तो मन का क्या स्वरूप है। यह क्या चीज है ? इस विषय पर बहुत समय से विवाद होता आया है। विद्वानों ने सोचा कि मन से अनुभवों को ग्रहण करने की शक्ति तो है, पर यह शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी क्योंकि जिन अनुभवों को मानव ग्रहण करता है, उनके स्वरूप एक दूसरे से भिन्न है किन्तु मन एक ही है जिसमें

यह सुरक्षित है, अत मन विभिन्न भागो मे बटा हुआ है। जैसे चिन्तन शक्ति कल्पना शक्ति संवेदन शक्ति सृजन शक्ति पुराने महा वैज्ञानिको का विचार था कि जितने प्रकार के मानसिक अनुभव होते है, उसमे ही हर प्रकार के मानसिक अनुभव हेते हैं, उतने ही प्रकार की मानसिक शक्तियाॅ या विभाग होते है, किन्तु यह उनका अनुमान मात्र था। वास्तव में मन कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसका प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया जा सके। मन अमूर्त है जिसका विश्लेषण सम्भव नहीं है। मन को मानसिक क्रियाओं का समृद्ध कहा जा सकता है अर्थात् व्यवहार की अनुभूति मानव शरीर मे जिस स्थान पर होता है उसे मन कहते है। यह अनुभूति सुख या दुख किसी भी प्रकार की हो सकती है। सभी प्रकार के अनुभवो को ग्रहण करने उनका अर्थ समझने, उनके प्रति प्रतिक्रिया की सामर्थ्य सभी व्यक्तियों मे होता है। इसी भॉति इन अनुभवो को याद करते समय इनका पुन स्मरण करने, इनके विषय मे अनेक कल्पनाए करने, इनके प्रत्यक्ष न होने पर भी चित्र बना पाने की क्षमता सभी मनुष्यो में पाई जाती है। समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न भी सभी में होते हैं। इन सभी प्रकार के अनुभवों को ग्रहण करने, सोच-विचार करने व अपनी समस्याओं को हल करने की योग्यताओं, सभी मे अलग-अलग होती है। वस्तुत इन सभी प्रकार की योग्यताओं, प्रतिक्रियाओं का आधार मन ही है। मनोविज्ञान के अनुसार मन की तीन अवस्थाएं मानी गई हैं। पहली चेतना अवस्था, चेतन मन का अस्तित्व वर्तमान स्थिति पर आधारित होता है। जब कोई कार्य कर रहे होते है, राग सीखते हैं तो हमारी चेतन शक्ति सक्रिय होकर मन ही विशेष को ग्रहण करने में सहायक होता हे। मन का कुल 10 प्रतिशत भाग ही चेतन मन के पास है। हमारी दूसरी स्थिति है अचेतन मन की सक्रिय एवं महत्वपूर्ण अवस्था है। इस शक्ति का 90 प्रतिशत हिस्सा अवेचतन मन के पास है किसी भी क्रिया विशेष को सीख लेने के पश्चात् वह अचेतन मन मे चली जाती है और आवश्यकता अनुसार अवचेतन मन उसे अभिव्यक्ति करता रहता है। अत. अवचेतन मन का प्रधान कार्य है, किसी सीखी हुई क्रिया को या ज्ञान को उचित समय पर अभिव्यक्त करना। यह अवचेतन मन ही मानव को समस्त क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को केन्द्र अर्थात कम्प्यूटर है।

तीसरी अवस्था अचेतन अवस्था है यह मन की वह अवस्था हे जिसमे व्यक्ति क्रिया विशेष को ग्रहण करने व प्रतिक्रिया करने की स्थिति मे नहीं रहता, अचेतन मन की प्रबलता चेतन व अचेतन मन को निष्क्रिय कर देती है व जिसमें व्यक्ति अपने सामान्य व्यवहार को त्यागकर असमान्य हो जाता है। अस्थिर मन की उपरोक्त अवस्थाओं मे जिन क्रियाओ का सम्पादन होता है ये है- स्मृति, ज्ञान, चिन्ता, कल्पना, ग्रहण, प्रेरणा, अनुभूति, आदर, सवेदना और प्रतिभा, रूचि, चित्तवृत्ति ये सभी मन की क्रियाएँ है। सगीत मे ऐसी शक्ति है जो मन की उपरोक्त सभी अवस्था व क्रियाओ को प्रभावित करती है। इस कारण संगीत शिक्षण के लिए मन की यह समस्त क्रियाएँ अत्यन्त उपयोगी है।

मन सम्बन्धी ज्ञान सारी शिक्षा विधियों का आधार है। शिक्षक चाहे सगीत का शिक्षक हो या किसी अन्य विषय का जब तक विषय में बालक की रुचि नहीं होती तब तक वह उसकी ओर ध्यान रखकर याद नही कर सकता। यदि याद कर भी लेगा तो कुछ समय पश्चात् भूल जाएगा। शिक्षा को उपयोगी बनाने के लिए अध्यापक द्वारा बालको की रूचियो को जानना समझना तथा उनकी बुद्धि भेद का पता लगाना अति आवश्यक है। शिक्षा की दृष्टि से सब बालको को एक साथ बिठाकर एकसी शिक्षा देने से बालक लाभ नही उठा पाता जितना कि उनके स्वय के अध्ययन के पश्चात् तदानुरूप की गई शिक्षा से उठा सकते है। इसके साथ ही बच्चों को उपद्रव छुड़ाने आक्रमण प्रवृत्ति को कम करने, उनकी हीन भावना को कम करने की अपराध वृद्धि को कम करने में मनोविज्ञान सहायक होता है।

अर्जित योग्यताएँ शिक्षक से प्राप्त की जा सकती है। उदाहरण तथा राग को पहचानना अपेक्षित है। इनके साथ ही स्मृति चिन्ह चिन्तन शक्ति, कल्पना शक्ति, सृजन शक्ति आदि गुणों का भी अपनाना है। अनुमानसिकता, आक्रोश, संगीतज्ञ योग्ताओं को प्रभावित करने वाले तत्व हैं। भ0 संगीत में सृजनात्मकता व कल्पना शक्ति का प्रचुर महत्व है। इन्हीं के आधार पर कलाकार अपनी रचना की सौन्दर्यात्मक गुणों से सुसज्जित करके श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करता है जिससे वे आत्मविभोर

हो उठते हैं। स्मृति का भी हमारे सगीत मे विशेष स्थान है क्योकि सगीत की बारीकियों को लिपिबद्ध नही किया जा सकता और उनको सुनकर स्मृति में सुरक्षित रखना पडता है। स्मृति के द्वारा ही सीखना धारणा प्रत्यास्मरण और पहचानना आदि कियाएँ होती है। ध्यान, चिन्तन, कुशाग्र, बुद्धि, प्रतिभा आदि विशेषताओ का मूल्याकन भी सगीत शिक्षार्थियो मे करना चाहिए।

मनोविज्ञान की चार प्रमुख शाखाएँ मानी जाती है। पहली शाखा मनोविज्ञान, दूसरी असमान्य मनोविज्ञान, उद्योग मनोविज्ञान और समाज मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान से शिक्षाविधियो की जानकारी मिलती है। इसमे शिक्षा के लिए सगीत के महत्व पर प्रकाश डाला जाता है। असमान्य मनोविज्ञान मे मानसिक विकारो का अध्ययन इनकी उत्पत्ति के कारण और निष्कर्ष सम्बन्धी जानकारी दी गई। मानसिक विकारो के उपचारों के लिए संगीत शिक्षा बहुत उपयोगी हो सकती है। क्योकि उससे मानव तो क्या पौधे, पशु-पक्षी तक प्रभावित होते है। संगीत का प्रभाव सर्वकालिक और अबदेशिक है। विद्यार्थियों के उपद्रव आक्रामक अपराधवृत्ति को हीन भावना, खतरनाक मानसिक विकारो को कम करने मे सगीत अध्यधिक सहायक हो सकता है। इतना ही नहीं संगीत भय, उत्तेजना, तनाव, अनिद्रा आदि स्थिति मे भी सगीत का आश्चर्यजनक प्रभाव देखा जा सकता है। इसके द्वारा भावात्मकता स्थापित की जा सकती है जिससे मानव एक दूसरे के सुख-दुख के सहयोगी बन सकें। आज के अलगाववादी, अभिव्यक्ति केन्द्र समाज में इसकी महत्ता आवश्यक है।

ध्यान को केन्द्रित करने, भावात्मिकता आत्मविश्वास बढाने, उत्तेजना को कम करने के लिए मनोविज्ञान सहायक सिद्ध होता है। मनोविज्ञान के ज्ञान से मानसिक ही नहीं अपितु शारीरिक व्याधियो से भी बचा जा सकता है। वर्तमान समय में सगीत विषयक अध्ययन अध्यापना मनोविज्ञान की जानकारी को विशेष महत्व नहीं दिया जाता है। अधिकाश पाठ्यक्रमों मे मनोविज्ञान का समावेश भाव और रसों की थोड़ी बहुत चर्चा के विषय मे मिलता है। सगीत विषय को यदि साध्य सुरुचिपूर्ण और व्यवसायिक बनाना है तो सर्वप्रथम ऐसे ही विद्यार्थियों का चयन करना होगा

जिनमे सागीतिक योग्यता ही सगीत मे उनकी रुचि हो। आज विभिन्न महाविद्यालयो विश्वविद्यालयो में सामूहिक रूप से सगीत की शिक्षा प्रदान की जाती है। इसका यह लाभ तो अवश्य हुआ है कि समाज के प्रत्येक वर्ग को सगीत की शिक्षा प्रदान की जाती है। इसका यह लाभ अवश्य हुए है। इसका प्रचार-प्रसार बढा किन्तु स्वर व योग्यता में निरन्तर गिरावट आ रही है। इसका मुख्य कारण है कि सगीत जैसे सुगम विषय मे शिक्षण के लिए भी विद्यार्थी की अभिरुचि और योग्यता को समुचित वैज्ञानिक परख के बिना मात्र सख्या वृद्धि के लिए प्रवेश दे दिया जाता है। भारत मे यदि सगीत की शिक्षा को युगानुरूप सार्थक व्यवहारिक एव व्यवसायानसुख तथा साधनसुख बनाना है तो इसके लिए मनोवैज्ञानिक ढग से नियमित सगीतिक योग्यता परीक्षण करके ही शिक्षार्थी को शिक्षण के लिए प्रवेश दिया जाना चाहिए।

1- मूल सागीतिक योग्यता परीक्षण इसके अन्तर्गत शिक्षार्थी में ध्वनि की तारता, तीव्रता, नाद की जाति, लय, ज्ञान आदि गुणो का मूल्यांकन हो सकता है। यह विशेषता न्यून अधिक सभी मे पाई जाती है। यह परीक्षण द्वारा विकसित किया जा सकता है।

मानसिक थकान व एकरस्ता से छुट्टी दिलाने का समर्थन भी संगीत है। भय का अवसाद सभी में पाया जाता है। अनावश्यक भय जिसको तनाव भी कहते है सभी मे होता है। जिसका सगीत जैसे प्रदर्शन कार्यकलाओ मे सगीतज्ञ व शिक्षार्थी दोनों पर विशेष प्रभाव रहता उदाहरणतया सगीत मे विद्यार्थियों का परीक्षक देखकर भयग्रस्त हो जाना, परिणाम स्वरूप उसमें आत्मविश्वास की कमी आ जाती है तथा अच्छा भला गाने वाला विद्यार्थी भी अपने गाने को निराशजनक बना लेता है। भय के कारण गाने की जिहवा मोटी होकर गले को बन्द कर देती है जिससे हम देखते है कि आवाज ठीक नहीं निकल पाती है। आवाज मे कम्पन होने लगता है सोस फूल जाता है। आवाज मे ठहराव नहीं हो पाता। ध्यान स्थिर नही हो पाता आदि उसकी सृजन शक्ति व कल्पना शक्ति पर बुरा असर पड़ता है। भय के कारण वादककार के अंग्यों की नसे झूल जाती हैं जिससे हस्त संचालन ठीक नहीं हो पाता। कई

कलाकारों का मंच प्रदर्शन के समय ऐसी ही स्थिति होती है। इसकी मुक्ति के लिए कई कलाकार मादक द्रव्य का सेवन करते हैं। जो मन और शरीर पर बुरा प्रभाव डालते हैं। भय से हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, वे तनाव ग्रस्त रहने लगती हैं, स्वभाव चिडचिड़ा होने लगता है। अपनी निर्बलता के कारण वे डरपोक और क्रोधी बन जाते हैं, अवसाद एक संवेदनात्मक शक्ति है तथा अनिद्रा हीनता आत्मग्लानि हीनता का शिकार हो जाता है।

इसी प्रकार के मानसिक विकारों से संगीत शिक्षार्थी स्वयं को मनोवैज्ञानिक द्वारा ही सुरक्षित रख सकते हैं। इतना ही नहीं वे संगीत के द्वारा एवं रोगियों का उपचार भी कर सकते हैं। विदेशों में तो विगत् कई वर्षों में मानसिक चिकित्सालयों में संगीत के द्वारा मानसिक रोगी के उपचार का प्रचार दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। भा0 संगीत अपने विशिष्ट गुणों के कारण प्रकार की चिकित्सा से और भी भी प्रभावशाली हो सकता है। अतः इस परीक्षण को प्रोत्साहित करने का नितांत आवश्यक है। हमारे देश में महाचिकित्सालयों में संगीत चिकित्सा को अपनाया जाना चाहिए जिससे संगीत का प्रभाव क्षेत्र बढ़ेगा और विद्यार्थी इस ओर अधिक आकर्षित हो सकते हैं। उद्योग मनोविज्ञान के क्षेत्र में पूँजीपति व मजदूरों के सम्बन्धों के और अधिक सौहार्दपूर्ण, बनाने, श्रमिकों का मनोरंजन करके तभी सभी प्रकार के उत्पादनों की लोकप्रियता बढ़ाने की दृष्टि से संगीत का उपयोग किया जा सकता है। आज हम जितने विज्ञापन सुनते हैं दूरदर्शन पर जितने विज्ञापन देखते हैं सभी में संगीत द्वारा आकर्षण उत्पन्न होता है। नाटकों, धारावाहिकों, प्रसारणों में भी संगीत का उपयोग होता है। तथा फिल्म उद्योग का मेरूदण्ड है। कई स्थानों पर डेरों और कृषक उत्पादनों में भी इसका उपयोग किया जाने लगा है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि संगीत एक कला न रहकर व्यवसायिक रूप ग्रहण कर रहा है। इसे समायोजित बनाने के लिए ऐसे पाठ्यक्रम बनाये जाने की आवश्यकता है, जिससे विद्यार्थी क्षेत्र विशेष में निपुणता अर्जित कर सकें। जैसे शिक्षण के लिए शिक्षादिक एवं शिक्षक होता है। मंच प्रदर्शन के लिए विज्ञापन के लिए पार्श्व संगीत हेतु सिने संगीत के लिए मानसिक व शारीरिक चिकित्सा के लिए वाद्यवृन्द हेतु। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि विभिन्न प्रकार की मानसिक और शरीरिक व्याधियों से मुक्त करके

जीवन के आनन्दमय बनाने के लिए मनोविज्ञान और संगीत दोनों से महत्वपूर्ण, है। इन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। इसलिए संगीत शिक्षा से मनोविज्ञान को संयुक्त करने की आवश्यकता है।

मन का संगीत के प्रभाव से सम्बन्धित डा0 वसुधा कुलकर्णी ने अपने पुस्तक भा0 संगीत एवं मनोविज्ञान में भी अत्यधिक विस्तार से वर्णन किया है, उन्होंने मनोवैज्ञानिक पक्ष को सामने रखते हुये संगीत पर मन का प्रभाव जब संगीत को हम श्रव्य उत्तेजना का रूप मानते हैं तब उसका शरीर से जरूर संबंध है (दोन का वयन) ध्वनि के इस प्रकार वयन होना चाहिए जिससे मनोरंजन हो यह ध्वनि से गुण धर्म से पैदा होता है। टोमल क्वैलिट की समुचित व्यवस्था स्वरों में आती है यह श्रावण सुख से, संगीत से इन्द्रियजन्य, मानसिक, बौद्धिक व अध्यात्मिक इन चारों स्वरों का आनन्द प्राप्त होता है जब आनन्द होता है तो वह मिला हुआ आनन्द होता है। उसकी कोई सीमा नहीं होती। संगीत से आनन्द प्राप्ति होती है।

वहां अलग से हहम नहीं दिखा सकते यहां आनन्द शब्द बहुत व्यापक अर्थ. में है। संगीत सुसंकृत जीवन का एक आवश्यक अंग है वाह्य संवेदन को मन तक पहुंचाने का कार्य शरीर करता है इस अर्थ में शरीर व मन का सहायक होने के नाते महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार शरीर व मन का संबंध है संगीत का प्रभाव शरीर व मन दोनों पर पड़ता है। यहां हमें यह विचार योग्य है कि संगीत की ऐसी कौन सी शक्तियां हैं जो मन को आकर्षित कर लेती हैं।

(1) संगीत में आनन्द देने की शक्ति हृदय को स्पर्श. करने की शक्ति इसमें है। वाह्यनन्द सहोदर आनन्द प्रदान करने की शक्ति इसमे है, यहाॅ आनन्द की चरम सीमा है। इसी आनन्द के चरमावस्था तक हम पहुंचना चाहते हैं यह संगीत द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। संगीत के प्रभाव आनन्दमयी है।

संगीत मन को केन्द्रित करने का उपयुक्त साधन है। हर व्यक्ति अपने लक्ष्य में मन केन्द्रित करना चाहता है। जितना ज्यादा मन को केन्द्रित करेगा उतना ही वह यशस्वी होता है। संगीत एक प्रकार का योग है।

लक्ष्य पर मन केन्द्रित करना यह किसी वाह्य क्रिया से नहीं बल्कि आत्म प्रेरणा से होता है मन को भटकने की जो आदत है वह संगीत के द्वारा कम की जा सकती है। संगीत से एक सूलता आती है। संगीत द्वारा भी मन केन्द्रीकरण अत्यावश्यक है। शब्द व स्वर के संयोग से संगीत की शक्ति दृढ़ हो जाती है। आत्मा के विकास के लिए जो एक श्रेष्ठ साधना है, वह संगीत है।

संगीत व मन का सम्बन्ध भावात्मक पहलू में होता है। संगीत व आत्मा का सम्बन्ध है। संगीत में वह आध्यात्मिक शक्ति है जो आत्मा के उन्नति के लिए साधन बनती है। भा0 दर्शन आत्मा का उच्च स्वर वही मानता है जहाँ आत्मा परमात्मा का अद्वैत सम्बन्ध है।

आत्मा परमात्मा एक आर्शिक रूप है, ऐसा कहने से अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस दृष्टि से मन को केन्द्रित करने की शक्ति संगीत में है तभी त्यागराज जी ने संगीत को नादयोग तथ्व कहा है नाद के द्वारा मन का निर्वासन करना नादयोत्र तत्व है।

संगीत और ध्यान -

अन्य सभी विषयों से परे किसी एक विषय पर मस्तिष्क को केन्द्रित करना ध्यान कहलाता है।

वैग्डूगत ने ध्यान की परिभाषा इस प्रकार दी है "ध्यान केवल उस चेष्टा या इच्छा को कहते है जिसका प्रभाव इस प्रक्रिया पर पडता है।

ध्यान दो तरह का ज्ञान होता है - (1) ज्ञान की प्रक्रिया (2) मन की प्रक्रिय अर्थात् ध्यान को किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय विश्लेषण के अन्त में प्रेरणात्मक प्रक्रिया है।

"अवधान किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्ति के लिए मक्की प्रयोजनात्मक प्रवृत्ति है जितनी ही दृढ़ता के साथ हम किसी वस्तु को देखना, सुनना या समझना चाहते है उतना ही अधिक हम उस वस्तु पर अवधान देते हैं।" अवधान द्वारा मनुष्य परिस्थिति की तह तक पहुँचता है जो उन्नति, सुरक्षा और सम्पन्नता मनुष्य ने प्राप्त की है। उसकी मनुष्य की ध्यान देने की शक्ति है। किसी वस्तु का ध्यान प्राप्त करने या उसके प्रति किसी तरह की प्रतिक्रिया करने के लिए ध्यान हमें तैयार करता है। ध्यान देने से कार्य क्षमता बढ़ती है। किसी वस्तु का मन देने का मतलब होता है उस वस्तु का चिन्तन करना उस पर ध्यान देना एवं अन्य वस्तुओं की अपेक्षा करना हम जब किसी विषय पर ध्यान देते हैं, उस समय हमारा मन उसी विषय पर केन्द्रभूत हो जाता है।

टिचनर - 'अवधान की समस्या किसी विषय को स्पष्ट रूप से समझने से है।'

डब्बिल- "एक वस्तु को छोड़कर दूसरे पर चेतना को केन्द्रित करने से हैं।"

रास - "अवधान विचार की किसी वस्तु को मस्तिष्क के सामने स्पष्ट रूप से उपस्थित करने की प्रक्रिया है।

वेलेन्टाइन- "अवधान विचार की किसी वस्तु को मस्तिष्क के सामने स्पष्ट रूप से मस्तिष्क की क्रिया या अभिवृत्ति है"।

डॉ0 श्याम स्वरूप जलोट ने अपनी पुस्तक "मनोविज्ञान का परिचत" मे ध्यान की परिभाषा इस प्रकार दी है।

अवधान मानव चेतना की एक प्रक्रिया है, अथवा किसी विचार को मस्तिष्क में स्थित नाना प्रकार की निम्न वस्तुओं में से कभी एक और कभी दूसरी को चेतना के ध्यान केन्द्र में लाकर उपस्थित करती है।

श्री जगदानन्द पाण्डेय ने कहा ध्यान वह चयनात्मक क्रिया है जिसके द्वारा हम किसी उत्तेजना या उत्तेजना समूह को चेतन केन्द्र में लाते हैं।

हमारे सामने निरन्तर तरह-तरह उत्तेजनाएँ रहती हैं, लेकिन एक बार मे हम उन सब पर ध्यान देकर उनमें से किसी एक समूह को चुनकर उस पर ध्यान देते हैं। किसी एक उत्तेजना को चुनने में हम अन्य उत्तेजनाओं की अवेलना करती है। अर्थात् ध्यान का अर्थ है कि मन का चुनाव मन में निर्वाचन करने की जो शक्ति है उसी के आवश्यक विकास को मनोयोग कहते हैं। उदाहरण के लिए जब हम किसी संगीत सम्मेलन में किसी बड़े कलाकार का ज्ञापन सुनते हैं तो वहां हॉल में पंखा चलना, रंगीन दीवारे आदि की अवहेलना करके हम कलाकार के ज्ञापन सुनने में और रसानुभूत में लगे रहते हैं। प्राय: व्यक्ति की इच्छा और रुचि के अनुसार उत्तेजना का चयन होता है। यदि संगीत का विद्यार्थी एक ऐसे कमरे में जाये जहाँ सभी प्रकार के वाद्य हों तो उस समय पर विद्यार्थी अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार कोई एक वाद्य हाथ में उठा लेगा। एक ही समय पर हम मालकौंस, वागेश्वरी, दरबारी, कान्हणा रागें न तो गा सकते हैं न तो सुन सकते हैं। हम सुनने या गाने के लिए किसी एक राग को चुनेंगे। यह चयनात्मक शक्ति समय, आयु के साथ रुचि के साथ बदलती जाती है। संक्षेप में ध्यान देने का अर्थ हुआ निर्वाचन करना, अलग करना, एक विषय से दूसरे की तुलना कर उसे ग्रह्य समझना अन्य विषय के ज्ञान को छोड़कर एक ही विषय के ज्ञान को अपनाना ग्रहण करना या छोड़ देना मनोयोग का धर्म है।

किसी राग को सीखते समय या प्रस्तुत करते समय हमें सम्पूर्ण ध्यान को केन्द्रित करना होगा और मन-मस्तिष्क को कार्य करने के लिये तैयार होना पड़ता है। उदाहरण स्वरूप किसी राग को सीखते समय राग के मुख्य अंग का दीखने के लिए और स्वरों का बढत करने के लिए उस पर ध्यान देने के लिए मानसिक सक्रियता की आवश्यकता है। भारवा राग गाते समय हमें उसके समप्रकृति राग सोहनी पूरिया से बचना होगा। भारवा गाते समय मिलते जुलते राग हमारे अचेतन मन में रहती है। जो चेतन मन में आ जाती है। अत हमें अन्य रागों से बचाकर मारवा का सही रूप ही प्रस्तुत करना होगा।

ध्यान की विशेषताएँ

ध्यान गतिशील तथा चंचल है -

ध्यान की यह विशेषता है कि यह हमेशा विचित्र हुआ करता है। किसी भी वस्तु या विषय पर ध्यान अधिक समय तक नही द पाता ध्यान सदैव एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। किसी विशिष्ट विषय पर भी हमारा ध्यान आठ से दस सेकेण्ड से अधिक नहीं ठहरता है। जो व्यक्ति जितना अधिक एक विषय पर ध्यान केन्द्रित कर सकता है उसको उतना ही अधिक सफलता प्राप्त होती है। ऋषि-मुनियों ने इसी ध्यान के द्वारा सिद्धि प्राप्त की है वह एक ही शब्द पर घण्टों, महीनों, सालों ध्यान लगाते हैं जो ध्यान की चरम अवस्था है।

ध्यान एक तरह का अन्वेषण है -

ध्यान का चंचल होना और विचलित होने का परिणाम नयी चीजों का अविष्कार होना हमारा ध्यान सदैव नवीन विषयों, नवीन चीजों की खोज करता है। किसी वस्तु की नवीनता में ही आकर्षण है। ध्यान विचलित होने पर किसी नयी चीज की प्राप्ति भी हो सकती है लेकिन दुष्परिणाम भी हो सकता है।

जैसे किसी राग को गाते समय यदि ध्यान जरा भी हटती है तो शायद एक ऐसा स्वर लग सकता है जो राग को बिल्कुल भ्रष्ट कर दे तथा उसी स्वर से सौन्दर्य सृष्टि भी हो सकती है। आजका नया राग "वाचिस्वति" इसका अच्छा उदाहरण है। यमराज में गलती से कोमल निषद लगने से इस नवीन राग की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार राग बिहार में भी तीव्र मध्यम का प्रयोग में ही किया गया। इस तरह हम कई रागों का उदाहरण ले सकते हैं। जैसे "छाया नाट", "रामकली", "केदान', "हमीर' आदि।

जब कोई व्यक्ति किसी एक राग का गायन करने के लिए चुनाव करता है तो उसे ध्यान का संकुचित होना कहते हैं और उसी राग में वृहद राग विस्तार याने अलाप, ताने आदि का स्वरूप बताता है तो यह ध्यान का विस्तार हुआ।

3- ध्यान का संकुचित तथा विस्तृत विस्तार -

ध्यान एक चयनात्मक प्रथा होने से उसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है, एक ही समय "पूरिया", कल्यरा तोड़ी आदि राग पर ध्यान नहीं दे सकते न ही गायन कर सकते हैं। किसी एक राग का चयन करके, उसी राग पर विस्तार से सोचना उसकी ताने आलाप आदि करना ध्यान का विस्तार कहलाता है और राग का चयन करने की विधि को ध्यान का संकुचित रूप कहेंगे।

4- ध्यान स्पष्ट चेतना का कारण -

ध्यान सदैव अनुभव काप सजीव केन्द्र हुआ करता है। जिस वस्तु या विषय पर हम अधिक ध्यान देते हैं वह हमारी बुद्धि के सम्मुख सबसे अधिक स्पष्ट रहती है चेतना के तीन अंग हैं - (1) चेतन (2) अचेतन (3) अवचेतन।

इस प्रकार जब हम किसी वस्तु का ध्यान करेंगे जब हमारा मस्तिष्क चेतन अवस्था में होना चाहिए।

ध्यान देते समय मारा पूरा शरीर पर एक प्रकार की तत्परता की अवस्था में होता है। जैसे- गायक जब मंच पर पहुंच जाता है और बैठ कर अपना तानपूरा बजाने लगता है तब हम समझ सकते हैं कि वह कार्यक्रम शुरू करने वाला है। वह तानपूरे को पहले से मिलाकर रखते हैं। जैसे मालकौंस गाना है तो तानपूरे को 'मध्यम' में मिला देता है। गायक या वादक पूरी तैयारी के साथ मंच पर आता है।

यदि वाछवृंद का (ऑर्क्रेष्ट्रा) प्रोग्राम होता है तो सभी कलाकार अपने वाछ को मिलाकर रखते हैं, और जिस व्यक्ति को जिस सुर पर से शुरू करना होता है, वह अपना हाथ उसी स्वर पर रखता है।

किसी प्रकार की तैयारी के बिना आगे होने वाली क्रिया का होना अब संभव है। यह प्रारंभिक तैयार ध्यान की आवश्यक प्रक्रिया है। ध्यान से हमें वातावरण में संतुलन लाने में सहायता मिलती है। संतुलन में वाह्य और आंतरिक दोनो तरह की शारीरिक क्रियाएं स्थापित करते हैं। मांस-पेशियां वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करते हैं।

संगीत के द्वारा ध्यान आकर्षण

सगीत प्राणी मात्र के ध्यान को आकर्षित करता है। सगीत चाहे वह शास्त्रीय हो, सारल हो या फिल्मी संगीत हो संगीतिक ध्वनि मनुष्य के हृदय को आकर्षित करती है। चाहे वह थोड़े समय के लिए ही सही। यदि हम किसी भी सगीत पर हमारा 2-3 घण्टे लगना चाहते है ते इसके लिए सगीत के गुणो या तत्वो का होना आवश्यक है। क्योंकि मनोवैज्ञानिकों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि व्यक्ति का ध्यान किसी विषय पर 8-10 सेकेण्ड से अधिक नहीं लग सकता क्योंकि व्यक्ति किसी विषय में नवीनता परिवर्तन तथा गतिशीलता चाहता है। अतः संगीत में भी इन्हीं सभी गुणों का होना आवश्यक है। जिससे व्यक्ति का ध्यान आकर्षित हो सके। ध्यान निम्नलिखित कारणों से आकर्षित होता है-

(1) उत्तेजना की तीव्रता -

तीव्र उत्तेजना पर निर्बल उत्तेजना की अपेक्षा शीघ्र ध्यान जाना स्वाभाविक है। यदि कहीं सारे वाद जैसे आरक्रेस्ट्रा आदि में सारे वाद्य एक साथ बजे तो जैसे हारमोनियम, सितार, जल तरंग, वायलिन आदि तो जल तरंग की आवाज तुरन्त तीव्र गति से प्रभावित या आकर्षित करेगी।

(2) पुनरावृत्ति -

उसी तरह पुनरावृत्ति पर भी तुरन्त ध्यान आकर्षित होती है, जिस कक्षा में यदि मास्टर एक ही तान को कई बार गाये तो समझ जाना है कि यह तान हमें सिखनी है। या किसी संगीत समारोह में कलाकार यदि कोई तिहाई दोबार ले तो तुरन्त यह ध्यान आयेगा कि वह यह तिहाई पुनः लगा रहा है।

(3) नवीनता -

शास्त्रीय सगीत में नवीनता प्रधान गुण है। शास्त्रीय संगीत मे हमेशा हम नवीनता ही पायेंगे, क्योंकि जब कोई किसी राग को गायगा तो वह अपनी एक अलग तरह की प्रस्तुति करेगा जैसे "यमन" राग जोकि इतना पुराना राग है, फिर भी आज भी हम चाहे जितने बार सुने बोडर नहीं होगी।

(4) रहस्यमयता -

शास्त्रीय संगीत में हमेशा गोपनियता बनी रहती है। गायन या वादन के समय में ऐसा कुछ हमेशा कलाकार अपना कलाकारिता दिखाता है जैसे - तल से हटकर सम दिखना, कुछ ऐसे स्वर समूह को जल्दी लेना जिससे श्रोता को राग बदलने का आभास होगा और फिर तुरन्त उस राग के स्वर समूह को जोड़ देना। जिसे अर्विभाव, विरोभाव, मारवा सोहनी, बसन्त बहार राग में।

(5) गति -

गति संगीत में बढ़ने से श्रोता एक आकर्षित हो जाते जब शुरू में अलाप के बाद तबला शुरू होता है, तो एकदम सतर्क हो उठते हैं अठगुन या पिरपिर की तान से श्रोता आकर्षित होते हैं।

शास्त्रीय सगीत में ध्यान दो तरह से सौन्दर्य तत्व पाये जाते हैं। "वाह्य सौन्दर्य" व आन्तरिक सौन्दर्य में राग का स्वरूप वादी, संवादी, चलन आदि का समावेश वाह्य सौन्दर्य है। इसके न्यास स्वर वन्दिश बड़ा ख्याल अन्तरे आदि वाह्य सौन्दर्य में आ जाते हैं आन्तरिक सौन्दर्य में

(6) ध्यान के प्रकार -

स्थूल रूप से ध्यान तीन प्रकार का होता है - (1) ऐच्छिक (2) अनैच्छिक (3) स्वाभाविक।

ऐच्छिक व अनैच्छिक ध्यानों में एक वही अन्तर है कि ऐच्छिक ध्यान स्वेच्छा से लगाया जाता है अथवा उसके प्रेरक तत्व व्यक्ति में रहते हैं। अनैच्छिक ध्यान के प्रेरक तत्व व्यक्ति से बाहर अर्थात वस्तु में रहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी गाने की आवाज से बरबस ध्यान आकर्षित हो जाये तो वह अनैच्छिक ध्यान कहा जायेगा।

(7) ऐच्छिक ध्यान -

वह ध्यान जो कि अपनी इच्छा से किसी वस्तु पर लगाया जाता है। उदाहरण के लिए यदि एक विद्यार्थी किसी के कहने से नहीं बल्कि स्वयं अपनी इच्छा से पढ़ने में ध्यान लगाता है तो वह ऐच्छिक ध्यान कहा जाएगा।

(8) अनैच्छिक ध्यान -

अनैच्छिक ध्यान केवल व्यक्ति की इच्छा अथवा प्रेरणा के बिना नहीं हेता बल्कि कभी-कभी उसके विरूद्ध भी होता है बहुधा उससे ध्येय प्राप्ति में बाधा पड़ता है।

(9) स्वाभाविक ध्यान -

यह इच्छा रहित होता है। स्वाभाविक ध्यान ऐच्छिक व अनैच्छिक के मध्य में स्थित होता है।

ध्यान की सहायक बाह्य दशायें - स्वरूप, निरिपतस्थ, परिवर्तन, गति, नवीनता, रहस्यमय, विषमयता आदि वाह्य दशायें हैं।

ध्यान की आन्तरिक दशायें -

अभिरूचिक - अभिरूचि किसी वस्तु के वृत्ति सम्बन्ध जोडने वाली मानसिक संरचना है यह वह मानसिक व्यवस्था है, जिसके कारण कोई वस्तु अच्छी या बुरी लगती है। सगीत सीखने की अभिरूचि होना अनिवार्य है। सगीत सीखते समय उसी तरफ ध्यान लगा रहे इसलिए भी सगीत मे रूचित का महत्वपूर्ण हाथ है। संगीत की ओर रूचि है तो विद्यार्थी को बहुत सफलता मिलती है। अक्सर एसा देखा जाता है कि किसी कलाकार का बच्चा सगीत की रूचि रखता है ऐसा स्वाभाविक है क्या किसी हद तक अभिरूचि वातावरण और पैत्रिक गुण पर निर्भर करता है।

ध्यान की स्थितियां

बाह्य तत्व या बाहरी दशायें -

(1) उत्तेजना की प्रवृत्ति, (2) उत्तेजना का आकार, (3) उत्तेजना की स्थिति, (4) उत्तेजना तीव्रता, (5) ऊत्तेजना का परिवर्तन, (6) ऊत्तेजना की गति, (7) उत्तेजना की पुनरावृत्ति, (8) उत्तेजना की स्थिति, (9) उत्तेजना की नवीनता, (10) ऊत्तेजना का व्यवस्थित एवं

(ब) आन्तरिक या आत्मगत -

(1) मानसिक तत्परता, (2) आदत, (3) संवेग, (4) रूचि, (5) अतीत अनुभव, (6) अर्थ, (7) मूल प्रवृत्तियाँ।

संगीत व रुचि

रुचि क्या है ? रुचि एक भावनात्मक विन्यास है, जो ध्यान को जगाता है और स्थिर रखता है। रुचि क्रिया न होकर एक स्थायी प्रवृत्ति या एक मनसि संरचना है, जोकि चेष्टात्मक क्रिया को आवश्यक चालक शक्ति प्रदान करता है। रुचि जन्मजात भी होती है और अर्जित भी। मूल प्रवृति जन्य आवश्यक्ताओं को पूर्ण करने वाली वस्तुओं में जीव स्वभावतया रूचि लेता है, इस प्रकार भिन्न लिंगीय व्यक्ति के प्रति सभी प्राणियों में स्वाभाविक रुचि पायी जाती है। घास खाने वाली पशु घास में, गोश्त खाने वाले गोश्त में रुचि लेते हैं। वैज्ञानिक को प्रयोगशाला के यन्त्रों में रुचि होती है, साधारणतया व्यक्ति के लिए वे बेकार हैं।

एक व्याख्यान में जहॉं किसी को वक्त के बोलने का ढंग पसन्द आये वहां दूसरे को उसके तार्किक पक्ष का और तीसरे को तथ्यात्मक पहलू में रुचि होती है। इस प्रकार अपने-अपने व्यवसाय शिक्षा तथा धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक बातों में लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है।

अर्जित रुचि अनुभव पर आधारित होती है। रुचि का भावना और इच्छा से सीधा सम्बन्ध होता है। जिस वस्तु या व्यक्ति में हमारी रुचि होती है उसका हमारे हृदय में स्थान होता है। उसके प्रति आदर या कीमत उद्देश्य की पूर्ति के बाद उसमें हमारी रुचि नहीं होती। उदाहरण के लिए एक आदमी को नदी पार करनी है तो उसको नाव में रुचि होगी, परन्तु नदी पार करने के बाद उसकी नाव के प्रति रुचि समाप्त हो जायेगी।

ड्रेवर के अनुसार - "रुचि सक्रिय रूप में एक विन्यास है।" रुचिवेद नामक अनुभव न होकर वेदनात्मक प्रवृति है। यह मन का व्यवहार न होकर एक मानसिक संरचना है और ध्यान एक मानसिक क्रिया है। रुचि ध्यान को सचालित करती है। उसी के अनुसार ध्यान निश्चित होता है।

अत· रुचि ध्यान के रूप में प्रकट होती है और जब ध्यान नहीं होता सब उसकी प्रवृति रुचि के साथ रूप में गुप्त रहती है। एक व्यक्ति क्रिकेट का मैच देखने में रुचि रखता है तो वह मैच होने पर उसे अवश्य देखने आता है और बड़े ध्यान पूर्वक उसे देखता है। तथा उसकी सूचनाएँ सुनता है। परन्तु न तो क्रिकेट मैच रोज होते हैं और न समाचार अत. जब वह क्रिकेट मैच देखने अथवा उसके समाचार सुनने के अतिरिक्त अन्य कामों में लगा होता है उस समय उसका क्रिकेट ध्यान उसकी रुचि में गुप्त रहता है। हम किसी वस्तु पर ध्यान देते हैं तो इससे हमारी उस वस्तु में रुचि प्रकट होती है।

रुचि ध्यान का मानसिक हेतु है। हम संगीत पर ध्यान देते हैं, इसी से स्पष्ट है कि हमारी संगीत में रुचि है। वही रुचि ध्यान लगाती है। वह जरूरी नहीं है कि सभी व्यक्ति अपनी रुचि से परिचित हों। कभी-कभी किसी वस्तु में अपना ध्यान लगते देखकर हमें स्वयं आश्चर्य होता है कि हमारी उसमें रुचि कैसे पैदा हो गयी।

रुचि और ध्यान में घनिष्ठ संबंध है। यह जरूरी नहीं है कि जिस वस्तु में ध्यान लगता है उसमें रुचि भी आवश्यक होगी। पढ़ने-लिखने में रुचि बहुत कम लोगों को होता है। अधिकतर वे परीक्षा पास या डिग्री लेकर नौकरी करने के लिए पढ़ते तो बैंक का खजांची जो दिन भर ध्यानपूर्वक रूपया गिनता है तथा उसे रूपये गिनने में रूचि है। व्यवसाय के अधिकांश का रूचि न होते हुए भी ध्यान पूर्वक किये जाते हैं। रुचि और ध्यान की मात्रा में भी किसी प्रकार का सह-संबंध नहीं है। ध्यान और रुचि मानचित्र सहचर्य नहीं है, न ही वे अभिन्न हैं। रुचि ध्यान का हेतु है। परन्तु ध्यान रुचि का परिणाम नहीं है। इनके घनिष्ट संबंध से यह सिद्ध होता है कि रुचि और ध्यान आवश्यक तत्व हैं।

संवेग और संगीत

जर शील्ड सवेग शब्द किसी भी प्रकार के आवेश मे आाना, भडक उठना तथा उत्तेजित होने की दशा को सूचित करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संवेग के अन्तर्गत, संवेग का भाव आवेग तथा शारीरिक व दैनिक सभी प्रतिक्रियाये आती हैं। ये भाव, आवेग तथा दैनिक क्रियाए विभिन्न रूप मे चित्रत होकर प्रकट होती है। इन भावो तथा आवेगो को भिन्न-भिन्न नाम दिये गये है। प्रतिदिन के व्यवहार मे हम ऐसे बहुत से शब्दो का प्रयोग करते है, जो सवेदनात्मक दशा को सूचित करते है।

पी0टी0 यंग के अनुसार संवेग संपूर्ण व्यक्ति में तीव्र उदवेग उत्पन्न करने वाला है, जिसका उद्गम मनोवैज्ञानिक होता है, तथा जिसके फलस्वरूप व्यवहार, चेतन, अनुभूति, अन्तरावयव सम्बन्धी क्रियाएं होती हैं, इन्होंने संवेग का भाव तीव्र तथा तीक्ष्ण कहकर ही छोड़ दिया है। संवेग को इन्होंने बुरा कहा है, अच्छा नहीं, परन्तु संवेग कभी-कभी अच्छा काम करता है। संवेग में व्यक्ति मानसिक अवस्था से भिन्न होकर, चेतन अनुभूति तथा अन्तरावयन सम्बन्धी क्रियाएं करता है। उपर्युक्त परिभाषा में संवेग की निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं।

बालक जन्म से ही कुछ उद्देश्यों को लेकर उत्पन्न होता है। जिसको संवेग कहा जाता है। इन संवेगों का मानव जीवन में बड़ा महत्व है, संवेग मनुष्य के बहुत से कार्यों में प्रेरक हैं। देश पर हँसते-हँसते बलिदान होते जान हथेली पर रखकर युद्ध स्थल में लड़ने वीरता और शौर्य के लिए कुछ भी करने में मनुष्य की बुद्धि अथवा विचारों से नहीं बल्कि संवेगों से ही प्रेरणा मिलती है संवेग कितने होते हैं मैक्डूगल ने संवेग बताये हैं उनमें आत्मसम्मान को संवेग सबसे महत्वपूर्ण है। यही मनुष्य के चरित्र का मूल आधार है।

संवेग को अंग्रेजी में एमोशन कहते हैं एमोशन शब्द लेटिन भाषा के एमोवेअर शब्द से बना है जिसका अर्थ है हिला देना या उतेजित करना।

1- **पी0टी0 यंग के अनुसार** - संवेग सम्पूर्ण व्यक्ति में तीव्र उपद्रव करने वाला है जिसका उद्‌गम मनोवैज्ञानिक होता है।

बुडवर्थ, के अनुसार - प्रत्येक संवेग एक अनुभूति होता है तथा प्रत्येक संवेग उसी समय एक गयात्मक तत्परता होता है।

"My theory is that the bodily changes follow directly the perception of the same changes as they ocur the emotion".

William James 1884

संवेग मनुष्य को हिला देता है। संवेग की दशा में जीव का संतुलन बिगड़ जाता है। आवेश के कारण बुद्धि ठीक प्रकार से काम नहीं करती। लेकिन संवेग की दशा में जीप का संतुलन बिगड़ जात है। आवेश के कारण बुद्धि ठीक प्रकार से कार्य नहीं करती लेकिन संवेग कभी किसी कार्य को करने की प्रेरणा भी बनाता है। वास्तव में संवेग मनुष्य की शक्ति को उत्तेजित करते हैं और आपत्तिकाल में उसकी बड़ी सहायता करते हैं। संवेग की दशा में ऐसे व्यक्ति ऐसे काम करता है जो वह सामान्य दशा में नहीं कर सकता। परन्तु कभी संवेग के कारण जीव एकदम स्तम्भित होता है और सामान्य क्रियाएं भी नहीं करता।

संवेग की कुछ विशेषताएं -

(1) संवेग की उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है।

(2) संवेग मादक पदार्थ के द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकता। भाग आदि मादक पदार्थों के अस्त-व्यस्तता आती है, उसे हम किसी भी प्रकार से संवेग नहीं कह सकते।

(3) संवेग तीव्र उद्वेग होता है। यह यकायक उत्पन्न होता है और तीव्रता लिए होता है। कुछ क्षणों के बाद संवेग लुप्त हो जात है। संवेग उत्पन्न होने पर कितने ही व्यक्ति ऐसा कार्य कर जाते हैं, जो सामान्य अवस्था में करने में असमर्थ होते हैं। अतः यह कहना गलत है कि संवेग की दशा में व्यक्ति कार्य करने में असमर्थ रहता है।

एक फौजी संवेग में आकर ही अपने शत्रु से लोहा लेता है। संवेग न होने पर वह अपना कर्तव्य पालन नहीं कर सकता।

{4} संवेग यकायक उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होने के लिए विशेष समय की आवश्यकता नहीं होती।

{5} संवेग में बाहरी शारीरिक तथा आन्तरिक (मानसिक) उद्दीपन्न के होना आवश्यक है उदाहरणार्थ. -

{अ} अब व्यक्ति स्वयं ही कोई गलती करता है अैर बाद में अपनी गलती महसूस करता है, तब वह अपने ऊपर गुस्सा निकालता है।

{ब} कई बार व्यक्ति को किसी के बारे में गलत फहमी हो जाये अथवा किसी के द्वारा किसी के बारे में गलत धारणा बन जाये तो वह उससे घृणा करता है। यह आन्तरिक आवेग हेता है। अन्दर ही अन्दर वह गुस्सा करने लगता है।

{6} शारीरिक परिवर्तन -

संवेग की स्थिति में व्यक्ति के शारीरिक परिवर्तन के साथ पेट तथ अन्तड़ियों में भी पपरिवर्तन होता है। इस परिवर्तन के अन्तराल परिवर्तन कहते हैं।

{7} अन्तरावयव परिवर्तन -

संवेग की स्थिति में व्यक्ति के शारीरिक परिवर्तन के साथ पेट तथा अन्तड़ियों में भी परिवर्तन होते हैं। इस परिवर्तन को अन्तराल परिर्वतन कहते हैं।

{8} तीव्रता -

सभी संवेग अलग-अलग तीव्रता लिए होते हैं। संवेग व्यक्ति के व्यवहार में तीव्रता के अनुसार परिवर्तन तथा विघटन उत्पन्न करते हैं।

(9) विभात्मक रूप - संवेग सुख-दुख की भिन्नता अवस्था में देखे जा सकते हैं। हास्य प्रेम आदि सम्बन्धी संवेग सुख के पक्ष में है तथा भय, घृणा, क्रोध आदि संबधी दु:ख के पक्ष में है।

(10) सामाजिक स्वरूप - किसी कट्टर धार्मिक व्यक्ति का संवेग या उपद्रव समस्त राष्ट्र में फैल जाता है। किसी ज्योतिषी की वांणी पूरे समाज में उद्वेग या आतंक फैला सकती है। अलग केई ग्रह दूसरे से ज्यादा नजदीक आने से प्रलय होने की भविष्यवाणी ज्योतिषी करता है, तो समाज में भय तथा उद्वेग निर्माण होता इस तरह की भविष्यवाणी समस्त वाणी समस्त समाज को संवेगात्मक अवस्था में छोड़ देती है।

(11) आपात स्थिति में संवेग - आपात स्थिति में तीव्र संवेग के कारण व्यक्ति में आपसी सहयोग की भावना जागृत होती है। इस समय व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग करता है। जो सामान्य अवस्था में नहीं करता है।

जब संवेग व्यक्ति का अनुभव करता है, तो उसमें निम्न प्रकार की तीन क्रियाएं होती हैं -

(1) चेतन अनुभूति सम्बन्धी
(2) व्यवार सम्बन्धी
(3) अन्तरावयव सम्बन्धी।

चेतना में अनुभूति -

हमारा मस्तिष्क चेतन, अर्धचेतन व अवचेतन अवस्था में भी काम करता है। एक व्यक्ति गा रहा है उसके अवचेतन मन में तबला बज रहा है या अर्ध चेतन मन में तिहाई या तान लगा हुआ है।

व्यवहार में -

संवेग की अवस्था में व्यक्ति कोई न कोई व्यवहार जरूर करेगा। क्रोध में कोई न कोई क्रिया शारीरिक व्यवहार सें परिवर्तन लायेगी।

अन्तरावयव सम्बन्धी -

संवेगावस्था में व्यक्ति में कई आन्तरिक परिवर्तन आयेंगे जिसमें प्रमुख है। ⟮1⟯ हृदय गति में परिवर्तन, ⟮2⟯ नाड़ी गति में परिवर्तन, ⟮3⟯ रक्तचाप में परिवर्तन, ⟮4⟯ श्वास गति में परिवर्तन, ⟮5⟯ पाचन गति में परिवर्तन, ⟮6⟯ त्वचा सम्बन्धी परिवर्तन, ⟮7⟯ मस्तिष्क सम्न्धी परिवर्तन, ⟮8⟯ ग्रन्थि तरंगो में परिवर्तन, ⟮9⟯ माँसपेशियों मे परिवर्तन, ⟮10⟯ रक्त रसायन में परिवर्तन।

संवेगावस्था में वाह्य शारीरिक परिवर्तन

वाह्य शारीरिक परिवर्तन ⟮1⟯ आन्तरिक परिवर्तन - संवेग में शारीरिक परिवर्तनों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मनोवैज्ञानिकों के अलग-अलग मत हैं।

वाह्य शारीरिक परिवर्तन में - चेहरे की अभिव्यक्ति, क्रोध, शोक, भय, आश्चर्य आदि सभी शारीरिक प्रक्रिया संगीत में इनका बहुत महत्व अक्सर देखा जाता है कलाकार या नया संगीतज्ञ अक्सर अपनी कला के प्रदर्शन के साथ या पहले बहुत ही परेशान और चिन्तित हुआ है उस समय उसके चेहरे पर जो अभिव्यक्ति है उससे हम समझ जाते हैं कि व्यक्ति बहुत डरा हुआ है। आवाज कांपती है, शोक में आदमी के आँसू निकलता है तथा नाक से पानी आता है तथा गला भर जाता है। भय से दाँत किटकिटाता है या घिग्घी बंध जाता है, गला सूख जाता है आश्चर्य से वेगावस्था में आँखे फैल जाती हैं। मुँह से चीत्कार निकलता है और भौंहें तन जाती हैं। मे चेहरे की माँसपेशियाँ फैल जाती हैं, तब हम कहते हैं चेहरा खुशी से खिल उठा।

मनोवैज्ञानिक फेल्की -

फेल्की ने 86 संवेगात्मक चित्र 1000 बेकियो के बना है केनर में भी अपने प्रयोग में इन्हीं परिणामों के सिद्ध किया कि संवेग को पहचानने में चेहरे की अभिव्यक्ति की अपेक्षा पहचानने वाले प्रवृति अधिक स्पष्ट देखा देते हैं।

फर्नवर्गर -

अपने प्रयोग मे कहता है कि चेहरे के परिवर्तनो में को देखकर के यही कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति निश्चित रूप से कौन से संवेग की दशा में है क्योंकि संवेग का अनुभव व्यक्ति-व्यक्ति में अलग होता है।

स्वर अभिव्यक्ति -

सगीत मे स्वराभिव्यक्ति द्वारा संवेग को दर्शाया जाता है तथा दूसरे व्यक्ति के मन में भी उसी प्रकार के संवगे उत्पन्न किये जा सकते हैं। सेनी व नाटक इसके अच्छे उदाहरण हैं। विभिन्न संवेगों की अभिव्यक्ति, ध्वनि की उच्चता, तीव्रता तथा ध्वनि विशेषता के माध्यम से की जाती है। क्रोध में आवाज भारी तथा कर्कश हो जाती है, प्रसन्नता में आवाज लयात्मक और मधुर हो जाती है, भाषा संवेगों को वही सफलता से व्यक्त करती है। परन्तु केवल ध्वनि का ही किसी चिन्ह से माना जा सकता है।

आसनिक अभिव्यक्ति -

संवेगावस्था मे शरीर के आसन में भी कुछ परिवर्तन होते हैं परन्तु ये परिवर्तन सभी व्यक्तियों में एक से नहीं होते। भये के संवेग में कोई व्यक्ति भागेगा तो कोई व्यक्जि जडवत खड़ा हो जायेगा। क्रोध के संवेग में कुछ गालियां देंगे तो कुछ इधर-उधर घूमेंगे और कुछ किसी से मारपीटकर जैसे प्रेम का आलंगन चुम्बन अधिक्रियायें दिखाई देंगे। हाथ मलना, सिर थाम कर बैठना, मुट्ठी बांधना तनकर खड़े रहना, एड़िया रगड़ना, छाती पीटना और मलना आदि अलग-अलग क्रियायें अलग-अलग संवेग को प्रदर्शित करती हैं।
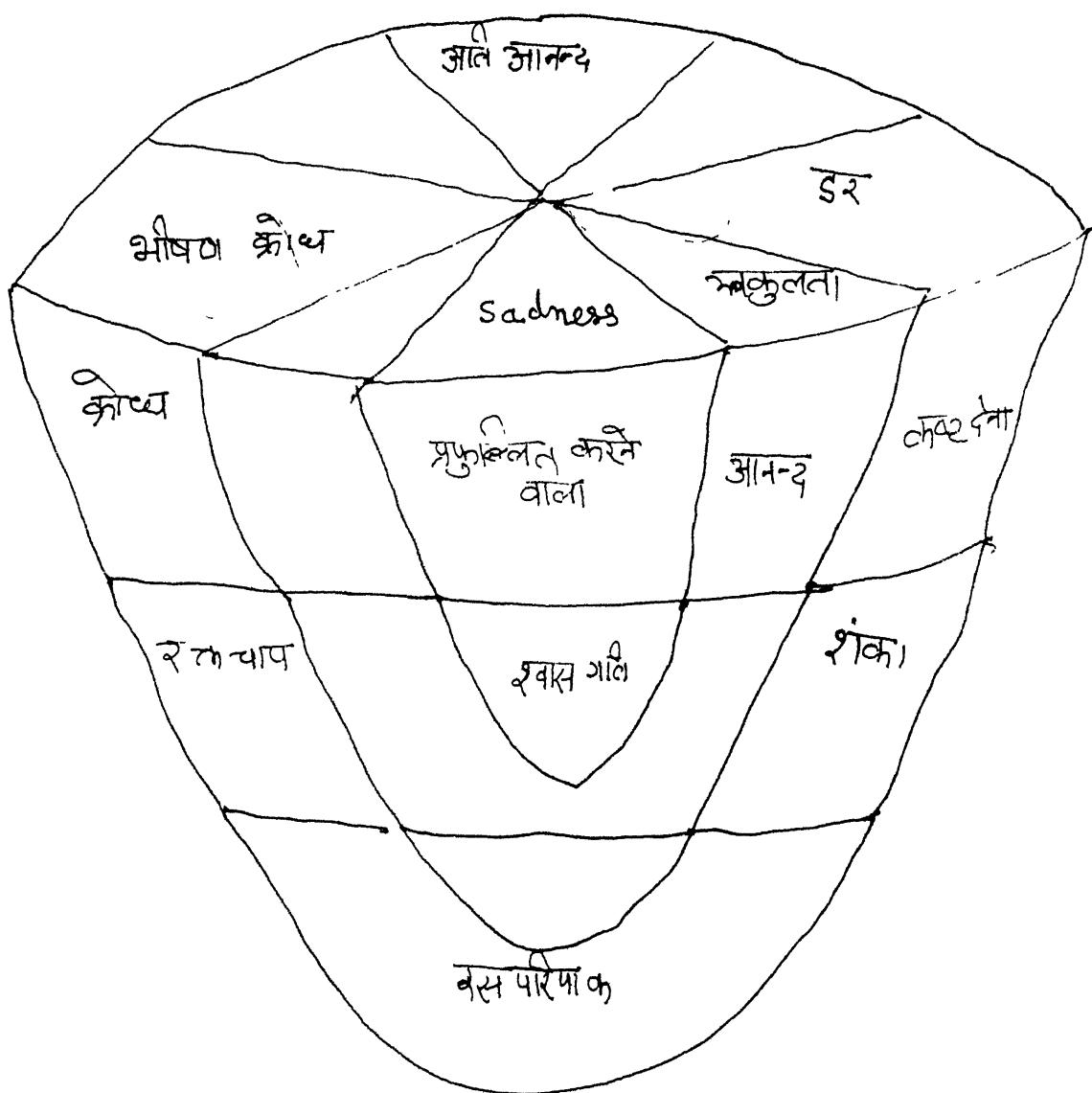
संवेग एक ऐसी प्रक्रिया है जो आती है और चली जाती है। तथा कुछ समय के लिए व्यक्ति को विलुब्ध करती है, और स्थायी भाव जैसे कि उसके नाम से स्पष्ट है स्थायी भाव है। डाक्टर मैक्डुगल के शब्दों में संवेग अनुभव का एक प्रकार कार्य की एक प्रणाली और क्रिया की एक विधि है।

स्थायी भाव संवेगों के रूप को निश्चित करता है। इस प्रकार स्थायी भाव संवेगों का कारण है, और संवेग स्थायी भाव के अनुयायी है, परन्तु दूसरी ओर संवेग भी स्थायी भाव का कारण है, और स्थायी भाव संवेग का अनुगामी है, क्योंकि संवेग से ही स्थायी भाव बनता है। एक वस्तु अथवा व्यक्ति की ओर हमारे जिस प्रकार का स्थायी भाव बन जायेगा।

मानव में नैसर्गिक रूप में संवेग होते हैं। ये सर संवेग कहलाते हैं, जैसे भय, आश्चर्य, क्रोध, शोक इत्यादि इसके अतिरिक्त कुछ संवेग क्रमश. विकसित होते हैं जैसे ईर्ष्या, प्रेम, घृणा इत्यादि। जैसे-जैसे व्यक्ति का सामायिक परिस्थितियों मे विकास होता है ये संवेग विभिन्न वस्तुओं की ओर प्रेरित होते हैं।

संगीत के भावों की अभिव्यक्ति को ही कला बताया गया है, परन्तु मनावैज्ञानिक में भावों की अभिव्यक्ति को भी संवेग कहा गया है। व्यक्ति जहाँ शब्दों का प्रयोग करने में असमर्थ होते हैं वहां पर कला प्रस्फुटित होती है" सम्पूर्णानन्द। एक व्यक्ति अपने संवेग रस जाहिर नहीं कर सकता तो वह अपने भावों को किसी कला द्वारा व्यक्त करता है जहां व्यक्ति की भाषा व बोलना समाप्त हो जाता है, तब वहां व्यक्ति संगीत द्वारा अपने भाव व्यक्त करता है। दैनिक जीवन में हमारे बहुत सारे ऐसे भाव है जिन्हें हम संगीत द्वारा व्यक्त करते हैं, जैसे- श्रृंगार, आश्चर्य, भय, करूणा।

संगीत में आठ रस-सिद्धांतो के अनुसार भाव का दो रूपों में वर्गीकरण किया जाता है -

(1) स्थायी भाव (2) संचारी भाव

रसनिष्पति का प्रथम सोपान स्थायी भाव है - स्थायी भाव एक ऐसी मनोवैज्ञनिक दशा है, जो नृत्य, काव्य तथा संगीत के आस्वादकों में सम्भवतः वर्तमान होती है। जहां तक संगीत का प्रश्न है, गायक श्रोता की मनःस्थिति संगीत प्रदर्शन अथवा संगीत श्रवण से पूर्णतः संस्कार शून्य नहीं मानी जाती स्थायी भाव का तात्पर्य इन्हीं भावों से है, जिनका संचय दैनिक जीवन के अनुभवों से निरन्तर होता रहता है।

कालिदास के अनुसार - स्थायी भाव आवश्यक रूप में होते हैं, जो कि जन्म जनमान्तर के संस्कारों का योग है। मन में स्थायी भाव रूप होने के कारण ये स्थायी भाव हैं।

संचारी भाव :-

संचारी भाव वो जो कि वह विद्युत की तरह यकायक प्रकाशित होकर कुछ ही क्षणों के बाद लुप्त हो जाता है, प्रेम, घृणा, उत्साह, भाव आदि स्थायी भाव है, जबकि शोक, हर्ष, भय इत्यादि परिस्थिति के अनुसार संचारी भाव के रूप में प्रकट होते हैं।

1- हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलास्पी, वाल्यूम -3, पेज - 473.

धर्म का स्वरूप

भारत हमेशा से एक धर्म प्रधान तथा अध्यात्म प्रधान देश रहा है, यही कारण है कि यहाँ समस्त कलाएँ, दर्शन चिंतन आदि इसी ओर उन्मुख रहे है, परिणाम स्वरूप धर्म से उनका घनिष्ठ संबध रहा है। संगीत चूकि एक कला है, अतः संगीत का धर्म भक्ति अध्यात्म से सम्बन्ध होना स्वाभाविक है, परन्तु इस सम्बन्ध पर दृष्टि डालने से पूर्व धर्म क्या है, यह जान लेना जरूरी है।

धर्म का अर्थ अथवा स्वरूप

धर्म का स्वरूप काल, स्थान जाति समाज के कारण बहुत भिन्न व परिवर्तनीय है, इसीलिए उसका सही विश्लेषण कठिन है। तथापि कुछ सामान्य तत्व हैं, जो उसे स्वर्ग की संज्ञा देते है। डॉ डी0 एम0 एडवर्ड ने कहा है, कि यदि धर्म का निश्चित रूप इसके विकासो व परिस्थितियो मे स्थिर न होता तो धर्म शब्द का निर्दिष्ट करने योग्य कोई अर्थ भी न होता। धर्म का अर्थ विभिन्न समय व स्थान मे विभिन्न रूप से लिया जाता रहा है, इसीलिए धर्म एक विश्वास, एक भावना और संकल्प की व्यवहारिक क्रिया है। दूसरे शब्दो मे धर्म भावना, बुद्धि व क्रिया का समुच्य है। कुछ दार्शनिको के मत परिभाषा के रूप मे निम्न है–

धर्म की परिभाषा –

इ0 बी टायलर – " धर्म आध्यात्मिक सत्ताओ मे विश्वास है।"

मैक्समूलर "धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृत्ति है जो मनुष्य को अनन्त सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने मे सक्षम बनाती है।"

काण्ट के अनुसार – "दैवी आदेश के रूप मे कर्तव्यों की स्वीकृति ही धर्म है।"

श्लायरमाखर – "ईश्वर पर पूर्ण रूप से निर्भर रहने की भावना मे ही धर्म का तत्व निहित है।"

फिलन्ट – "धर्म मनुष्य का ऐसी सत्ता या सत्ताओ में विश्वास है जो उससे शक्तिशाली और इन्द्रियातीत है, परन्तु वह उसके स्थायी भावो तथा क्रियाओं के प्रति उदासीन नही है।"

भारतीय संगीत का इतिहास उमेश जोशी

गैलवे के अनुसार – " अपने से परे शक्ति मे मनुष्य का वह विश्वास धर्म है, जिसके द्वारा वह अपनी भावनाओ की सतुष्टि और जीवन की स्थिरता प्राप्त करता है, तथा जिसे वह पूजा एव सेवा के माध्यम से प्रकट करता है।"

वेदो मे ऋतु, धर्म और व्रत का अनेक उल्लेख है। वैदिक मान्यता के अनुसार सारी सृष्टि और जीवन इन्ही तीन आधारो पर स्थित है ऋतु के कारण सूर्य समय पर निकलता है, चन्द्र और नक्षत्र समय पर चमकते है ऋतुवे समय पर आते है पर्जन्य समय पर बरसता है और फल तथा अन्न समय पर उत्पन्न होते हैं इसलिए ये सब बलवान ऋतावरी कहे गये है। यही ऋतु मानव जीवन मे धर्म कहलाता है। (मनु स्मृति मे 6–12) मे दस धर्म माने गये हैं तो कभी उनसे काम चलना कठिन देखकर "श्रृति स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन" ये साक्षात् धर्म घोषित किये गये। जो लोग श्रृति और स्मृति नही समझते उनके लिये सीधे आचारश्चैव साधू नामात्मन--स्तुष्टिरे च (मनु0 2–6) सदाचार और आत्म सन्तुष्टि व सर्वजनीय लक्षण सुविधाजनक तो थे किन्तु इन दोनो की पहचान भी सरल नही।

किसी बात का तुरन्त सुखद लगना एक बात है और उसका हितकारी होना दूसरी बात। बुद्ध के शिष्या ने भी एक बार उनसे पूछा था भगवन पाप क्या है और पुण्य क्या ? क्यो जो बात एक देश काल और परिस्थिति में पुण्य मानी जाती है वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति मे पाप बन जाती है कोई एक काम को करने के बाद ग्लानि मालूम हो वह पुण्य है, और ग्लानि उत्पन्न करने वाला पाप। "स्वस्य च प्रियमात्मन. और "आत्मनस्तुष्टि रेवच" का भी यही आशय है इसके विषय मे व्यास जी ने स्पष्टीकरण देते हुये सरल भाषा में कहा–

"श्रूयतां धर्म--सर्वस्व त्रुत्वाचैवावधार्यतम् आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

यह समग्र भारतीय दर्शन का सार है सत्य अहिंसा अस्तेय अक्रोध क्षमा, दया, दान आदि सब इसी एक सूत्र के भाष्य है। सारी राजनीति सम्पूर्ण अर्शशास्त्र, तार्किक व्यवहार और आचार शास्त्र इसी पारस्परिक हित–साधन और अहित निवारण के कारण मात्र है। ये एक प्रकार के समाजिक समझौते है। इसी लिये धर्म शास्त्र इन सब विषयो का प्रतिपादन करते

है। और राजनीति का लक्ष्य धर्म सस्थापन माना गया है। यह धर्म अर्थात सामाजिक नियम–मर्यादाओ का जिन्हे व्यक्ति के स्तर पर कर्तव्य कहा जा सकता है "धर्म सह अस्तित्व पर आधारित गतिशील जीवन पद्धति है। नीतिशास्त्र इसी धर्म पर व्याख्या प्रस्तुत करता है।

भारत मे धर्म के शब्दो का इतिहास, उतना ही पुराना है जितना उसकी सस्कृति। ऋगवेद मे 58 और अथर्ववेद मे 22 बार धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग मे सर्वत्र ही नकारान्त है–धर्मन्। और सायण ने इसकी निष्पति धारणार्थक कृ धातु के आगे "अन्येभ्यो ऽपि दृश्यन्ते 3–2–75 सुन से मनिन् प्रत्यय लगाकर मानी है। इस प्रकार निष्पन्न धर्मन् शब्द का अर्थ है धारण करने वाला। विष्णु (सूर्य) अपने तीन पाद न्यासों से धर्मो (धर्माणि) को धारण करने वाला इन्द्र (धन) को धारण करने वाले है (1) इन्द्र नृम्णधन के धारण करने वाले (धर्मणाम) (2) वायु धर्म के द्वारा सारे ससार मे भयो से रक्षा करता है (3) सूर्य धर्म के साथ नक्षत्रो और पृथ्वी के मध्य चलता है (4) इन्द्र ने धर्म पूर्वक पुष्पिणी औषधियो को क्षेत्रो मे स्थापित किया है (5) सनातन धर्म को कोई दूषित नही करता (6) अग्नि प्रथम या पुरानो धर्म नियम के अनुसार प्रज्जवलित होता है (7) हे मनुष्यो धर्मो (कर्मो) से युक्त ये व्रत तुम्हारे लिए है। (8) सविता अपने को दृढ करने के लिये (धर्मणे) प्रशस्ति गायक मत्रो की रचना करती है (9) अग्नि धर्मो यज्ञ कर्मो को पोषण करता है। (10) ऋतु भी धरूण है और धर्म भी धरूण है। (11) स्तोता प्रकृति के नियमो के अनुसार धर्मण स्परि सत्ताओं से फलता फुलता है। (12) पृथ्वी वरूण के धर्म (धारण करने) के कारण टिके है (13) हे वरूण अपने असावधानी या मूर्खतावश जो तुम्हारे धर्मो (नियमो–मर्यादाओ) को छोड दिया उसके लिए हम पर क्रुद्ध मत होना। (14) अग्नि धर्मो यज्ञ कर्मो का अध्यक्ष है। (15) देवों में मित्र वरूण धर्मवान है। (16) इन्द्र धर्मवान है। (17) बटग से शब्द पुल्लिंग और नपुसक दोनो मे प्रयुक्त है।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है प्रतिनिस्थि मात्र है इनका विश्लेषण करने से धर्म के ये अर्थ स्पष्ट है – (1) धारण करने वाला वह व्यक्ति देवता या वस्तु जिसके आधार पर सब कुछ टिका है, (2) समाज और जीवन के आधारभूत निमय और परम्पराये (3) दृढ करने वाला (4)

श्रीमद् भागवत – 12 श्री विजय लक्ष्मी जैन पृष्ठ 45

पुरावतनिक विधान इत्यादि विधियॉ है।

अर्थव0) मे धर्म शब्द का तीन बार पुल्लिग मे भी प्रयोग हुआ है और बृहत, सत्य तप, धर्म, कर्म आदि के साथ इसका उल्लेख है जैसे ये शब्द एक ही कोटि के हो। एक स्थान पर स्पष्ट रूप से धर्म शब्द कर्तव्य, नियम या सामाजिक मर्यादा के अन्य आधार है।

धर्म मे ईश्वर की मान्यता अनिवार्य नही और उसकी कल्पना ही सर्वमान्य है। हा अध्यात्मक्तिा भा0 धर्म की प्रत्येक शाखा मे है। जिराका प्रारम्भ स्वाभाविक जिज्ञासा से होता है –"केलेषित पतति प्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रैतियुक्त– कंनेषिता वाचामिमा बदन्ति चक्षु प्रजायन्ते। (प्रश्नोपनि0) उपनिषद इस प्रकार की जिज्ञासाओ और उनके समाधानो से भरे पडे है। भारत मे चिन्तान और विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता रही है। इसीलिए आध्यात्मिक क्षेत्र मे अनेक बार परख विरोधी विचार देखने को मिल जाते है। धार्मिक क्षेत्र मे ईश्वरवाद, सगुणवाद, निर्गुनवाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा वर्णाश्रम व्यवस्था, पुर्नजन्म, कर्मवाद, एकत्ववाद मायावाद, मोक्ष आदि के सम्बन्ध मे विभिन्न आचार्यो के अलग--अलग मत मिलते है। फिर भी दु ख त्रय की अनुभूति उससे मुक्ति और आत्मिक शान्ति प्रयास मे सभी विचारक यत्नशील रहे है। इस प्रकार पारजिक जीवन की दृष्टि से भारतीय धर्म प्रमुखत अध्यात्मवादी रहा है।

सार रूप मे हम कह सकते है कि भारतीय धर्म का दर्शन है आशिव पर शिव की और मृत्यु पर जीवा की विजय भावना। और बुद्ध की समरसता उसका सर्वभौम आधार है जैसा कि डा राधाकृष्णन ने अपनी खोज "रेलीजन एड सोसाइटी" मे कहा– Religion is the disceplіne which tauehes the coneience and helps us to struggle with evil and sordidness saves us forn greed lustand hatred, releases maoral fauter and inparts courogl in the evterforire of saving the world Pagog तो भारतीय धर्म दृष्टि धर्म दृष्टि का सही चित्र हमारे सामने आ जायेगा किसी भी देश की कला और सहित्य उसके धार्मिक और दर्शनिक चिन्तन से अनिवार्यरूपेण प्रभावित होता है और भी उसका अपवाद नही है। भारतीय धर्म का वह अर्थ यह कभी नहीं रहा जो योरोप में 'रिलीजन' का रहा है आज भी

है इसलिये जब धर्म दर्शन की बात कहते है तो उसका अर्थ 'फिलासफी आफ रिलीजन' उसी सीमा मे नही रामझा जाना चाहिये जिस सीमा के भीतर हम प्राय इस विषय को चर्चित पाते है सामान्य अपवादो को छोडकर सभी अर्थो मे भा0 धर्म की प्रमुख विशेषताये है – (1) शरीर से व्यतिरिक्त अविनश्वर आत्म या जीव या चेतना पर विश्वास (2) आत्मा से बडी सर्व–नियन्त्रक विराट सत्ता की स्थिति (3) जीवन या आत्मा की शाश्वतता (4) कर्म फलवाद जिसे नियति या प्रारब्ध भी कह सकते है। (5) पुनर्जन्म (6) मुक्ति (7) वाह्य और आभ्यन्तर शुचिता। मनु स्मृति मे भी वेदो को धर्म का मूल बताया गया है – "वेदोऽखिलोधर्ममूल'

जैमिनिसुत्र मे 'चोदनालक्षणोऽर्धो धर्म – वेद जिसकी घोषणा करे वह धर्म है।

सगीत का धर्म से सम्बन्ध :–

सगीत एक कला है, और कला धर्म का अटूट सम्बन्ध सर्वथा मान्य है। मानव जीवन मे तीन आदर्श है, सत्य, शिव, तथा सुन्दर धर्म के भी तीन सतम्भ है, कला इन्ही मे से सुन्दर को मूर्त रूप प्रदान करती है। मानव निहित चित् शक्ति ही रगो द्वारा चित्रो मे मूर्तियो द्वारा आकार ग्रहण करती है। वही शब्द (ध्वनि) के माध्यम से सगीत का रूप लती है। अत कला मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ऐन्द्रिक साधनो द्वारा होती है।

यहॉ हीगल का कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि कला आध्यात्मिकता एव ऐन्द्रिकता का विवाह है। अत दोनों मे सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। मूर्तियो (मूर्तिपूजा), ईश्वरीय चरित्रो के चित्र तथा उसके कार्यो लीलाओ से सम्बन्धित पद, उनका गायन आदि धर्म को सम्बल प्रदान करते है कला धर्म को प्रभावशाली बनाती है, उपासना–आराधना मे विभिन्न कलाएॅ मनुष्य को सहायता प्रदान करती है। दूसरी ओर धर्म कला की रक्षा करता है, उसे परिमार्जित कर उच्चता प्रदान करता है। जब–जब भारत पर दूसरी जातियो के आक्रमण हुए उन्होने हमारी संस्कृति व कलाओ को नष्ट करना चाहा तो धर्म ने (धार्मिक नेता तथा धार्मिक स्थलो) उन्हें प्रश्रय देकर बचाए रखा। हवेली सगीत के रूप मे मुगलो के चगुल से बचकर काव्य व सगीत अपने उसी प्रचलित रूप मे (ध्रुवपद धमार शैली) मन्दिरो मे ही सुरक्षित रह पाया। इसी प्रकार

डा सुनीता शर्मा –भारतीय संगीत का इतिहास धर्मदर्शन पृष्ठ 386

जब जब पतोन्मुख हुई, उन पर अनैतिकता का प्रभाव पडा, धर्म प्रभाव के कारण ही वे अपना परिष्कृत व उज्जवल रूप बनाए रखने मे समर्थ हुई। अत कला और धर्म दोनो ही एक दूसरे से पुष्ट और उन्नत होते है।

विभिन्न कलाओ की तरह संगीत भी धर्म से सदा जुडा रहा है। वैदिक काल से आज तक सगीत व धर्म का यह सम्बन्ध बराबर रहा है। जिस प्रकार सगीत दो रूपो शास्त्रीय तथा लोक सगीत रहा उसी प्रकार सगीत द्विधारा मे बहता रहता है। अलौकिक सगीत (धर्म प्रधान) व लौकिक सगीत। स्वय भगवान शकर और ब्रह्मा से लेकर मतग, भरत नारद आदि ने सगीत को आध्यात्म की सहयोगिनी बनाकर रखा। प्राचीन ऋषि मुनि अपने अराध्य देव की स्थिर व तल्लीन हो सगी द्वारा आध्यात्मिक अलौकिक उपासना करते थे। दूसरी ओर इन्द्र आदि देवताओ के दरबार मे गायन वादन, नृत्य का आयोजन मनोरजन हेतु चलता था। अप्सराओं द्वारा सगीत का प्रयोग करा ऋषियो की तपस्या भग करने के प्रयास भी किये जाते थे। इस प्रकार के सगीत पूर्णत. लौकिक थे। वैदिक काल से लेकर आज तक के कुछ प्रमुख कालो (ऐतिहासिक) मे सगीत तथा धर्म का क्या सम्बध रहा, इसका उल्लेख हम करेगे।

शैव परम्परा भा0 हिन्दू धर्म की प्राचीन परम्परा है शैव धर्म का सगीत से सम्बन्ध आरम्भ से लक्षित होता है डॉ भोले शकर के अनुसार "जिस प्रकार 'आनन्द शक्ति के द्वारा 'अनुत्तर' पर शिव तत्व का प्रव्यभिज्ञान होता है, ठीक उसी प्राकर व्यजना शक्ति काव्य के आत्म स्वरूप ध्वनि को जो स्वयं शब्द ब्रह्मा (स्फोट) है, अभिव्यक्ति का साधक सहृदय को उस रसो हम की स्थिति का प्रत्याभिज्ञान करती है।

कवि लोचन के अनुसार— स्फुटीकृतार्थवेचित्र बहि प्रसरदायिनीम्।
तूर्या शक्ति महं बन्द्र प्रत्यक्षार्थ निदिर्शिनीम।

अर्थात तूरीपाशक्ति अर्थ वेचित्रय को स्फुट अथवा प्रगट कर उसे (लोचन उछोत 4) फैलाती है तथा प्रत्यक्ष अर्थो का निर्देश कराती है। मैं उसी तुरीपा शक्ति (व्यजना शक्ति,

---

रूक्मणी देवागन लेख 1987 पृष्ठ 17 संगीत पत्रिका (हाथरस)

आनन्दशक्ति, नादशक्ति) की वन्दना करता हूँ। शैव मतानुसार बिन्दु को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण कहा गया है। बिन्दु नादात्मक शब्द रूप मे व्यक्त होता है। सगीतज्ञ इसे नादसाधना कहते है। यही नाद वार्णो का रूप धारण कर लेता है। अ से ः तक वर्ण स्थूलता प्राप्त करते है और स्वर सा,र,ग,म,प,ध,नि–रजकता को।

सुस्वर वर्ण विशेष रूप रागस्य बोधक द्वेधा।

नादातम च दवेमय तत्क्रमतोनेकमेकं तु।। (सोमदेव कृतराग विबोध 7)

अर्थात रूप उसको कहते है जो सुन्दर स्वर एव वर्णो द्वारा राग को सम्मुख उपस्थित कर देता है वह दो प्रकार का है–नादात्मक तथा देवमप। नादात्मक रूप अनेक प्रकार के हो सकते है, परन्तु देवमय रूप एक ही होता है।

"रागमाला" म प्रत्येक राग को देवी देवताओ का स्वरूप देकर राग का निर्माण किया गया है। "सगीत दर्पण" श्लोक (170--72) मे भगवान शिव के पाच मुखो से पाच रागो तथा पार्वती जी के मुख से छठे राग नट नारायण को निकला हुआ माना गया है।

"शिव शक्ति समायोगाद्रागाणा सम्भवो भवेत।

पन्चस्यात् पन्चराग भ्यु. वष्ठन्तु गिरिजामुखात् ।।

मद्दौवक्रान्तु श्री रागो वामदेवाद्धसन्तक।

अद्यो रात भैरवोद्भूत पुरूषात् पन्चमो भवेत्।।

इशनाख्यान्मेधरागो नाद्दोरम्भे शिवद्भूत।

गिरिजाया मुखाल्लास्ये नट नारायण भवेत्।।

अर्थात शिव के सद्दोजात् मुख, वाम मुख तथा अघोर मुख से 6 राग 36 रागनिया प्रकट हुई।

जैसे सगीत दर्पण के श्लोक मे भैरव राग के ध्यान द्वारा शिव का स्मरण किया गया है।

गगाधर. शशि कलातिल कास्त्रिनेत्र।

सर्वविभुषिततनृगजति वास।।

संगीत अष्टछाप, स्वामी गोकुलानद – 34

सूफी साहित्य डा महमूद अयूब खॉ – 56

भास्वत्त्रिशूलक एव नृमुडधारी।

शुभ्राम्बरो जयति भैरव आदि राग ।।

अर्थात जिसके मस्तक से गगा बहती है जिसके मस्तक मे चन्द्रकला का तिलक है जिसके तीन नेत्र है, जिसके शरीर पर सर्प विराजमान है, जिसने अपने शरीर पर हस्तिचर्म धारण किया है जिसके हाथ मे त्रिशूल और मुण्डमाला है और जो श्वेत वस्त्र शाण किये हुये है। ऐसा आदि भैरव राग है। इसमे भैरव राग के गभीर तथा रूद्र भाव को उसके प्रतीकात्मक देवता शिव द्वारा व्यक्त किया गया है।

वैष्णव परम्परा मे भी धर्म मे सगीत का विशेष महत्व दर्शाया गया है वैष्णव सम्प्रदाय के चार अलग–अलग धाराए है, इनके मूल प्रवर्तक भगवान विष्णु माने जाते है। वैष्णव सम्प्रदाय ने सगुण भक्ति को श्रेष्ठ मानकर उससे सात्विक आनन्द का अनुभव किया जब आराधक अथवा उपासक अपने इष्ट आराध्य देव की पूजा सेवा अर्चना भिन्न–भिन्न विधियो से करता है, तो इसे नवधा भक्ति (अर्थात नौ प्रकार की उपासना विधिशा) कहते है। जिनका नारद ऋषि ने भी भागवत पुराण मे वर्णन किया है। उपासना के ये नौ विधियां श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वाद, सेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, साख्य (साख) एव आत्म निवेदन है।

वैष्णव धर्म के प्रवर्तक शकराचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानुजा, माधवाचार्य, रामानन्द, वल्भाचार्य है जो धर्म और सगीत से सम्बन्ध अपने दर्शन सिद्धान्त के आधार पर स्थापित किया।

भा0 हिन्दू सस्कृति मे वैष्णव धर्म का एक विशाल अत्यन्त प्राचीन इतिहास जिसका वर्णन वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथो मे हुआ इसलिए यह कहना गलत नही होगा कि पिछले सहस्र वर्ष का भा0 जीवन वैष्णव जीवन है। साहित्य सगीत, कला, दर्शनशास्त्र आदि किसी भी क्षेत्र मे देखें तो वैष्णव परम्पराओं का एकाधिकार है। निम्बार्काचार्य जो वृन्दावन ग्राम के थे राधा कृष्ण के अटूट प्रेम के रसमयी धारा को अपने दर्शन और अपने प्रवचन मे प्रस्फुटित किया। इनके सिद्धान्त तन्द्वैतद्वैत में जीव ब्रह्मा का ही अश माना जाता है।

वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय भक्ति द्वारा सगुण ब्रह्मा की उपासना की जाती है इस सम्प्रदाय

अद्वैत वेदान्त श्री राममूर्ति शर्मा – पृष्ठ 274

मे रसमय लयपूर्ण स्वरो द्वारा वैष्णव धर्म के अनुसार मुक्ति पायी जाने लगी। इसमे ईश्वर का भजन कीर्तन गायन और व्याख्यान करता है, भगवान भी इन लोगो से अत्यधिक प्रसन्न होते है।

देवालयो का सगीत भजन–कीर्तन परम्परा की विधियो को अष्टछाप के गुरूओं और कवियो ने अपनाया इस समय अध्यात्मिक सगीत की शैलियॉ थी (1) भजन–कीर्तन तथा ध्रुवपद धमार, भजन, कीर्तन शैली जनसाधारण हेतु प्रचलित थी जबकि ध्रुवपद धमार की गायकी शास्त्रीय सगीत के गायको ने अपना धर्म का प्रभाव सगीत पर मुस्लिम धर्म पर भी पडा। अमीर खुसरो, मलिक मोहम्मद जायसी, अब्दुल रहीम खान, रसखान, कबीर तथा अन्य उदाहरण है जो परम मनीषी एव रस सिद्धि कवियो और सूफी सन्तो को भुलाया नही जा सकता उन्होंने अपनी मधुर वाणी द्वारा अत्यधिक प्यासे को न केवल शात किया है वरन् उनके जीवन का महानता की ओर अग्रसर भी किया है।"

भारतीय आचार्यो ने सगीत को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो पुरूषार्थो की प्राप्ति के सर्वोत्तम उपाय के रूप मे स्वीकार किया है "सगीत रत्नाकर" में स्पष्ट है

"गीतने प्रीतते देवः सर्वज्ञः पार्वती पति।
गोपीपति रन्तोऽपि वश ध्वनि वशगत।।
साम गीतिरतो वाह्य वीणा सक्त सस्वती।
क्रिमन्यो यक्ष गन्धर्व देव दान वमानव।।
अज्ञात विषयास्वादो बाल पर्यडक् कागत।
रूद्रन्गीतायृत पीत्वा हर्षोत्कर्ष प्रपधने।।
वनेचरस्तृराहार शिचता मृगशिशु पशु
लुव्यो लुब्ध करडग्ीते गीतेचच्छति
तस्य गीतस्य कहत्मय के प्रशसंतु
धर्मार्थ काममोक्षरत मिदकैक साधनम्"

अष्टछाप काव्य संस्कृति का मूल्यांकन डा महारानी टंडन –पृष्ठ 50

हृदय गत भावो के उद्घाटन के सफल साधन के रूप मे सगीत की महिमा सर्वत्र गाई गई है, यह सभी लोगो को आनन्द का वरदान देकर अपनी ओर आकृष्ट करता है पशर्वेति शिशुर्वेति वेत्ति गानरस करीब''

अन्य साधनो से प्राप्त सुखों के पहले या बाद मे दु ख की सम्भावना होती है किन्तु दुख पूर्ण ससार मे सगीत से प्राप्त सुख आनन्दमय है।

''वीणा वादन तत्वज्ञाः श्रृवि जवि विशारद।

ताल ज्ञाश्चा प्रयासेन मोक्षमार्ग प्रयच्छति।''

भक्ति मार्ग में तो सगीत का महत्व और भी अधिक माना गया है संगीत के साथ भगवदन करने से मन संगीत की मनोहर शक्ति द्वारा शीघ्र ही ईश्वर के नार रूप मे लीन हो जाना है। इसके द्वारा साध्य और साधना दोनों ही सुख रूप हो जाते है सगीत का आनन्द से बढकर माना जाता है। तभी तो देवर्षि नारद जैसे ऋषि जीवनमुक्त हो जाने पर भी वीणा वादन नही छोड़ पाये। भारतीय दार्शनिक परम्परा मे मानव जीवन का चरम लक्ष्म आत्म लाभ माना जाता है। इसी आत्मोलब्धि मे मानव जीवन की सार्थकता मानी जाती है। उपनिषदों के अनुसार यह आत्मा पचकोश (आन्नमय) (प्रारामय) (मनोमय) (विज्ञानमय) आनन्दमय से निर्मित है। इसमे अन्तिम मे आनन्दमय कोश सर्वाधिक महत्वपूर्ण है परमतत्व का साक्षात्कार इस आनन्दमय कोश के द्वारा ही सम्भव है, सगीत इसी आनन्दमय का माध्यम है। सगीत इसी आत्मानन्द का माध्यम है। संगीत के स्व की व्याख्या में कहा जाता है ''स्वतः रज्जयति इति स्वरा.'' स्वरो का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि कर्णतन्त्रीयों में प्रवेश करते ही वह अन्तशचेतना को सहज रूप से अलौकिक आनन्द प्रदान करने लगता है। और श्रोता घण्टों वाह्य व्यापार विस्मृत कर समाधिस्थ सा आनन्द की अनुभूति करता रहता है। इसलिए भारतीय परम्परा मे संगीत का प्रयोग एक ओर तो दार्शनिक योगियों भक्तो आदि ने परमानन्द की प्राप्ति के लिए किया तथा दूसरी ओर सामान्य नागरिकों ने इसे सामाजिक उत्सवों तथा व्यक्तिगत मनोरंजनों का साधन बनाया दर्शन की विविध परम्पराओ वैष्णव, शैव, शक आदि

कालीदास साहित्य सदन, पृष्ठ 15, संगीत का महत्व सुषमा कुलश्रेष्ठ

मे अनेक आपस मतभेद होते हुये भी संगीत का महत्व निर्विवाद रूप से माना जाता है यह सगीत की अध्यात्म निष्ठा का परिणाम है। वस्तुत. भारत मे न केवल संगीत अपितु अन्य कलाओ को भी अध्यात्म परक दृष्टि से देखा जाता है। भारतीय दार्शनिको के अनुसार कला वह है जो मुक्ति के लिए उपकारक हो। कला का अन्तिम लक्ष्य भौतिक ससार से ऊपर उठकर ऐसी आनन्दमय अवस्था को प्राप्त करना है जिसमे भौतिक द्वन्दो की सत्ता की न हो। जिस प्रकार अन्य भारतीय ज्ञान का स्रोत वेद माना जाता है उसी प्रकार सगीत का सम्बन्ध वेदो से है और इसकी परम्परा अनादिकाल से है।

मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त है, अत स्वाभाविक है कि कलाओ को इस पूर्ति मे सहायक होना चाहिए। सगीत इस कसौटी पर खरा उतरता है। भगवान कृष्ण द्वारा बताए गये मोक्ष प्राप्ति के मार्ग मे एक है भक्ति योग इस भक्ति का साधन है, सगीत। इसके अलावा नाद ब्रह्मा की उपासना सगीत द्वारा आनन्द प्राप्ति का उद्देश्य भी प्राप्त किया जाता है। संगीत से प्राप्त होने वाला आनन्द पारलौकिक है, जिसे ब्रह्मानद सहोदर कहा गया है। गायन वादक नर्तक अपनी कला मे इतने लीन व भाव विभोर हो जाते है कि इस ससार से अपने आपको भूल जाते है आनन्दाश्रु बहाने लगते है। यही स्थिति उस अलौकिक आनन्द की है, त्यागराज विष्णुदिगम्बर, हरिदास, सूर मीरा आदि इसी आनन्द मे डूब जाते थे। इनमे ईश्वर की प्रेम भावना इतनी प्रबल थी कि वह सगीत के माध्यम से फूट पडती थी।

इससे ज्ञात होता है कि कला उद्देश्य का चाहे पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार हो या भारतीय विचारधारा के, संगीत उन सबकी पूर्ति करने में समर्थ है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो पुरूषार्थो का साधन है इसलिए कहा जा सकता है कि सगीत एक आदर्श कला है।

भक्ति का स्वरूप :–

"भज सेवायम् धातु से 'स्लियांक्तिन्' इस पाणिनीसूत्र से 'क्तिन' प्रत्यय होता है, जिसका अर्थ होता है वह उपाय जिसके द्वारा आनुकूल्य सम्पादन किया जाता है, यह अनुकूलता अनेक विषयक होती है, विषय भेद से भक्ति का स्वरूप भेद नाम भेद भी हो जाता है,

---

राजेन्द्र बाबू का कथन–

सगीत का महान गुण है, चित्तवृत्तियो को शात करके श्रोताओ को तन्मय कर देता है भक्त का एक मात्र आधार संगीत है।' (भक्ति संगीत अंक)

"पूज्येष्वनुरागो भक्ति" पूज्ववर्ग मे अनुराग नाम भक्ति है--इस वचन के अनुसार वह अनुरक्ति भगवद्विषयिणी जो ब्रह्मण तथा माता पिता विषयिणी होने पर भक्ति पद वाच्य होती है, वही पुत्र विषयत्वेन वात्सल्य रति, इष्टविषयत्वेन प्रयोरति मित्र स्नेह विषयिणी सख्य रति तथा सेव्य सेवक भाव सम्बन्धिनी दास्यरति कहलाती है। इसके आगे चलकर 'तत्वमसि' उपासक वेदान्ती लोग "स्वरूपानुसधान भक्ति रित्यभिधीयुते।" अपने स्वरूप का अनुसधान ही भक्ति है यों कहते है इस भक्ति के लक्षण पर ही चित टिकता है। वैसे तो सब प्रकार की उपास्यगत पर ब्रह्मा परमात्मा का ही अवगाहन करती है। क्योकि–

"अकाम सर्वकामोव मोक्षकाम उदारधी।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरूष परम्"

परब्रह्मा परमात्मा का अनुराग एव श्रद्धापूर्वक श्रीमद्भागवत भजन मोक्ष काम सकाम और निष्काम रागी के द्वारा अनुष्ठेय है अतएव तस्यैव हेतो प्रयतेन कोविदो न तभ्यते वद्ध मता मुपर्यध

भक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध मे श्री मद्भागवद मे हमे भक्ति का सम्पूर्ण स्वरूप लक्षण लक्ष्य सहित उपलब्ध होता है भक्ति की परिभाषा भगवान कपिल ने अपनी मॉ को देवहूती से बताया–

"देवाना गुणलिगानाम् आनुश्रविककर्मणाम्
सत्तव एवेकेमनसो वृतिः स्वाभाविकी तु यु."

इन्द्रियो और मन की केवल "सतव" की ओर ही अकारण सहज वृत्ति को भगवान कपिल ने भक्ति बताया है, प्रश्न ये है कि सत्व क्या है। समस्त भगवती टीकाए सत्व का अर्थ विष्णु करती है जो भगवत समस्त है। भागवतकार वासुदेव भगवान को सत्तवात्मा कहते हैं।

"वासुदेव भागवति सत्तावात्मनि दृढा भति।" 6/2/2

एव भगवान के प्रति मन की अकारण सहज वृत्ति को भी कहा है।

जैसे गंगा का प्रवाह सागर के प्रति होता है –3/2/9

रूक्मणी देवांगन लेख – संगीत पत्रिका पृष्ठ 167

भागवत में विष्णु के त्रिविध रूप है वासुदेव विराट और ब्रह्मा अत भक्ति के स्वरूप को निर्धारित करता है। मन की सहज वृत्ति विषयोन्मुखी रहती है। इसे विष्णु मुखी करना है। पहले विषया से छुडाना है। इसके तीन उपाय है ज्ञान, योग और भक्ति।

"बसुदेव भगवति भक्ति योग प्रयोजित ।

जयत्याशु वैराग्यगं ज्ञान ब्रह्मा दर्शनम् 3/32/23

भक्ति से स्वत वैराग्य उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य भक्ति नही करेगा तो फिर वैराग्य उत्पन्न करने के दुख के अलावा कोई उपाय नही। बुरे कर्मो से छूटने के दो ही उपाय है। प्रथम अनुभवी पुरूषो की बातो को मनाना उन पर चलना या फिर स्वय अनुभव प्राप्त करके सीखना उपाय है।

बुद्धिमान को उसी के लिये प्रयत्न करना चाहिए जिससे जन्म मरण के बन्धन का पाश टूट जाये जन्म मरण पाप का उच्छेद पर ब्रह्मा परमात्मा के अनुग्रह के बिना सर्वथा असम्भव है। उन्ही के अनुग्रह सम्पादनार्थ भक्ति मार्ग का अवलम्बन आवश्यक है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति इस श्रुति के अनुसार आत्मा ही परम प्रेमास्पद होने के कारण उसका अन्वेषण स्वरूपास्थिति ही पराभक्ति है। अतएव परा और अपना भेद से भक्ति दो प्रकार की बताई जाती है परा भक्ति स्वरूपानुसधान और अपना भक्ति देवादिविषयिणी है।

रामचरित मानस मे गोस्वामी तुलसी द्वारा सर्वसुलभ भक्ति मार्ग—

"कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा।।
सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई।।
मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तो कहहु कहा विश्वासा।।
बहुत कहउँ का कथा बडाई।

श्रीमद भागवत – पृष्ठ 272

एहि आचरन बस्य मै भाई।।

प्रीति सदा सज्जन ससर्गा।

तृन सम विषय स्वर्ग अपबर्गा।।

भगति पच्छ हठ नहि सठताई।

दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।।" उत्तरकाण्ड

भगवता कार कहते है भक्ति से बिना दुख पाए सहज वैराग्य उत्पन्न होता है, ऐसी भक्ति नव विधि लक्षन वाली है।

"श्रवण की तन विष्णो स्मरण पादसे वनम्।

अचर्न वन्दन दास्य सख्य मात्मनिवेदम्।" 7/5/23

यह भक्ति की प्रथमावस्था है। इस स्तरमे भगवान विनम्रगित होते है भक्ति इस प्रारभिक अवस्था मे अपने इष्ट देव का ही ध्यान नाम जप कीर्तनादी करेगा अन्य देव को सर नही झुकाएगा।

गोस्वामी जी ने वृन्दावन बॉके बिहारी के सामने सर नही झुकाया धनुर्धन बनने की र्शत लगा दी।

"तुलसी मस्तक तब नवे जब धनुष वाण लेव हाथ।"

यह इष्ट साधना है भक्त अपने भगवान की सेवा मे यथा शक्ति लगा रहना चाहता है।

"ईश्वरी जीफलथा प्रविष्टो भगवानिति।

विचाच्युक्तद वस्तुतरा न वच

एव सर्व परमार्थभुतु।" 17/56/53

अब सबको प्रणाम करना अभक्ति हो गई। अब जीव अपेक्षा अभक्ति हो गई और भूत अपेक्षा की मूर्ति पूजा को भागवतकार भस्म हवा से स्थापित करके एवं अव्यय भी लगा देते है।

भक्ति मार्ग कितना सुलभ है जिसमें यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि योग इन अष्टागों क आवश्यकता नही न जप तप अथवा व्रत की सरल स्वाभाव मन

(मित्ताक्षरा प्रकाश टीका सहित) यज्ञवल्क्य स्मृति पृष्ठ 26

मे कुटिलता न रखना कुछ मिल जाय उसी मे सन्तोष ये ही भक्ति का स्वरूप के मुख्य लक्षण है। भक्त न किसी से वैर विरोध रखता है न ही किसी से आशा अथवा भय मन पाप क्रोध रखता है स्वरूप का समझता है, भगवनजनो की सगीत म रमण करता है उसके लिये नरक स्वर्ग अपवर्ग समान होते है। तथा इस प्रकार जो मनुष्य ज्ञान हठ कर्म हठ छोडकर भक्ति हठ करता है वह सुखी होता है।

ज्ञान मार्ग केवल मुक्ति दायक है पर है अतिक्लिष्ट। उसके साधन भी है उसमे विघ्न भी अनेक आते है उसमे मन मे आवलम्बन भी नही रहता है। यदि कोई ज्ञान मार्ग से तर भी जाये तो भी उसके लिये भक्ति आवश्यक है भक्ति के बिना कोश ज्ञान पुन· पतन की ओर ले जाता है।

वह भक्ति - सत समागम के बिना कहॉ

कर्म मार्ग से पुन· ज्ञान मार्ग पर आना पडता है उसमे भक्ति आवश्यक है।

भक्ति मार्ग स्वतत्र मार्ग है गोस्वामी जी के शब्दो मे वह सम्पूर्ण गुणो का खान है।

"अर्चादावर्चयेतावदीश्वर मा स्वकर्ममृत
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेत्ववस्थितम्" 3/21/25

और जब भगवान की सत्ता की अनुभूति सर्वभूत मे होने लगे प्रत्यक्ष देवता की उपेक्षा, अवमानना करके उसके प्रतीको को पूजना उसी प्रकार से असगत अनुचित और अपराध है, जैसे प्रत्यक्ष प्रियतम को छोडकर उसके चित्रादि का ध्यान करना। अत· भागवतकार स्पष्टता दान मान मैत्री आदि सामाग्रियों से भगवान की पूजा करने का विधान है।

"अथमां सर्वभूतेषू भूतात्मान कृतालयम्
अर्हयेद्देन मानाग्या मैत्रयभिन्ने" 3/21/26

इसलिए ब्रह्मा जी ने सर्वभूतदया को श्रेष्ठ दया की अपेक्षा कही श्रेयस्कर पूजा सामाग्री बताया है क्योकि भगवान सर्वदया से अतीव प्रसन्न होते है।

"नाति प्रसीदति तथा पचितोपचारैघित· सुरगणैह्यदि व्रद कामै·

यत्सर्वभूत दया यासदलभ्य यैकीनाना जनेष्व वहित सुहृदन्तरात्मा।।" 3/12

भगवतकार ऐसे भक्त और भक्तिके माध्यम को बताता है

"ईश्वरे तदधीनेषु बालि शेषु दिष्त्सुन्व।
प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा य करोति समध्यग ।।" 2/56

विराट भक्ति का वर्णन गोस्वामीजी ने भी किया है।

नव विधि भक्ति की

भक्ति की सबसे अधिक आवश्यकता श्रावण है, श्रावण न हो तो कीर्तन कैसा, कीर्तन से स्मरण बना रहता है। जहाँ पादसेवन होगा अर्चन भी आ जायेगा, अर्चन वन्दना के बिना अधूरा ही रह जायगा तब दास भाव मे जायेगा। फिर यही दासभाव सख्य भाव मे परिणत हो जायेगा अन्त मे स्वभाव आत्मनिवेदन रूप हो जायेगा। भक्त की भक्ति जब चरम सीमा को पहुँच जायेगी तब उसकी दशा भी स्थितप्रज्ञ ज्ञानी की सी हो जायेगी फिर ऐसे भक्त को भगवान क्या न गले लगायेगे।

यद्यपि ज्ञान मार्ग सर्वोच्च माना जाता है वह मोक्ष तक पहुँचता है तथापि वह क्लिष्ट है कर्म मार्ग भी क्लिष्ट है। निष्काम कर्म तो नितान्त कठिन है। सकाम कर्म बन्धन मे डालने वाला है, इसलिए सर्वसुलभ मार्ग है भक्ति मार्ग।

वेदो मे भक्ति का स्वरूप

वेद के सम्बन्ध मे कई प्रकार की मिथ्या है और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुयी है। इनमे एक यही भी कि वेद मे भक्ति प्रेरक भावनाऐं उतनी विषद नहीं है जितनी अन्य ग्रन्थो में विशेषत मध्यकालीन भक्तो की वाणी मे है। एक धारण यह भी है वेद मत्र इतने कठिन है कि सामान्य जन के लिए समझना कठिन है। लेकिन वास्तविक सत्य यही है। वेद स्वय इतने कठिन नही जितना भाष्कारो ने कठिन बता दिया वेदो के सस्कृत उसे सस्कृत से कई अंशो मे भिन्न है जिसे बाल्मीकि रामायण, महाभारत और गीता पढते हैं पर वेद मे प्राय. देवामिः का प्रयोग होता है वेद का वेद से समझने के लिए पूर्ण श्रद्धा के साथ इसका अध्ययन करने का यदि

श्रीमद् भागवत पृष्ठ 276

प्रयत्न किया जाय तो हम कह सकते है कि सारी दिक्कते दूर जायेगी गुरूजनो और विद्वत्पुरोणो से नम्रतापूर्वक शका निवारण तो करते ही रहना चाहिए।

भक्ति का स्वरूप – वेद वस्तुत भक्ति के आदि शास्त्र है। यदि हम भक्ति का स्वरूप समझ लेगे तो वेद मे वर्णित भक्ति तत्व को समझने मे सुगमता होगी भक्ति का लक्षण शास्त्रो मे इस प्रकार किया गया है। "सा परानुरकिरी श्रये " अर्थात परमेश्वर मे अविचल और एकन्तिक भावना और आत्म समर्पण की उत्फट आकाक्षा को 'भक्ति कहते है।

हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि भक्ति शब्द "भज् सेवायाम्" धातु से 'क्तिन' प्रत्यय लगा सिद्ध होता है अर्थात भक्ति हृदय की उस भावना का नाम है जिसमे साधक जहॉ एक और पूर्णभाव से ब्रह्म मे अनुरक्त हो और सर्वतोभाषेन अपने का ब्रह्मार्पण करने वाला है वहॉ साथी ही ब्रह्मा द्वारा रचित इस सारी सृष्टि के प्रति सेवा की भावना रखने वाला भी हो।

ऋगवेद के शब्दो मे--

"मित्रस्यह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाधि भूतानि समीक्षन्ताम्।"

वेद कहता है – मै सब प्राणियो को मित्र का और सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखने वाले हो।

श्रीमद्भागवत मे भगवान ने कहा है कि साधको के भाव के अनुसार भक्ति योग अनेक प्रकार से प्रकाश होता है क्योकि स्वभाव और गुणो के भेद से मनुष्यो के भाव मे भी विभिन्नता आ जाती है ।।7।। जो भेद दर्शी क्रोधी पुरूष हृदय मे हिंसा, दम्भ अथवा मत्सर का भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है, ।।8।। जो पुरूष विषय यश और ऐश्वर्य की कामना से प्रतिमदि से मेरा भेदभाव से पूजन करता है, वह राजस भक्त है।।9।। जो व्यक्ति पापो का क्षय करने के लिए परमात्मा को अपर्ण करने के लिए पूजन करना कर्तव्य है। इस बुद्धि से मेरा भेदभाव से पूजन करता है वह सात्विक भक्त है ।।10।। जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहती रहती है उसी प्रकार मेरे गुणों मे श्रवण

वेद रहस्य – भगवत् संकल्प चौथा सूत्र पृष्ठ 65

मात्र से मन की गति का तैल धारा वत् अविछिन्न रूप से मुर्छ सर्वान्त योगी के प्रति हो जाना तथा मुर्छ पुरूषातम के निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह निर्गुण भक्ति योग का लक्षण कहा गया है। ||11||12||13||

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वर्ता और दण्डनीति ये चार विधाये तथा चार व्यहतियॉ भी ब्रह्माजी के चार मुखो स उत्पन्न हुयी है। उनके हृदयाकाश से "ॐकार" पकट हुआ है ||44|| उनके रोमो से उष्णिक, त्वचा से गायत्री, मास से त्रिष्टुप, स्नायु स अनुष्टप, अस्थियो से जगती है मजा से पंक्ति और प्राणो से वृहती छन्द उत्पन्न हुआ ऐसे ही जीर स्पर्श वपर्ण "कवर्गादि" 'पन्चवर्ग' और 'देह खरवर्ण" अकारादि कहलाए |45—46| इनमे इन्द्रियो के ऊष्मवर्ण (श ष स ह) और बल को अन्तस्थ (य र ल व) कहते है तथा उनकी क्रिया से विषाद, ऋषभ, गन्धार, षडश मध्यम, धैवत और पन्चम ये सात स्वर हुये ||47|| ब्रह्मा जी के शब्द ब्रह्म स्वरूप है तथा उनसे परे जो सर्वत्र परिपूर्ण परब्रह्मा है, वही अनेक प्रकार की शक्तियो से विकसित होकर इन्द्रादि रूपो मे भास रहा है |48||

सब धर्मो मे शिह का मूल सेवा है, सेवा किये बिना कोई धर्म सिद्ध नही होता अत सब धमो की मूलभूत सेवा ही जिसका धर्म है वह शुद्ध सब वर्णो में महान है। ब्राह्मण धर्म मोक्ष के लिए है, क्षत्रिय धर्म भोग के लिए है, वैष्णव धर्म अर्थ के लिए है, शूद्र धर्म 'धर्म' के लिए है।

इस प्रकार प्रथम तीन वर्ष धर्म अन्य पुरूषार्थ के लिए है किन्तु शूद्र का धर्म स्व पुरूषार्थ के लिए अत। इसकी वृत्ति से ही भगवान प्रसन्न हो जाते है। सही अर्थ मे सच्चा आध्यात्मिक जीवन ही धर्म है।"

सगीत का भक्ति का सम्बन्ध

हमारी संस्कृति मे भक्ति और संगीत का अटूट सम्बन्ध है। यहॉ तो पद पद पर भक्ति के साथ सगीत पुराना बन्धन सुदृढ है। एक दूसरे से कभी अलग नहीं रह सकता। वैदिक संसकृति को कहना चाहिए कि संगीत भक्ति के ही लिए है, भक्ति के ही अनुषडिक कर्म,

---

श्रीमद् भागवत पृष्ठ 172

उपासना, ज्ञान आदि की भूमिकाओ तक सगीत का कार्य क्षेत्र सीमित है। इन्ही मे उनके राष्ट्र, जाति, धर्म आदि की भूमिकाओ तक सगीत का कार्यक्षेत्र सीमित है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार जोर्ज बुलर्स ने बडे ही सुन्दरता से अपनी पुस्तक "The Origin of Universal Devition" मे लिखा है इस तथ्य पर विचार करते है कि विश्व सगीत के द्वारा ईश्वर अर्चना का भाव कैसे फैला कहॉ से उसकी मूल उत्पत्ति हुई तो हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि यह सगीतिक उपासना का भाव विश्व को भारत के वैदिक युग से प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम वैदिक युग मे इस तथ्य मे विश्वास किया गया कि ईश्वर की सत्ता सगीत से पृथक नही है, यदि हम उसे रिझाना चाहते है उस तक पहुँचना चाहते है तो सगीत के माध्यम को पकड ले, यही सुन्दर माध्यम आपको पृथ्वी से स्वर्ग के दिव्य प्रागण मे पहुँचा देगा। हमारे यहॉ गिरजा-घरो मे उपासा के समय जो घन्टनाद किया जाता है, उसकी मूल प्रवृत्ति मे सगीत का ही मौलिक भाव प्रस्फुटित हो रहा है। जिससे एक विशाल जन समूह एकत्रित हो जाता है, उन घन्टो के स्वरो मे कितना सगीत के द्वारा अपने प्रभु को स्मरण करने की मौलिक भावना हमें भारत के वैदिक युग से प्राप्त हुई। हमारा तो यह विश्वास है कि वैदिक युग से ही सम्पूर्ण विश्व मे सगीत मय उपासना की मौलिक भावना फैली होगी।"

धर्म और भक्ति के दृष्टिकोण से भारत विश्व का गुरू माना जाता है भारतीय भक्ति साहित्य की यह सबसे बडी विशेषता मानी जाती है कि यहॉ जो भक्ति की स्वतत्रता मानव को दी गई वह अन्यत्र कही नही। हिन्दू धर्म सदैव उदार और स्वतत्र विचार का पक्षधर रहा।

वैदिक युग मे सगीत की सबसे बडी विशेषता अपूर्व पवित्रता सुप्रसिद्ध यूनानी विद्वान ओवगीसा ने अपनी पुस्तक "The Oldest Music of the World" में लिखा है कि वैदिक पीरियड़ में सगीत की सबसे बडी विशेषता उसका शास्त्रीय रूप इतना पवित्र एव शुद्ध है कि उसके मुकाबले विश्व के अन्य देशों के सगीत मे वैसा उच्च स्तर नही पाया जाता।

भा0 सगीत की इसी पवित्रता एव उच्चता के सम्मुख जिसको कई वर्षो की एकान्त साधना के बाद भारतीयों ने उपलब्धता की होगी, यूनानी सगीत की पवित्रता धूमिल पड

स्वामी शिवानन्द भा0 संगीत का इतिहास - उमेश जोशी 84

जाती है। हमे इस तथ्यको स्पष्ट स्वीकार करना पडेगा कि वैदिक काल के सगीत मे हम जो स्वर्गीय सौन्दर्य, जो आत्मा को गुदगुदाने वाला प्रकाश, जो नवीनी विश्व में प्रवेश कराने वाली प्रेरणा और जो मानव जीवन को निखारने वाली दिव्य शान्ति पाते है वह हम विश्व के अन्य सगीत मे नही पाते है वास्तव मे वैदिक युग मे इसी सागीतिक साधना के बल पर अपने मन पर इतना अधिकार कर लिया होगा कि वे भारत के किसी कोने मे बैठे हुये सम्पूर्ण विश्व की हलचल का पता लगा लिया करते थे।

भारतीय काल मे वैदिक सस्कृति मे भक्ति और संगीत का अटूट सम्बन्ध रहा हमारी सस्कृति मे भक्ति के साथ संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा पग--पग पर भक्ति के साथ सगीत का प्रणय बन्धन सुदृढ रहा है, एक दूसरे से कभी अलग नही रह सकता सगीत भक्ति के लिये ही है, भक्ति अनुषडिग्ग कर्म उपासना, ज्ञान आदि की भूमिकाओ तक सगीत संगीत का कार्यक्षेत्र सीमित है, इन्ही मे उनके राष्ट्र जाति धर्म और व्यक्ति के अभ्युदय के अमर भावनॉए सन्निहित है।

भक्ति के लिए विशेष आयु जाति लिंग की बाध्यता नहीं है। यह मान्यता उचित नही है कि प्रौढावस्था ही भक्ति के लिए उपयुक्त । वास्तव में शैशवास्था भक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त बाल का हृदय निष्कलुष कोमल और राग आदि विकासो से मुक्त एव निर्मल होता है। प्रहलाद और ध्रुव बाल्यकाल म श्रेष्ठभक्त हो गये थे। निम्न जाति का मनुष्य भी भक्ति मार्ग का अधिकारी है प्रेम के सहारे चाडाल भी भगवान को अपने वश मे कर सकता है और प्रेम में अभाव मे उच्च कुलीन ब्राह्मण ईश्वर की कृपा से वंचित हो जाता है। " यदि भक्ति म्लेच्छ में आ जाय तो वह उसे द्विज श्रेष्ठ मुनि, सन्यासी तथा विवेकी बना देती है।"

नारद की दृष्टि मे भक्ति का प्रमुख बाधक कुसगति है। 'दुसडग सर्वथैव त्याज्य. भक्तिसुत्र 43" सभी दुर्व्यासन कुसंगति के प्रतिफल है। दूषित ग्रन्थ वासनात्ममक दृष्य, अनर्गल शब्द और उत्तेजक सगीत मनुष्य को कुपन्थ पर जाने की प्रेरणा देते है कुपन्थ पर चलने वाला व्यक्ति स्वास्थ्य बुद्धि और विवेक सब कुछ खो देता है।

भा0 संगीत का इतिहास दर्शन अध्यात्म पृष्ठ डा0 सुनीता शर्मा – भूमिका (X।)

जिमि कुपन्थ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुद्धि बल लेसा।। (तुलसी)

कुसगति से काम क्रोध मोह आदि उत्पन्न होते है और अन्त मे व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है--काम, क्रोध, मोह मृत समृत भ्रश बुद्धि नाश सर्वनाश कारणात्वात्' भक्ति सूत्र 44। भक्त को चाहिए कि वह क्रोधादि पर नियन्त्रण रखे । उसे स्त्रीधन नास्तिक और शत्रु के विषय मे की जाने वाली बातो को नही सुनना चाहिए। नारद भक्ति सूत्र 63) स्त्रीधननास्तिक वैरचरित्रम न श्रवणीय

भक्ति की विभिन्न आस्थाए है जिन्हे शान्त दास्य, सरस, वात्सल्य और मधुर इत्यादि भावो की सज्ञा दी जाती है, भक्ति के निम्नतम रूप को शान्त भक्ति कहते है इस समय मनुष्य के हृदय मे प्रेम का आवेश उतना अधिक नही रहता तथा उन्मत्त होकर वह अपनी सुध--बुध नही खो देता बल्कि उसके प्रेम मे वाह्य क्रिया कलापो और अनुष्ठानो से कुछ उन्नत एक साधारण सा प्रेम रहता है, इस समय व्यक्ति स्थिर धीर और नम रहता है। इससे उन्नत अवस्था दास्य है इसमे मनुष्य अपने को ईश्वर का सेवक मानता है, और अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा मे विलीन कर देता है। वह नही करता है, जिसकी प्रेरणा उसे परमात्मा देता है।

दर्द की मारी बिरह -बन डोलू, वैद मिला नही कोय।

मीरा की तब पीर मिटे, जब वैद सावरिया होय।।"

जैसा की गीता मे कहा गया है -- त्वचा कृषि केष हृदय स्थितिम्वा तथा युक्तोस्मि तथा चरमि" इससे अह भाव का नाश होता है, और मनुष्य परमात्मा के हाथों का खिलौना बनकर निमित्त मात्र होकर कर्म करता रहता है तीसरी अवस्था मे मनुष्य परमात्मा के साथ सखा मात्र स्थापित करता रहता है। उसे ऐसा लगता है कि ईश्वर उसका प्रिय सखा है, जिस प्रकार व्यक्ति अपने मित्र के समक्ष अपना हृदय खोलकर रख देता है, उसी प्रकार वह भी अपने गुप्त से गुप्त भावों को ईश्वर के समक्ष प्रकट कर देता और उसके प्रभावों से वह मुक्त हो जाता है। इससे ऊपर उठने पर व्यक्ति अपने आपको ईश्वर से भी बडा समझने लगता है और ईश्वर के प्रति उसका वातसल्य प्रेम हो जाता है अतः अपने आप कोई ध्यान नही

दुर्गादत्त पाण्डेय - भा0 दर्शन -- पृष्ठ 35

रहता और अपने लिए कुछ नही चाहता बल्कि वह सदा सर्वदा परमात्मा के कल्याण की ही चेष्टा करता रहता है। इससे अधिक विकसित होने पर ईश्वर के प्रति उसका प्रेम और सम्बन्ध वैसे ही अन्तरंग हो जाता है जैसा कि प्रेमी और प्रेमिका का वह ईश्वर से तदात्म्य स्थापित कर लेता है। और यह अनुभव करता है कि मै नहीं हूँ केवल तू ही तू है अवस्थाओ मे उससे जो भावनायें उत्पन्न होती है उन भावनाओ को भजन कीर्तन स्तुति इत्यादि द्वारा व्यक्त करते है।

इसी कारण प्राचीन ऋषि मुनि साधु सत युग–कवि तथा लोक मानव सदैव अपने उद्‌गारो की अभिव्यक्ति सगीत के माध्यम से करता रहा है। भारतीय आयार्यो ने सगीत को धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष चारो पुरूषार्थो की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय माना है। सगीत रत्नाकर मे कहा गया है

"गीतेन प्रीयते देव सर्वज्ञ पार्वतीपति।
गोपीपतिरन्तोऽपि वंशध्वनिवश गतः।।
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्ष गन्धर्व देवदानव मानव।।
अज्ञात विषयास्वादो बाल पर्यडिककात।
रूदन्तीतामृत पीत्वा हर्षोत्कर्ष प्रपछते।।
वनेचरस्तृणाहरिश्चत्रं मृगशिशु पशु।
लुव्यौ लुब्ध कसगीते गीते यच्छति जीवितम्।।
तत्य गीतस्य महात्म्यं के प्रशसितुमोशते।
धर्मार्य काममोक्षाणामिदमेवैकससाधनम्।। स0 र0 1/26/30"

तात्पर्य यह है कि सगीत की महिमा अनन्त है। जिसे संगीत का वरदान प्राप्त है वह इसकी महिमा से अभिभूत रहा है। संगीत विभिन्न धर्मो के भक्ति मार्गो को अन्तिम लक्ष्य की ओर जाने म सहायक है। संगीत द्वारा साध्य तथा साधक दोनों ही परम सुख प्राप्त करते

संगीत निबन्ध मीरा पदावली (संगीत पत्रिका), हाथरस, लेखक परशुराम चतुर्वेदी पृष्ठ 58

है। जहां एक ओर भारतीय परम्परा मे परमानन्द की प्राप्ति हेतु सगीत का प्रयोग दर्शनिको योगियो औ भक्तो ने किया है, वही दूसरी ओर जनसाधारण ने भी उसको अपने धार्मिक तथा सामाजिक तथा व्यक्तिगत मनोरजन का साधन बनाया। इसमे सगीत की प्रधानता रहती है। ऋगवेद मे देवताओ के स्तुति गान है वैदिक स्तुति गान ही भक्ति और सगीत का मूल है।

वैदिक काल से ही सामगान की परम्परा रही है तथा साम मत्रो का गान उनकी साधना और प्रयोग का अधिकार वैदिकों तक सीमित था सगीत भक्ति का अविभाज्य अग है। ब्रह्मा का साक्षात्कार कराने मे नादोपासना की भूतपूर्व महिमा और ज्ञान का प्रतिफल ही सगीत है नाद दर्शन है। आत्मज्ञान द्वारा जिस ब्रह्मतत्व की अनुभूति महर्षि करते है, उसी तव की अनुभूति देवर्षि नारदादि भक्तों ने गन्धर्व–ज्ञान द्वारा की। संगीत भक्ति जन्य गान है। "नादब्रह्मा" स्वर ईश्वर की मान्यता सगीतानुभूति पर आधारित ज्ञान है। सगीत महषियो ने "नाद रूपो जनार्दन" कहकर सगीत को भक्ति का साधन भी कहा साधन भी मान लिया। भक्ति और सगीत के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि "भक्ति" भगवान और भक्त दोनो को प्रिय है, सगीत भी भक्त और भगवान को अत्यन्त प्रिय है सगीत द्वारा भगवान अपने भक्त के बहुत नजदीक पहुँच जाते है, भगवान शीघ्र प्रसन्न हो जाते है। क्योकि "सकीर्तन" से बढकर हृदय को कोमल बनाने वाला अन्य कोई साधन नही है। कीर्तन से मन जो है भगवान के आनन्द मे लीन हो जाता है।

"जाते बेगि द्रवहुँ मैं भाई। सों मम भगति भगत सुखदाई।।" रामचरितमानस

धर्मशीलता हमारी सस्कृति का अविभाज्य अग है पुराविदो के अनुसार सगीत की उत्पत्ति स्वयभू परमेश्वर से हुई। धार्मिक ग्रथो मे विभिन्न देवी–देवताओ का संबध सगीत से होने के अनेक उल्लेख प्राप्त होते है। तथा आर्यो के आदि देवता ब्रह्मा विष्णु महेश के स्वरूप को सगीत कला से मडित दिखाया गया है। सनातन धर्म में इन्हीं देवताओं की अर्चना एव उपासना की गई है। बौद्ध जैन धर्म मे संगीत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बौद्ध काल मे भा0 संगीत लका, तिब्बत, चीन, प्रमा, सुमात्रा, जावा इत्यादि देशों मे फैला। निष्कर्ष यह है

डा0 सुनीता शर्मा – भा0 संगीत का इतिहास अध्यात्म दर्शन पृष्ठ 17

कि भक्ति और सगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध लक्ष्य की समानता साध्य साधन की अभिन्नता, समान गुणधर्मिता आदि के दृष्टि से प्रमाणित होता है।

अध्यात्म का स्वरूप

भारतीय सगीत कही–कहीं अध्यात्मिक है। गुरू रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण के एक श्लोक मे अनुकूल अर्थ की अध्यात्मिक खोज करते हुए कला को देव भाषा मानकर सस्कृति का विकास किया यथा "ऊँ" शिल्पायि देव शिल्पानि। एतेषा वे देव शिल्पानाम् अनुकृतीह शिल्पम् अधिगम्यते- हस्ती कसो वासो हिरण्यम् अश्वतरीरथः शिल्पम्। आत्म सस्कृतिर्वा शिल्पानि छन्दोमय वा एतेर्यजमान आत्मान सस्कृरूते। अर्थात यह है कि इन समस्त शिल्प कलाओ द्वारा यजमान को आत्मा की सस्कृति उपलब्ध होती है।

देवशिल्प मे ईश्वर प्रदत्त तथा प्रकृति–प्रदत्त वस्तुए यथा सृष्टि ग्रह नक्षत्र वनस्पति जल, अग्नि, वायु, रग–बिरंगे पुष्प आदि देव कला की सामाग्री है। प्राकृति वस्तुओ का अनुकरण करना मानवीय कला की सामग्री है।[1]

भा0 अध्यात्म का स्वरूप हमे प्राचीन ग्रन्थो से प्राप्त होता है–शिक्षाशास्त्र, दर्शन शास्त्र ,इतिहास मनोविज्ञान, सस्कृत वाडमय, हिन्दी साहित्य, काव्य, नाट्य सगीत एव अन्य कलाओं मे स्पष्टत देखा जा सकता है। भा0 सस्कृति का मुख्य उद्देश्य तथा आधार अध्यात्म भावना है।

अध्यात्म को दार्शनिको ने अत्यन्त रहस्यात्मक तथा तर्कपूर्ण विषद तरीके से वर्णित किया है उसे आत्मा स सम्बन्धित माना है। अध्यात्म शब्द "ओध" उपसर्ग तथा आत्मन् शब्द से मिलकर बना है अधि उपसर्ग अधिकरण कारक को सूचित करता है। अर्थात आत्मा से सम्बन्धित विषय अथवा वाद अध्यात्म माने गये हैं। इसमे आत्मा के परमात्मा से सम्बन्ध के विषय मे विवेचना की गई है। 'हिन्दी मानस कोश' मे अध्यात्म का अर्थ दिया गया है–परमात्मा, आत्मा, आत्मा तथा परमात्मा के गुणों एवं उसके पारस्परिक विषयो के सम्बन्ध के किए जाने वाला दार्शनिक चिन्तन।

वृहत ब्रह्माण्ड मे भी ब्रह्मा हरण्य गर्भ या महत् ने अपने को नाम के और फिर बाद मे रूप के आकार मे अर्थात इस परिदृश्य मान जगत के आकार मे प्रकट किया यह सारा इन्द्रियग्राह्य जगतरूप है और इसके पीछे अनन्त प्रकार का स्फोट। स्फोट का अर्थ है--समस्त जगत के प्रकटीकरण का कारण शब्द ब्रह्मा समस्त नामो अर्थात भावो का नित्य समपाई उपादान स्वरूप यही नित्य स्फोट है, वह शक्ति है, जिसमे भगवान इस विश्व की सृष्टि करते है। यही नही बल्कि भगवान पहले स्फोट के रूप मे परिणत हो जाते और उसके बाद अपने को उससे भी स्थूल इन्द्रिय ग्रह्यय जगत के रूप में परणित कर लेते है। इस स्फोट का एक मात्र वाचक शब्द है "ॐ" और चूकि हम किसी भी उपाय से शब्द को भाव से अलग नही कर सकते यह ॐ भी नित्य स्फोट से नित्य सयुक्त है, अतएव समस्त विश्व की उत्पत्ति सारे नाम रूपो की जननी स्वरूप द्वारा इस "औऽकार" रूप पवित्रम् शब्द से मानी जाती है। इस सम्बन्ध से यह शका उत्पन्न हो सकती है कि यद्वपि शब्द और भाव मे नित्य सम्बन्ध है तथा एक ही भाव के अनेक वाचक शब्द हो सकते है इसलिए यह जरूरी है कि यह "ॐ" नामक शब्द विशेष ही सारे जगत की अभिव्यक्ति के कारण स्वरूप भाव का वाचक है। इसीलिए भगवान कृष्ण ने "गीता" में 'अक्षरों' मे मै "औ" कार हूँ गीता 10/33 स्पष्ट रूप से उच्चारित है। जिनकी उच्चारण क्रिया मुख मे जिह्वा के मूल से आरम्भ होता है और होठों मे आकर समापत हो जाती है 'ॐ' जिह्वा मूल अर्थात कण्ठ से उच्चरित होने वाला शब्द म होठ पर आने वाला अन्तिम शब्द और ऊ उल शक्ति का सूचक है जो जिह्वा मूल से प्रारम्भ होकर मुह पर से लटकती हुई होठों मे आकर समाप्त होती है। 'ॐ' ही स्फोट का सबसे उपयुक्त वाचक शब्द है यह जगत का सूक्ष्मतम् अश होने के करण ईश्वर का सच्चा निकटवर्ती है, तथा ईश्वरीय ज्ञान की प्रथम अभिवयक्ति है इसलिए ॐ ईश्वर का सच्चा वाचक है, महात्मा कबीर ने इस एक 'स्फोट' शब्द आकार पर विशेष बल दिया इसे सहज समाधि की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है कबीर का कहना है कि जो 'शब्द में रत रहते' हैं वो आध्यात्मिक साधना प्राप्त होती है। उनके अनुसार जिस दिन गुरू कृपा हुई और

समाधि की स्थित प्राप्त हुई उसे दिन से सूरत दूसरी जगह नही गई चित्त डवॉडोल नही हुआ। मै ऑख मूँदकर कान मूँदकर कोई कष्ट दायिनी साधना आवश्यक नही मै ऑखे खोले रहता हूँ हँस–हँसकर परमात्मा के पुनीत सुन्दर आध्यात्मिक रूप देखता हूँ जो कहता सो नाम जप है जो सुनता हूँ सुमिरन है, जो खाता पीता हूँ सो पूजा है। घर जंगल एक सा देखता हूँ अद्वैत का अभाव मिटाता हूँ, जहॉ–जहॉ जाता हूँ वही परिक्रमा है जो कुछ करता हूँ सोई सांई सेवा है, जब सोता हूँ दण्डवत है। मै एक का छोडकर अन्य देव नही पूजता। मन की मलिन वासना छोडकर निरन्तर शब्द मे अन्त करण की ईश्वरीय वाणी सुनने मे रहता हूँ। ऐसी तारी लगी है, निष्ठा जगी है कि उठते बैठते वह कभी नही बिसरती।

"शब्द" को ब्रह्मा कहा है क्योकि ईश्वर और जीव को एक श्रृंखला में बॉधने का काम शब्द के द्वारा ही होता है। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी 'शब्द' से हुआ। पचतत्वो मे सबसे पहले आकाश बना आकाश की तन्मात्रा 'शब्द' है। अन्य समस्त पदार्थो की भॉति शब्द भी दो प्रकार का है सूक्ष्म और स्थूल। सूक्षम शब्द को विचार कहते है और स्थूल शब्द को नाद।

ब्रह्मा लोक से हमारे लिए ईश्वरीय शब्द प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है। ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप चाहता है, पर हमम से बहुत कम लोग है जो उसे सुनना चाहते हो ईश्वरीय शब्द हमे प्रत्यक्ष रूप से ऐसी विचारधारा प्रेरित करते है जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती है, यदि हम इस पर विचार करे तो उसे अनुसार कर्म निर्धारित किया जा सके तो अवश्य ही जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हुआ जा सकता है। यह विचार धारा हमारी आत्मा से टकराती है।

हमारा अन्त करण एक रेडियो है जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाए अपनी प्रवित्तयो को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा में प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार लहरियो को सुना जाए, तो ईश्वरीय वाणी हम प्रत्यक्ष में सुनाई पड सकती है। इसी को आकाशवाणी कहते है। अन्त करण की पुकार आत्मा का आदेश ईश्वरीय सन्देश आकाशवाणी तत्व ज्ञान आदि नामो से इसी विचारधारा को पुकारते हैं। अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य

सन्देश को सुनने से सफलता प्राप्त करते है वे आत्मदर्शी एव ईश्वर परायण कहलाते है।

"शब्द" ब्रह्मा का दूसरा रूप जो विचार सन्देश की अपेक्षा सूक्ष्म है वह है नाद प्रकृति के अन्तराल मे एक ध्वनि प्रतिक्षण उठती रहती है, जिसकी प्रेरणा से आधा तो द्वारा परमाणुओ मे गति उत्पन्न होती है, उससे सृष्टि की समस्त क्रिया कलाप चलता है।

यह प्रारम्भिक शब्द "ॐ" है यह 'ॐ' ध्वनि जैसे–जैसे अन्य तत्वों के क्षेत्र मे होकर गुजरती है, वैसी ही वैसे उसकी ध्वनि मे अन्तर आता है बशी के छिद्रो में हवा फेकते है, तो उसमे एक ध्वनि उत्पन्न होती हे। पर आगे के छिद्रो मे से जिस छिद्र मे जितनी हवा निकाली जाती है उसी के अनुसार भिन्न भिन्न स्वर लहरियो में परिणत हो जाती है। इन स्वर लहरियो का सुनना ही नाद योग है।

पन्च तत्वो की प्रतिध्वनि हुई 'ॐ कार' की स्वर लहरियो को सुनने की नाद योग साधना कई दृष्टियो से बडी महत्वपूर्ण है। प्रथम तो इस दिव्य सगीत के सुनने मे इतना आनन्द आता है, जितना किसी मधुर से मधुर वाद्य या गायन सुनने में आता है। दूसरे इिस नाद श्रवण से मानसिक तन्तुओ का प्रस्फुटन होता है। सर्प जब संगीत सुनता है, तो उसकी नाडी में एक विद्युत लहर प्रवाहित हो उठती है मृग का मस्तिष्क मधुर सगीत सुनकर इतना उत्साहित हो जाता है कि उसे तन बदन का होश नही रहता। योरोप मे गाये दुहते समय मधुर बाजे बाजये जाते है।

तीसरा लाभ एकाग्रता है। एक वस्तु पर नाद पर ध्यान एकाग्र होने से मन की विखरी हुई शक्तितियां एकत्रित होती है, इस प्रकार मन को वश मे करने तथा निश्चित कार्य पर उसे पूरी तरह लगा देने की साधना सफल हो जाती है। यह सफलता कितनी शानदार है इसे प्रत्येक अध्यात्म मार्ग को जिज्ञासु भली प्रकार जानता है। आतिशी कॉच द्वारा एक इंच जगह सूर्य किरणे एक बिन्दु पर एकत्रित कर देने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। मात्र प्राणी अपने सुविस्तृत शरीर में बिखरी हुई अनन्त दिव्य शक्तियो का एकीकरण कर ऐसे महान शक्ति उत्पन्न कर सकता है, जिसके द्वारा इस संसार को हिलाया जा सकता है अपने लिए

स्वामी शिवानन्द पृष्ठ 39

आकाश मे मार्ग बनाया जा सकता है।

नाद की स्वर लहरियो को पकडते--पकडते साधक ऊँची रस्सी को पकडता हुआ उस उद्गम ब्रह्मा तक पहुँच जाता है, जो आत्मा का अभीष्ट स्थान है। ब्रह्म लोक की प्राप्ति दूसरे शब्दो मे मुक्ति निर्वाण परमपर आदि नाम से पुकारी जाती है, नाद के आधार पर मनोलयकरता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढ तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए अब इस पर विचार व्यक्त किया जोयगा। तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओ द्वारा उत्पन्न होते है, इसी प्रकार दो प्राकर के शब्द मानसिक क्रियाओ के है। मन में चचलता की लहरे उठती हैं, वे मानस–तन्तुओ पर टकराकर एसे शब्द करती है, मानो टीन के ऊपर नेह बरस रहा हो, जब मस्तिष्क वाह्य ज्ञानको ग्रहण करके अपने मे धारण करता है, तो ऐसा मालूम होता है, मानों कोई प्राणी सॉस ले रहा हो। ये पांचो शब्द शरीर और मन के है।

जब नाद सुनने की योग्यता बढती जाती है, तो वशी या सीटी से मिलती जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियॉ सुनाई पडती है। यह सूक्ष्म लोक मे होने वाली क्रियाओ का परिचायक है। यदि हम ध्यान दे तो बहुत दिनों से बिछुडे हुये बच्चे की याद उसकी माता के गोद मे पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द विभोर हो जाता है ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को भी होता है।

जिन सूक्ष्म 'शब्द' ध्वनियो को वह सुन रहा है, वास्तव मे यह उसी तत्व के निकट से आ रही है, जहां से कि आत्मा और परमात्मा का विलगाव हुआ है। और जहॉ पहुँचकर दोनो एक हो जाते है धीरे धीरे शब्द स्पष्ट होने लगता है औरसुनने में अद्भुत आनन्द आने लगता है। अन्तिम 'ऊँ' है, यह बहुत सूक्ष्म है। इसकी ध्वनि घटा ध्वनि के समान रहती है। ऊँ कार ध्वनि जब सुनाई पडने लगती है तो निन्द्रा तन्द्रा या वेहाशी जैसी दशा उत्पन्न होने लगती है, साधक तन-मन को भूल जाता है। उस स्थिति से ऊपर बढने वाली आत्मा–परमात्मा मे प्रवेश करती जाती है। और अन्ततः वह पूर्ण रूप से परमतत्व में लीन हो जाता है।

संगीत दर्शन विजय लक्ष्मी जैन 15

अनहत नाद का शुरू रूप है अनाहत नाद। 'आहत' नाद वे होते है जो किसी प्रेरणा या आघात से उत्पन्न होते हैं। वाणी के आकाश तत्व से टकराने अथवा किन्ही दो वस्तुओ के टकराने वाले शब्द 'आहत' कहे जाते है। बिना किसी आघात के दिव्य प्रकृति के अन्तराल से जो ध्वनियॉ उत्पन्न होती है, उन्हे अनाहत या अनहत कहते है। वे अनाहत या अनहत शब्द दस होते है। (1) सहारक, (2) पालक, (3) सृजक, (4) सहसदल, (5) आनन्दमण्डल, (6) चिन्दानन्द (7) सच्चिदानन्द (8) अखण्ड, (9) अगम, (10) अतरत है। इनकी ध्वनियॉ क्रमश पायजेब की झकार सी सागर की लहर सी, मृदग सी, शख सी, तुरही सी, मुरली सी, बीन सी, सिह गर्जन सी, नफीरी सी , बुलबुल की सी होती है। जिसकी आत्मिक शक्ति जितनी ऊॅची होगी वे उतने ही सूक्ष्म शब्द को सुनेगे।

यह अनहद सूक्ष्म लोगों की दिव्य भावना है। अनहद नाद एक बिना तार के दैवी सदेश प्रणाली है। इन शब्दो मे ऊॅ ध्वनि आत्म कल्याण कारक है। बिन्दु साधना का एक अर्थ ब्रह्मचर्य है, इस बिन्दु का अर्थ वीर्य अन्नमय कोश के प्रकरण में किया गया है। आनन्द कोश की साधना मे बिन्दु का अर्थ होगा परमाणु सूक्ष्म से सूक्ष्म जो अणु है, वहॉ तक अपनी गति हो जाने पर भी ब्रह्म की समीपता तक पहुॅचता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और महत् से महत् केन्द्रो पर जाकर बुद्धि थक जाती है, और उससे छोटे या बडे की कल्पना नही हो सकती है, उस केन्द्र को बिन्दु कहते है। अणु को योग की भाषा मे अण्ड भी कहते हैं। वीर्य का एक कण 'अण्ड' है। यह इतना छोटा होता है कि बारीक खुर्दबीन से भी मुश्किल से ही दिखाई देता है, पर जब वह विकसित हो स्थूल रूप मे आता है तो वही बडा अण्डा हो जाता है। उस अण्डे के भीतर जो पक्षी रहता है उसके अग–प्रत्यग विभाग होते है। इस प्रकार शीरी भी एक अणु है इसी को अण्ड या पिण्ड कहते है। अखिल विश्व ब्रह्माण्ड सौरमण्डल आकाश गंगा और ध्रुव चक्र है।

इतना ब्रह्माण्ड भी एक अणु या अण्ड है। इसलिए ब्रह्म+अण्ड ब्रह्माण्ड कहते हैं इस बिन्दु का चिन्तन करने से आनन्द कोश स्थित जीव की उस परब्रह्म के रूप की कुछ झॉकी होती

वेद रहस्य श्री अरविन्द, पृष्ठ 24

है तो ऐसा लगता है यह बिन्दु अन्य महा अण्ड की तुलना मे अत्यन्त तुच्छ है परन्तु यह लघुता महत्ता का एकान्त चिन्तन ही बिन्दु साधना कहलाता है। इस साधना के साधक का सांसारिक जीवन की अवधि विवशता और तुच्छता का भली प्रकार से बोध है, परन्तु इसके साथ- साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि यह शक्ति का उद्गम होने के कारण सृष्टि का महत्वपूर्ण केन्द्र है, जैसे जापान पर फटा हुआ परमाणु ही ऐतिहासिक 'एटमबम' के रूप में चिर स्मरणीय है। वैसे ही शक्ति पुज का सदुपयोग किया जाता है, तो उसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से संसार का भारी परिवर्तन करना सभव हो जाता है।

विश्वामित्र ने राजा हरिशचन्द्र के पिण्ड को एटमबम बनाकर असत्य साम्राज्य पर इस प्रकार विस्फोट किया कि लाखो वर्ष बाद भी उसकी एक्रिण किरणें अभी समाप्त नही हुई और अपने प्रभाव से असख्या को हमेशा प्रभावित करती है। महात्मा गॉधी ने बचपन मे राजा हरिशचन्द्र का लेख पढा था उन्हाने अपने आत्म चरित्र मे लिखा कि मै उसे पढकर इतना प्रभावित हुआ कि स्वय भी हरिशचन्द्र बनने की ठान ली और अपने सकल्प के द्वारा सचमुच हरिशचन्द्र बन गये, हमारे आध्यात्मिक सस्कृति का ही प्रभाव है। हमारा धार्मिक आध्यात्मिक ग्रन्थ गीताकार आज नही है पर आज उनकी 'गीता' को अमृत पिला रही है। जो प्रकट या अप्रकट रूप से 'स्व' पर कल्याण का महान आयोजन प्रस्तुत करता है।

कार्ल मार्क्स के सूक्ष्म शील केन्द्र प्रस्फुटित हुई चेतना आज आधी दुनियॉ को कम्यूनिस्ट बना चुकी है। पूर्व काल मे महात्मा ईसा मुहम्मद, बुद्ध कृष्ण आदि अनेक महापुरूष ऐसे हुए हैं जिन्होने संसार पर अपने आध्यात्मिकता के कारण अत्यधिक प्रभाव डाले हैं इनके अतिरिक्त अनेक महापुरूष ऐसे हुये है, जिन्होने ससार की सेवा में जीवो के कल्याण में गुप्त रूप से बहुत भारी काम किया जैसे योगी अरविन्द महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, समर्थ गुरू रामदास आदि द्वारा किये गये कार्य आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे उपनिषद में है कि सर्वव्यापक शुद्ध अशरीरी अक्षत् स्नायुरहित निर्मल धर्म स्वरूप से रहित सर्वदृष्टा सर्वा 'स्वयंभू' है। भौतिकता नाम और रूप है आध्यात्मिकता में नाम रूप का आभाव है। एक मे

श्री भर परांजपे पृष्ठ 132 भा0 सं0 का इतिहास

उपाधियॉ है आध्यात्मिक निरूपाधि अवस्था है, भौतिक बन्धनो की अतिक्रान्त करता हुआ साधक आत्मदर्शन मे नाम रूपात्मक उपाधियो से ऊपर उठ जाता है। इन सब संतो के अर्थ एक है आध्यात्मिकता मे सबके प्राणो का निवास है। आध्यात्मिकता प्राचीन काल से ही भारतीयो के जीवन धर्म व अध्यात्म की प्रधानता रही है। इसलिए कला का अन्तिम उद्देश्य भी अध्यात्म से जुडा है। कला मे इतनी शक्ति है कि वह मनुष्य को अध्यात्म की ओर प्रेरित कर सके। नैतिकता व अध्यात्म विहीन कलाएँ निम्न कोटि की होती है मनुष्य को मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख करने की शक्ति होनी चाहिए अध्यात्म से जुड होने पर कलाकार प्रकृति का सहारा लेता है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय विचारधारा सदा आदर्श भाव पर प्रवाहित होती रही है, जिसका प्रयोजन लोक कल्याण है भारत में दर्शन के ही समान ही सगीत शास्त्र भी ब्रह्म सम्बन्धी चिन्तन का विषय रहा है, मानव जीवन का परम लक्ष्य परमातम का साक्षात्कार माना गया है।

अध्यात्म का सगीत से सम्बन्ध

सगीत मे वह आध्यात्मिक शक्ति है जो आत्मा के उन्नति के लिए साधन बनती है, भारतीय दर्शन मे आत्मा का उच्च स्वर वही माना है, जहाँ आत्मा परमात्मा मे अद्वैत सम्बन्ध प्रस्थापित हो। अन्तिम सत्ता से एक रूप होना अपने को भूला दे यह चरम सीमा है। आत्मा को सुरक्षित रखने वाला साधन है।

श्री अरविन्द के अनुसार --"संगीत मूलत एक आध्यात्मिक कला है, और यह सदैव धार्मिक भावनाओ तथा आतरिक जीवन से संबधित रही है।"

हमारे देश मे संगीत को आध्यात्मिकता से जोड़ा गया है। सगीत के महान कवि संगीतज्ञ रवीन्द्र नाथ जी ने बडे ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित करके देखा संगीत को आधत्मिक अनुभूति का साधन माना है। उन्होने अनुभव किया है कि सगीत द्वारा ही मुझे यह बोध होता है कि 'मुक्ति' हमारी है म उस मुक्ति का अनुभव कर सकता हूँ। उन्होने यह अनुभव किया कि गाने

धर्म दर्शन डा0 रामनरायण व्यास पृष्ठ 16

के स्वर भूमि ऊपर -ऊपर उडती है, क्योकि इसके माध्यम से देह से मन बहुत दूर अपनत्व को भूल जाता है और मेरे अनजान सहज ही गान मुझे लौकिक बन्धनो से मुक्त कर मेरा मन हरण कर ले जाता है। गान के माध्यम से जब समस्त विश्व को देखता हूँ तब–तब 'तुमको' चिन्हता हूँ।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर सत्य का बोध गान द्वारा करते हैं गान के सुर के प्रकाश में इतने दिनो बाद सत्य की अनुभूति की अनतर मे सदैव इस गान की वृष्टि नही रहती इसलिए सत्य तुच्छ हो कर के दूर हो जाता है। सुर का वहन उसी परदे की आड मे सत्य लोक मे हमे ले जाता है जहाँ पैर स नही जाया जा सकता वहाँ जाने का मार्ग ऑखों से नही देखा जा सकता आध्यात्मिकता भा0 जीवन दर्शन का मूल मंत्र रहा है।

भा0 सगीत की उत्कृष्टता एवं अन्तिम उद्देश्य सगीत के इसी रूप मे दक्षता प्राप्त करना है। सगीत- साधको ने सगीत की सारगर्भिता एवं उसमे निहित तदाकारता के गुण तथा चिन्तन का अनुभव करके ही सगीत को दार्शनिकता तथा आध्यात्मिकता से युक्त माना है। सगीत मानव–मन की मलिनताओ तथा विकृतियों जोडता है। तब भावो की अभिव्यक्ति या मन के उद्‌गार हर्ष, विषाद, शोक, करूणा आदि मर्मस्पर्शी विषय संगीत द्वारा वयक्त किये जा सकते है।

दार्शनिको का मत है जहाँ साधक अन्य कुछ नहीं देखता कुछ नही सुनता और अन्य कुछ नहीं मानता वही आध्यात्मिक आनन्द है जो आध्यात्मिक आनन्द है वही स्वर्ग, जो संगीत के माध्यम से इस परणिती तक पहुँची जा सकती है। आध्यात्मिक आनन्द के तथ्यो की खोज ही सौन्दर्य साधको तथा रस साधको का मूल लक्ष्य है।

श्री जी0एच.रानाडे ने भारतीय सस्कृति की वैदिक परम्परा मे अध्यात्म और संगीत का वर्णन इन शब्दो में किया है। "भारत सदैव संगीत का उपासक रहा है सत्य तथा शिव के साथ सुन्दरता से युक्त होने के कारण वैदिक तथा ब्रह्माण्ड युग के मानव ने तदनुरूप समाज की रूपरेखा बनायी। उस युग के यावत कार्य दर्शनिक विचारो से निर्धारित होते थे। इसके

विजय लक्ष्मी जैन, धर्म दर्शन, पृष्ठ 14

विपरीत मनु ने साधारण मनुष्य के लिए सगीत को अनुपयोगी बताया है। उनका विचार सम्भवत यह था कि कला की सुन्दरता मानव समाज के लिए हितकारी नहीं है। यदि हम आर्य सभ्यता के उस ऐतिहासिक गौरवमय युग की ओर देखे तो यह समझना कठिन नहीं होगा कि याग, सगीत और ज्योतिष उस समय अपने--अपने उत्कर्ष पर थे।

अध्यात्म तथा सगीत का गठबन्धन भारतीय परम्परा के मूल मे दृढ रहा है। सगीत केवल मनोविनोद का साधन न होकर परम मगल कारण भी है। नारद के तुम्बरू से लेकर चैतन्य महाप्रभु, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य बल्लभाचार्य, निम्बकाचार्य, दार्शनिक त्यागराज, हरिदास, सतज्ञानेश्वर आदि भक्त गायको ने तथा सूर, मीरा, तुलसी, कबीर, नन्ददास, विट्ठलदास आदि पद रचित ने सगीत व अध्यात्म का सम्बन्ध प्रगाढ किया। अध्यात्म बिन्दु आत्मा का साक्षात्कार ईश्वर मोक्ष दर्शन के प्रमुख आधार है। अत सगीत का सम्बन्ध अध्यात्म से है।

आधात्मिक साधना के रूप मे प्रयुक्त सगीत जैसा मोक्ष कारक है वैसा लौकिक व्यवसाय के रूप म प्रयुक्त सगीत बन्धन कारक बन जाता है।

भारतीय समाज मे उनके हृदय मे, वेद, पुराण, गीता रामायण, धर्मशास्त्र तथा परम्परा गत इष्ट देवी देवताओ की पूजा का भाव भी विरासत मे विद्यमान है। भारतीय मानव के लिए अपने--अपने अध्यात्मिक गुरूओ, वृक्षो, जानवरो की पूजा करना भी साधारण बात है। हमारा समाज परब्रह्मा की शक्ति को समझने, कल्पना से अनुभव करने और हस्तरेखा और अन्य किसी माध्यम के आधार पर सिद्ध पुरूष, दार्शनिकों मनीषियों और सगीतज्ञ भविष्यवाणी करते रहे है।

भा0 सगीत "नाद--ब्रह्मा" की उपाधि से सुशोभित है। इस त्रयमुखी विद्या मे चाहे वह गानमयी हो वाद्य मर्म अथवा नृत्य अध्यात्मिकता से सभी जुडे हुये है। इसलिए भगवान की भक्ति सगीत से सदैव सिद्ध होती है। भरत मुनि कृत -- 'नाट्यशास्त्र', 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' और 'सगीत रत्नाकर' साधन प्रधान भी है। वेदान्त के समान साध्य--प्रधान भी वस्तुत देखा जाय तो वेदों मे बीजरूपेण स्थित, उपनिषद मे पल रहे षड्दर्शनों के रूप में पल्लित

डा0 उमेश जोशी पृष्ठ 20

परब्रह्मविषयक चिन्तन धारा भी संगीत के सयाग के बिना अधूरा है। षडदर्शन का अभिप्राय छ दर्शन सम्प्रदाय और सम्प्रदाय से तात्पर्य है आचार्यो द्वारा उत्पन्न सतति से दूसरी सतति को प्रदत्त आधार। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार "संगीत किसी भी सस्कृति एव सभ्यता की आत्मा है।" मानस समाज प्रत्येक कृत्य धार्मिक भावना से करता है। प्राचीन वैदिक मत्र स्वर बद्ध थे वाद्य यत्र, आरती संकीर्तन और भाव युक्त नृत्य ये सभी सगीत बद्ध के साथ भक्ति अध्यात्म से जुडे हुये है। इसम कृष्ण या वैष्णव धर्म मानने वालो पर ज्यादा निरूपित होता है।

भा0 सस्कृति चूकि धर्म प्रधान देश है। लोक--जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विभिन्न धर्मो को मानने वाले अपने परम्परा गत रीति रिवाजो से जुडे हुये है धर्म से हमारा अर्थ है--ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा साधारण भाषा म ईश्वर आस्था रखना तथा उसकी पूजा–अर्चना, उपासना को धर्म कहते है। सभी धर्म (हिन्दू, मुस्लिम, जैन, सिख) मे सर्व शक्तिमान की आस्था है।

सगीत के विकास मे राग–ध्यान तथा रागरागिनी चित्रमालाए प्राय अध्यात्मिक तत्वो से सम्बन्धित रही है। संगीत के ऐसे वाद्य जैसे रूद्र वीणा, सरस्वती वीणा, लक्ष्मी ताल, रूद्र ताल देवी देवताओ के नाम पर हुआ है।

रामायण कालीन सगीत वद पुराणा की परम्परा मे ब्रह्मणादि ग्रन्थो की निधि मानी जाती। जन साधारण भी संगीत की अध्यात्मिकता का अनुभव करने लगा। इसकी पुष्टि तुलसी कृत रामायण बालखण्ड मे इस प्रकार है।

श्रंगी ऋषिहि वसिष्ठ बुलावा। पुत्र काम सुभ यज्ञ करावा।।

भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे।।

रावण महानायक और महागायक भी साम संगीत का ज्ञाता था।

भारतीय विचारधार के अनुसार सभी कलाएँ अध्यात्म ओर उन्मुख है तथा कलाओ अन्तिम उद्देश्य आत्म तत्त्व की प्राप्ति है और कलाओं का अन्तिम उद्देश्य अध्यात्म तत्त्व की प्राप्ति है ओर आत्मतत्त्व मे लीन होना है। इस ओर सगीत का अपना विशेष स्थान है। ईश्वर भक्ति

की आत्म ज्ञान से परिपूर्ण जीवन की सच्चाई के सम्बन्ध में अनेक रचनाएं हमे काव्य रूप में मिलती है, परन्तु वे सभी ज्ञेय रूप मे है मीरा एक तारे और करताल के साथ प्रभु ध्यान मे गाती थी, सूर तुलसी समस्त अष्टछाप कवि दादू कबीर त्यागराज की रचनाए गेय रूप में प्रस्तुति थी, केवल कविता के रूप मे इनकी रचनाये नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त संगीत से आत्मा पवित्र हो जाती है, उसमे नैतिकता दया आदि गुणो का विकास होता है। प्लेटो ने कहा है सगीत के माध्यम से आत्मा लय सीख जाती है, सगीत चरित्र बनाता है, उसमे धर्म की प्रवृत्ति आ जाती है, वह भी अन्याय कर ही नहीं सकता क्योकि वह स्वर लहरी मे बधा रहता है।

सगीत की स्वर अथवा नाद साधना नाद ब्रह्म की प्रथम सीढी है, और योग प्रणायाम से इसका सीधा सम्बन्ध है जो ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है भक्ति योग (मोक्ष प्राप्ति का मार्ग) पूर्ण रूप से भजन–सगीत पर आधारित है। अतः सगीत अध्यात्मिकता से जुडा है।

भारतीय दृष्टिकोण केवल कला ही नहीं सम्पूर्ण जीवन के प्रति भी भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य दृष्टिकाण से सदा भिन्न रहा है, इस भिन्नता का कारण है अन्त·करण की भिन्नता पाश्चात्य लोग कलाकार पहले है व दर्शनिक बाद में रहा है वे हर वस्तु, विचार को बौद्धिक अथवा वैज्ञानिक रूप से आकते हैं। वे स्थूल के आधार पर सूक्ष्म की खोज करते है जबकि भारतीय विचारधारा सूक्ष्म के आधार पर सूक्ष्म की ओर लौटती है। भारत चूकि हमेशा से अध्यात्म व धर्म प्रधान देश रहा है। अत· आत्मिक सुख व आत्मा को पहचानने पर विशेष महत्व दिया है। अतः कला के प्रति दृष्टिकोण भी अध्यात्म से ओत–प्रोत होना स्वाभाविक हैं यहॉ कलाओं का दृष्टिकोण "अन्तिम लक्ष्य" (आत्मबोध–या आत्मलीन) की प्राप्ति है और पद्धति धार्मिक व दार्शनिक है। भारतीय कलाओ में आत्मा को परमात्मा से मिलने की इच्छा से जीवन स्पंदित होता है। कलाकार कृति के सहारे सांसारिक से परे आध्यात्मिक सुख व शांति का आनन्द प्राप्त करता है। कलाएं मानव को मोक्ष प्रदान करती है, मानव जीवन के चार पुरुषार्थ है धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष । इनमें अर्थ काम निम्न श्रेणी के हैं तथा धर्म व

मोक्ष उच्च श्रेणी के है। कलाये इन्ही की ओर उन्मुख है। बुद्धि से सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता इसलिए अनुभूति को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। और यह अनुभूति कलाओ के द्वारा होता है उसका परमतत्व की खोज और उसका दर्शन ही भारतीय विचारधारा का भूत रहा है यही कारण है कि सभी कलाएँ विद्याएँ शास्त्र (सच्चिदानद, ब्रह्मानन्द परमात्मा, आत्मा चैतन्य आदि नामो से अभिहित) एक परमतत्व की ओर अग्रसर है। सभी कलाएँ आत्म साक्षात्कार की साधन है। यही कारण है कि प्राचीन समय से ही कलाओ और धर्म (ईश्वर) मे गठबन्धन रहा है। वस्तुकला के सुन्दरतम् नमूने मन्दिरो के रूप मे प्राप्त है। मूर्ति तथा चित्रकला मे देवी देवता अथवा महापुरूषों का बाहुल्य रहा है अनेकों काव्य ईश्वरोपासना अथवा भक्ति प्रधान है। इसी प्रकार सगीत की उत्पत्ति ही शिव व सरस्वती आदि से मानी जाती है।

दर्शन इस बारे मे कहता है, इस ससार मे जन्मे जीव के इस सासारिक दु खों (जन्म, जरा, मरण, रोग शोक आदि) से छुटकारा दिलाने के लिए आत्म चिन्तन एव सही आचरण के माध्यम से आत्मज्ञान प्रज्ञा चक्षु कराता है। यही आत्म ज्ञान अथवा आत्मा के सही स्वरूप की पहचान ही इस जीव अथवा आत्मा के मोक्ष का कारण बनता है, जिसे प्राप्त कर जीव उस परम तत्व मे सदा के लिए विलीन हो शाश्वत सुख का भागी बनता है। इसी अन्तिम लक्ष्य अर्थात मोक्ष की सिद्धि के लिए धर्म, अर्थ, एव काम नामक तीन पुरूषार्थो की सिद्धि आवश्यक माना गया है।

संगीत एक ऐसा श्रोता है जिसके द्वारा सभी प्रकार के आनन्द प्राप्त किये जा सकते है, जैसे (1) बौद्धिक, (2) मानसिक, (3) अध्यात्मिक (4) इंद्रियजन्य– इन सभी प्रकार के आनन्दो की प्राप्ति ऐसे सम्भव है।

(1) भावनात्मक एकता–के लिए शान्ति भी एक प्रमुख साधन है, जो संगीत के द्वारा प्राप्त हो सकती है। सगीत द्वारा उत्तेजित मन शान्त हो जायेगा। शान्ति प्रदान करने का कार्य संगीत जरूर कर सकता है।

वैदिक संस्कृति और सभ्यता (मुंशीराम शर्मा)

(2) भावनात्मक एकता के लिए प्रेरणा आवश्यक है यह भी सगीत से प्राप्य है। अच्छे भावो की स्फूर्ति मनुष्य को अच्छे रास्ते पर जाने के लिए आवश्यक होती है। सगीत इसके लिए कुछ प्रमुख साधनो में से एक है 'भक्ति सगीत' इसका अच्छा उदाहरण है। सगीत के द्वारा उच्च भावो की प्रेरणा मिलती है। सगीत का यदि उचित प्रयोग किया जाये तो भावनात्मक एकता को और मनुष्य को उन्मुख करता है।

(3) अध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो यह एकता सभव है मनुष्य परमत्व की खोज मे लीन रहा है उसके लिए वह इस नाद योग का उपयोग कर सकता है। सगीत एक नाद योग है और योग विशेषता यह है कि उसकी साधना भी आनन्दमय है कष्टप्रद नही है।

व्यक्ति के जीवन मे जब त्रिविध दृष्टि से एकता आयेगी तब उसका अर्थ ज्यादा से ज्यादा व्यापक होगा। सवेदनशीलता जागृत होगी। सहिष्णुता तथा उदारता उत्पन्न होगी। जो सामाजिक एकता के लिए उपयुक्त होगी। सामूहिक रीति से जो प्रयत्न सगीत के लिए किये जायेगे, उससे भी एकात्मकता आयेगी। जैसी 'वृदवादन' सामूहिक प्रयत्न है। सगीत में स्वरो का सुसंवाद है। ताल स्वरो का नियंत्रण है यह स्नेह का प्रतीक वह समाज मे अनायास ही निर्मित होगा। समाज मे सुसवाद निर्माण होगा तो भावनात्मक एकता के लिए आवश्यक है। समाज मे जब सघर्ष ही नही रहेगा तब समस्या अपने आप ही नष्ट होगी।

आत्मावाद–जीवात्मावाद

वैशेषिक के अनुसार – वैशेषिक दर्शन मे आत्मा की निम्नलिखित विशेषतायें बतायी गयी है।

(1) आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न अपनी पृथक सत्ता रखता है।

(2) आत्मा नित्व एवं सर्वव्यापी विभु द्रव्य है।

(3) आत्मा चेतना का आधार है।

पातंजल योग दर्शन पृष्ठ 311

(4) बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेश धर्म कर्म प्रयत्न सस्कार आदि गुण इसी में निवास करते हैं।

(5) आत्मा के दो रूप है, जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा तथा ईश्वर एक है।

जीवात्माए अनेक है भिन्न–भिन्न शरीर मे भिन्न जीवात्माए रहती हैं।

"जीव अनेक एक श्री कन्ता" (रामचरित मानस)

आत्मा तथा सूक्ष्म शरीर की यह क्रिया पूर्व कृत कर्मो के कारण हाती है शरीर तथा मन के आध्यम से आत्मा विविध प्रकार के शुभाशुभ कर्मो को करता है पश्चात उन कर्मो का फल भोगने के लिए उसे पुन· अन्य शरीर को धारण करना पडता है। इस प्रकार जिस शरीर को ये धारण करता है वह पूर्व उपर्जित कर्मो का फल है, फिर प्राप्त हुए नये जन्म में नवीन कर्मो का अर्जित करता है, इस प्रकार क्रम सतत चलता रहता है, तथा कर्म बन्धन के वशीभूत आत्मा जन्ममरण के द्वारा नवीन शरीर को धारण तथा पूर्व देह का त्याग करता रहता है।

यहॉ यह स्मरण रहे कि सर्वगत तथा विभु शुद्ध आत्म कही नही जाता। वास्तव मे चैतन्य के उपलब्धि से आत्मा 'गया' एव व्याप देश किया जाता है, "चरकसंहिता" में एक स्थान पर कहा गया है जो चार महाभूत आत्मा मे लीन होकर अर्थात आत्मा के साथ गर्भ मे प्रविष्ट होते है, वे कर्मठ कहे जाते है, अर्थात शुभ कर्म के वशीभूत होकर गर्भ में प्रविष्ट होते है। वह बीज धर्म सूक्ष्म कारण भूत आत्मा चेतना धुतु स्वरूप आत्मा मे जाती हुई शुंभाशुभ विभिन्न शरीर में चली जाती है।

यहॉ पतंजली योग मे आध्यात्मिक पद में जो आत्म शब्द है इसका अर्थ शरीर तथा मन है। अतः अत्मानि अधिज्ञति अध्यात्म।" पतंजलि योग दर्शन (311)

द्वैत मत– यह मत उपनिषदों की भेद श्रुति पर अवलम्बित है। इस मत के प्रतिपादक ग्रन्थों में अभेद श्रृतियों और परक श्रुतियों की इस प्रकार व्याख्या की गई है कि वे द्वैतमत के समर्थक है। परमात्मा, जीवात्मा ये दोनों नित्य और स्वतंत्र सत्ता है जीवो मे परस्पर भेद है प्रकृति में भी आन्तरिक भेद है। परमात्मा विष्णु है। उसका शरीर अप्राकृत (प्रकृति निर्मित

सदानन्द योगी – योग दर्शन पृष्ठ 35

नही) है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है। उसकी इच्छा से ही प्रकृति जगत के रूप मे परिवर्तित होती है। जीवो मे लक्ष्मी सर्वश्रेष्ठ है। वह विष्णु की पत्नी है। जीवो मे वही नित्य है, अविनाशी है। अन्य जीव वद्ध है। जीवात्मा का परिमाण परमाणु के बराबर है जीवा दो प्रकार के है– पुरूष और स्त्री यह पुरूष और स्त्री का अन्तर मोक्षावस्था मे भी बना रहता है परमात्मा और जीवात्मा का सेवक–भाव सम्बन्ध है। निर्धारित नियमों के अनुसार प्रत्येक जीवन का कर्तव्य है कि वह परमात्मा विष्णु की उपासना करे। उसकी उपासना से उसका अनुग्रह प्राप्त होता है।

अद्वैत मत के अनुसार केवल ब्रह्मा की ही सत्ता है। यह ससार जो कि सत् तरह दिखाई पडता है वस्तुत. सत् नही है यदि वह सत् होता तो पहले भी ऐसा ही रहा होता और भविष्य मे भी इस प्रकार बना रहता। जो वस्तु किसी क्षण मे उत्पन्न होती है, और दूसरे किसी क्षण मे नष्ट हो जाती है उसे सत् नही कह सकते है। यह ससार परिवर्तनशील है। इसका आदि और अन्त है। ब्रह्मा माया मे प्रतिबिम्बित होता है और संसार के तुल्य दृष्टिगोचर होता है जब माया मे सत्य अश की प्रधानता रहती है और उसमे ब्रह्मा का प्रतिबिम्ब पडता है तो वह 'ईश्वर' कहा जाता है। और माया मे सत्व अश गौण रहता है और उसमें ब्रह्मा की प्रतिबिम्ब पडता है तो उसे जीवात्मा ओर संसार कहते है। अतएव वही ब्रह्मा देवता जीवात्मा और ससार के रूप मे प्रकट होता है। और जब अन्त· करण मे ब्रह्मा का प्रतिबिम्ब पडता है तब वह जीवात्मा कहा जाता है। माया से उत्पन्न अन्त.करण अनेक है। अतः जीवात्मा भी अनेक है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार, जीव जीवात्मा भेद और अभेद श्रुतियों को प्रमाणिक माना गया है। यह वाक्य यह सिद्ध करते है कि वास्तविक सत्ता केवल ब्रह्मा है। चित् (जीव) और अचित् (अचेतन जीव) उसके शरीर या प्रकार हैं। ये प्रकार परस्पर भिन्न हैं। ये चिदाचित् ब्रह्मा के विशेषज्ञ है परन्तु ये ब्रह्मा से भिन्न हैं। जीव का अस्तित्व ईश्वर के लिए है अतएव जीवन और प्रकृति को शेष कहते है। तथा ब्रह्मा को शेषी । यह शेषी के ऊपर उसी प्रकार

नियन्त्रण रखता है जिस प्रकार आत्मा शरीर पर।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने –"सयोगो योग इत्युक्ते जीवात्मापरमात्मनो।" इस वाक्य से जीवात्मा और परमात्मा के समान रूपत्वात्मक सयोग को योग कहा है। और महर्षि पतंज्जलि चित वृत निरोध को योग कहा है।

इस शका का समाधान यह है कि जब तक चितवृति का निरोध न हो तब तक जीवात्मा का परमात्मा समान रूपत्व होना असभव है। अत· जीवात्मा परमात्मा का सयोग योग का लक्षण नही है। किन्तु फल है। "योग मत मे जीवात्मा और परमात्मा मे केवल भेद इतना ही है कि – जीवात्मा क्लेशादि युक्त है और परमात्मा क्लेशादि विनिमुर्क्त है। जब योग द्वारा जीवात्मा भी क्लेशादि से विनिमुर्क्त होकर स्वरूप में स्थित हो जाता है तब परमात्मा समान रूपत्व को प्राप्त हो जाता है।

"पतंजल योग दर्शनम्" के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा दोनों का जो समान रूपत्व है, वह दोनो सर्व सकल्प रहित सामधि कहा जाता है।

आत्म तत्व या (चिति शक्ति) परिणाम रहित है इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहती है।

ज्योति का अर्थ ज्ञान का है, जिस कारण जीवात्मा ज्ञान स्वरूप है और इस सूत्र मे उसके स्वरूप मे प्रवृत्ति कही गयी है इसलिए इसका नाम भी "ज्योतिष्मती प्रवृत्ति" कही गई है।

(दृक्शक्ति· पुरूष·) देखने वाली शक्ति जीवात्मा है।

लोक जीवात्मा का आधार तीन खण्ड क समान तत्व और शरीर है इनके संयोग से वह लोक अर्थात जीवात्मायुक्त शरीर रहता हैऔर इसी शरीर में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

"सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेव चित दण्डवत्।

लोकस्तिष्ठित संयोगतत्र सर्व प्रतिष्ठतम् ।।56।। चरकसहिता"

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शंकर जी के ऊपर जल धरीयण रखने के लिए त्रिपादिका बनाई जाती है और वह त्रिपादिका अपने तीनों पैरों पर ही स्थित रह कर अपने

बौद्ध एवं जैन दर्शन एल डी दीक्षित पृष्ठ 115

ऊपर रखे सभी प्रकार के समर्थ भारो का वहन करती है उसी प्रकार लोक के मन मे आत्मा और शरीर ये तीन आधार–स्तम्भ होते है, इन तीनो समुदाय को ही लोक अर्थात ससार कहते है।

आत्मा को भेद दो प्रकार का किया जाता है (1) पर आत्मा अर्थात परमात्मा अर्थात वह निर्विकार–सुख दुख से रहित, शान्त, रज, तम से रहित होता है, जीवात्मा वही आत्मा मन भूतगुण और इन्द्रियों से युक्त होता है तो अचेतन शरीर मे चेतनता उत्पन्न करता है। सामान्यत· आत्मा शब्द से दोनो परमात्मा ओर जीवात्मा लिये जाते है। किन्तु दोनों में यह भेद है कि श्रेष्ठ आत्मा में दु ख सुख कुछ नही होता जीवात्मा मे दुख–सुख का मान होता है जैसा कि "सयोगे पुरुषस्यो विशेयो वेदनाकृत वस्तुत आत्मा सवर्था निर्विकार है सतवदि के सयोग होने पर वेदना केवल आत्म धिष्ठित मन मे होती है न कि आत्मा मे। आत्मा मे सुख–दुख कुछ नही होता केवल जैसे कमल के पत्तो के ऊपर जल गिरता है, पर पत्ती मे वह लगता नहीं है, उसी प्रकार आत्मा में सुख दुख का सयोग यद्यपि सत्तवदि के सयोग से होता है पर वह सुख–दुख मन मे होता है आत्मा निर्लेप ही रहता है। केवल सत्वादि के सम्बन्ध से आत्मा मे वेदना होती है ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु सुख–दुख से आत्मा अलग है, बहुधा यह प्रयोग किया जाता है कि मेरी आत्मा दुखी है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्म श्रयी मन दुखी है। इसी प्रकार निर्व्यथे चान्तरालनि' में 'अन्तरात्मा' शब्द से मन का ग्रहण किया जाता है अथवा आत्मा शब्द का प्रयोग शरीर के लिए भी आता है जैसा कि

"ब्रह्मोन्द्रवाथ्यवग्रिमनो धृतीनां धर्मस्य कीर्तर्पशसः श्रियश्र।

तथा शरीरस्य शरीरेण श्र स्याद ह्वदशस्विङग्त आत्म शब्दः।"

इन 12 अर्थो मे 'आत्मा शब्द का प्रयोग किया जाता है तो आत्मा दुखी है इसका अर्थ शरीर दुखी है–यह होता है केवल आत्मा ज्ञान का कारण नहीं होता किन्तु सत्तवादि के संयोग होने पर आत्मा को ज्ञात है यह कहा जाता है। आत्मा इन्द्रियों के सयाग होने पर ज्ञाता और सत्वादि इन्द्रियों के संयोग भाव में अज्ञान होता है। जब आत्मा को अज्ञान और

संस्कृत साहित्य का इतिहास – कपिलदेव द्विवेदी पृष्ठ 401

ज्ञान दोनो हुआ तो नित्य है या अनित्य इसके उत्तर मे कहा गया है कि आत्मा नित्य है अर्थात उभय – (पर आत्मा जीवात्मा) आत्मा नित्य है। किन्तु आत्मा नित्य होते हुये भी उनका ज्ञान अनित्य है। यदि यह कल्पना करे कि आत्मा धर्म ज्ञान जब अनित्य है तब धर्मो आत्मा भी अनित्य है। यह ठीक नहीं क्योकि शब्द गुण के अनित्य होते हुए शब्द धर्मो आकाश अनित्य नहीं होता है अतः आत्मा नित्य ही होता है।

बौद्ध दर्शन मे बुद्ध ने इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे मौन ही रखा। इसका विवेचन उन्होने दो "न" के सहारे किया और कहा आत्मा न तो भौतिक है और न ही शाश्वत् ही है। न वह भूत पिण्ड की तरह उच्छित होता है न उपनिषदवादियो के अनुसार शाश्वत् होकर सदा काल एक रहता है फिर है क्या उसको उनने अनुपयोगी इसका जानना न निर्वाण के लिए आवश्यक है और न ब्रह्मचर्य के लिए ही कह कर टाल दिया। अन्य भारतीय दर्शन 'आत्मा' के स्वरूप के सम्बन्ध मे चुप नही रहे, किन्तु उन्होनें अपने–अपने ग्रन्थ में इतर मत का निराश करके पर्याप्त उहापोह किया है। उसे आत्मा के स्वतत्र तत्व के रूप मे कभी दर्शन नहीं हुए यह तो आत्मा के स्वरूप दर्शन का हाल है। अब उसकी आकृति पर विचार करे, तो ऐसे ही अनेक दर्शन मिलते है। 'आत्मा अर्मूत या मूर्त होकर भी वह इतना सूक्ष्मतम है कि हमें इन चर्म चक्षुओ से नही दिखाई देते' इसलिए कुछ अतीन्द्रियदर्शी ऋषियो ने अपने दर्शन से बताया कि आत्मा सर्वव्यापक है तो दूसरे ऋषियो ने उसका अनुरूप से साक्षात्कार किया, वह बटबीज के समान अत्यन्त सूक्ष्म है या अगुष्ठामात्र है "कुछ को देह रूप ही आत्मा दिखा" परमात्मा आरम्भिक आत्मा से अतिशय जीवात्मा उससे न्यून माने गये। जीवात्मा और परमात्मा दोनो मे विभुत्व ज्ञान श्रयत्व आदि गुण समान है जीवात्मा का ज्ञान सीमित है और परमात्मा सर्वज्ञ है।

वैदिक दर्शन में प्रायः आत्मा और व्यापी स्वीकार किया है व्यापक होने पर भी शरीर और मन के सम्बन्ध से शरीर वच्छिन्न आत्म प्रदेशे ज्ञानादि विशेष गुणों की उत्पत्ति होती है अर्मूत होने के कारण आत्मा निष्क्रिय है। इसी तरह आत्मा के अणुरूप मानने पर अंगूठे पर कोई

चीज चुभने से सारे शरीर के आत्म प्रदेशो मे कम्पन और दुख अनुभव होना असम्भव हो जाता है।

आत्मा तीन प्रकार के है वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा जो शरीर आदि पर पदार्थो को अपना रूप मानकर उनकी ही प्रिय भागो सामग्री मे आसक्त है वे वहि मुख जीव 'वहिरात्मा' है, जिन्हे स्वपरविवेक या भेद विज्ञान उत्पन्न हो गयाहै जिनकी शरीर आदि वाह्य पदार्थो से आत्म दृष्टि हट गइै वे सम्य दृष्टि 'अन्तरात्मा' हैं। जो समस्त कर्म मल–कलको से रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप मे मग्न है वे ही परमात्मा है। यही ससार आत्मा अपने स्वरूप यथार्थ परिज्ञान का अन्त दृष्ट हो क्रमश परमात्मा बन जाता है, अत आत्म धर्म या बन्धन मुक्ति के लिए तत्व परिज्ञा नितान्त आवश्यक है।

आत्मा का लक्ष्य

भा0 दर्शन मे आत्मा के सबन्ध में चार मत है चर्वाक के अनुसान चैतन्य–विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। यह जडवादी मत है। बौद्धो के अनुसार आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है। अद्वैत–वेदांत के अनुसार आत्मा एक है, नित्य है एवं स्वप्रकाश चैतन्य है, आत्मा न तो ज्ञाता है, न ज्ञेय है, न अहम् ही है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा केवल चैतन्य नही है बल्कि एक ज्ञाता है, जिसे अहम् कह सकते है।

''ज्ञाता अहमर्थ एवात्मा।''

आत्मा के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक का मत वस्तुवादी कहा जा सकता है, इनके अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है, जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख, दुख, राग, द्वेष, इच्छा, कृति या प्रयत्न आदि गुण के रूप मे वर्तमान रहते है। ये जड–जगत के गुण नही है, क्योंकि जड के गुणो की तरह वाह्य इंद्रियो को भी आत्मा नहीं समझा जा सकता क्योंकि कल्पना स्मृति विचार आदि मानसिक व्यापार वाह्य इन्द्रियों का कार्य नहीं है। मन को भी आत्मा नहीं माना जा सकता है न्याय वैशेषिक के अनुसार मन अणु है और इसलिए अप्रत्यक्ष है, मन ही यदि आत्मा

संस्कृत पीठ दतिया – चित्त विलासः लेखक ललित प्रसाद शास्त्री पृष्ठ 15

माना जाए तो सुख, दुख आदि मन के ही गुण होगे। अत ये भी अणु अप्रत्यक्ष होगे, चैतन्य आत्मा का एक आगतुक गुण है। शरीर, इंद्रिय ओर मन से भिन्न कोई आत्मा है कुछ प्राचीन नैयायिक कहते है कि आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति नही हो सकती। उनके अनुसार आत्मा का ज्ञान या तो आप्त वचनो से होता है या उनके प्रत्यक्ष गुणो या इच्छ द्वेष प्रयत्न सुख, दुख एव बुद्धि से अनुमान द्वारा होता है, किन्तु यदि कोई स्थाई आत्मा नही है तो इसका अस्तित्व ही सभव नही है। किसी वस्तु की पाने की इच्छा रखने का मतलब है कि वह वस्तु सुखद है। कितु जब तक हम उसको पा नही लेते है तब तक उससे कोई सुख नही मिल सकता। अत उस वस्तु को पानी इच्छा हम इसलिए रखते है कि हम समझते है कि ऐसी ही वस्तुओ से अतीत काल मे सुख मिला था। इस प्रकार हम देखते है कि इच्छा तभी हो सकती है, जब कोई स्थायी आत्मा रहे जिसने अतीत मे वस्तुओ से सुख प्राप्त किया हो जो वर्तमान वस्तुओ को सदृश समझकर उन्हें पाने की अभिलाषा रखता है इसी प्रकार द्वेष और प्रयत्न भी बिना स्थायी आत्मा के संभव नही है।

मानस प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात् ज्ञान होता है जब कोई इसके अस्तित्व पर सदेह करता है तब उपर्युक्त ढग से इसका सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है। कुछ नैयायिक का यह मत है कि मन के साथ आत्मा सयोग होने से मै हूॅ इस प्रकार का एक मानस प्रत्यक्ष होता है इसी से आत्मा को जानना सभव है। मै जानता हूॅ 'मैं सुखी हूॅ'' इत्यादि रूप से ही आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। हम आत्मा का केवल रूप मे प्रत्यक्ष नही करते, बल्कि इसे ज्ञाता भोक्ता या कर्ता के रूप मे जान सकते हैं। अत आत्मा का लक्ष्य आत्मा का प्रत्यक्ष चैतन्य ज्ञान किसी न किसी गुण के द्वारा ही होता है हम अपने–अपने आत्माओ का तो स्वयं प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

आत्मा किस तरह मोक्ष प्राप्त कर सके यही प्रत्येक भा0 दर्शन का चरम उद्देश्य है। न्यायदर्शन में भी जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति हो सके, मोक्ष का वर्णन विभिन्न दर्शनों में भिन्न–भिन्न प्रकार से किया गया है। नैयायिकों अनुसार मोक्ष दु:ख का पूर्णनिरोध की अवस्था है। वे इसे अपवर्ग कहते हैं। अपवर्ग का तात्पर्य है शरीर और इंद्रियों के बंधनो से

आत्मा का विमुक्त होना जब तक आत्मा शरीर ग्रस्त रहता है तब तक इसके लिए दु खो का पूर्ण विनाश सम्भव नही है, इन्द्रिय–रहित शरीर के वर्तमान रहने पर हम उसका अनुचित एवं अप्रिय वस्तुओ के साथ सपर्क रोक नही सकते और दु खो से बच नहीं सकते अत. मोक्ष तभी मिल सकता है, जब हम शरीर और इन्द्रियो के बन्धनो से मुक्त हो जाएँ किन्तु शरीर से मुक्त होने पर आत्मा के दुखो का ही केवल अत नही होता है प्रत्युत उसके सुखो का भी अत हो जाता है। क्योकि इनमे किसी भी प्रकार की अनुभूति अवशिष्ट नही रहती। अत. मोक्ष की अवस्था मे आत्मा शरीर से पूर्णतया मुक्त होकर सुख–दु.ख से परे हो जाता है, बिल्कुल अचेतन हो जाता है। मोक्ष की अवस्था मे जो दु ख का नाश हाता है उसका अर्थ यह नही कि प्रगाढ निद्रा के समय या किसी रोग से विमुक्त होने पर होता है। इस अवस्था मे तो दु ख का सदा के लिए अत हो जाता है यह आत्मा की चरम अवस्था है जिसका वर्ण धर्म ग्रन्थो मे "अभयम्," "अजरम्", 'अमृत्युपदम्' आदि के नामों से किया गया है।

समस्त इन्द्रियचारी प्राणियो मे आत्म निर्णय का एक तत्व विद्यमान है, जिसे सामान्यत 'आत्मा' का नाम दिया गया है, वस्तुत प्रत्येक प्राणी के अन्दर जिसमे जीवन है, आत्मा विद्यमान है, तथा भिन्न–भिन्न आत्माएं मौलिक रूप मे स्वरूप के एक समान है, जो भेद प्रतीत होते है, वे वस्तुत भौतिक सस्थानो के कारण है, जो आत्मा को मलिन तथा व्यर्थ करते है, उक्त मलिनता का नाम विद्या श्रेणी विभाग अशरीरो क उद्भव हुआ। आत्माओ का उस तत्व से सम्बन्ध नही हो सकता। सस्कृत के चिकित्सा ग्रथ जीवन की आकसिमक घटनाओ से उन्मुक्त तथा कला परिवर्तनो से असंपृक आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपाद करते है, इस विषय मे चेतना साक्षी है कि यद्यपि व्यक्ति एक अर्थ मे एक विशिष्ट तथा परिमित शक्ति वाला प्राणी है, जो मरण शीलता सम्बन्धी समस्त आकसिमक घटनाओं तथा परिवर्तनों के अधीन है, तो भी उसके अन्दर ऐसा कुछ अवश्य है जो उसे इन सबसे ऊपर उठाता है, वह तो मन है न जीवन न शरीर है, बल्कि सूक्ष्म साक्षी रूप आत्मा है, जो इन सबको धारण करती है। सान्त जगत के सीमाओं से बचकर निकल भागने का प्रयत्न उस चेतना की ओर संकेत करता है कि सान्त जगत अपने आप में यथार्थ नहीं है, जैसा कि डेकार्ट ने कहा है, कि

वेद मीमांसा पृष्ठ 28 डी. एल. दीक्षित

''सत्ता'' के भाव की धारण तभी बन जाती है, जबकि हमे अपनी परिमित शक्ति की स्वीकृति विवश होकर अगीकार करनी पडती है।

आत्मा के सम्बन्ध मे लोगो के भिन्न–भिन्न मत है, उसमे कई मत एक दूसरे के विरोधी है आत्मा चेतन है, इस चेतन को वे चाहे आत्मा का गुण धर्म माने या स्वभाव दर्शन मे आत्म निरूपण मे मूलत साख्य तथा वैशेषिक को अपना आधार बनाया। साख्य दर्शन मे आत्मा को पुरूश की सज्ञा दी गई है, उनके अनुसार पुरूश की निम्नलिखित विशेषताए है,

(1) पुरूष प्रकृति तथा उसके विकारों से नितान्त भिन्न अपनी सत्ता रखता है।

(2) पुरूष सुख–दुख गुणो से परे तथा त्रिगुणातीत है।

(3) पुरूष चेतन है,

(4) पुरूष निष्कृप है,उसकी क्रियाशीलता प्रकृति के सान्ध्यि का द्वी परिणामी है।

(5) पुरूष अनादी तथा अनन्त है,

(6) विष्णु अर्थात सर्वव्यापी तथा एक सा रहने वाला अपरिणामी है।

<u>परमात्म ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान</u>–जितने जीव हैं उतने ही आत्मा है, अर्थात प्रत्येक जीवन मे पृथक–पृथक आत्मा है। आत्मा का ज्ञान कैसे होता है इस सबध मे कुछ बाते उल्लेखनीय है। भट्ट संप्रदाय का मत है कि आत्मा का ज्ञान कभी–कभी होता है, प्रत्येक विषय ज्ञान के साथ आत्म ज्ञान नही होता। जब हम आत्मा पर विचार करते है तब अपना बोध हाता है कि ''मै हूँ'' इस अहविति Self consciusnsc कहते है। प्रभाकर संप्रदाय इस मत को नही मानता। उसका कथन है कि अहविति की धारणा ही अपुक्त है क्योंकि दोनों नही हो सकता। जैसे वही अन्न भोक्ता और भोज्य दोनों एक साथ नहीं हो सकता। कर्ता और कर्म के व्यापारों मे परस्पर विरोध होता है। एक क्रिया में एक ही साथ एक वस्तु कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती। परंतु प्रत्येक विषय ज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा कर्ता के रूप में विषय के रूप में उद्भाषित होता है। इसलिए जब हमें कोई भी ज्ञान है, (जैसे यह घड़ा है) तब कहते हैं कि ''मैं घड़ा देख रहा हूँ'' अथवा ''मुझे घडा का ज्ञान हो रहा है'' यदि वह में स्वयं ज्ञाता

के रूप मे प्रतीत नही होता तो फिर मैने ही घडा देखा यह किस आधार पर कायम किया जाता।

भट्ट सप्रदाय का कथन है कि यदि प्रत्येक विषय ज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान उद्भासित होता तो मै इस घडे को जान रहा हूँ ऐसा बोध सर्वदा वर्तमान रहता। परन्तु प्रत्येक विषय ज्ञान के साथ ऐसा ही नही होता। इससे सूचित होता है कि आत्मज्ञान विषय ज्ञान का नित्य सहचर नही है वह कभी उदित होता है कभी नही होता। अवएव वह विषय ज्ञान से भिन्न है। तब रहा कर्ता और कर्म का विरोध सो यह कोश शब्द जाल है। यदि दोनो में वास्तविक विरोध होता है तो यह वैदिक विधि वाक्य कि (आत्मन सिद्धि) (अपनी आत्मा को पहचानो) अथवा लौकिक प्रत्यककि "मैं अपने को जानता हूँ" बिल्कुल निरर्थक हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा कभी ज्ञान का विषय नही होता ता फिर अतीत काल में अपने आत्म के अस्तित्व को स्मरण करना कैसे सभव होता क्योकि अतीतकालीन आत्मा तो वर्तमान ज्ञान का ज्ञाता है नही यह केवल वर्तमान कालीन आत्मा ज्ञान का विषय हो सकता है।

अब प्रश्न उठता है ज्ञान का ज्ञान कैसे प्राप्त हो। प्रभाकर मिमासाको का मत है कि प्रत्येक विषय ज्ञान म जैसे "मै यह घडा जानता हूँ" तीन अग विद्यमान रहते हैं (1) ज्ञाता अर्थात जानने वाला। 'मै' (2) ज्ञेय– जो विषय जाना जाता है। जैसे 'घडा" और (3) ज्ञान (अर्थात घडे को जानना) इसे "त्रिपुटी ज्ञान" कहते है। जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह ज्ञाता, ज्ञेय और अपने तीनो को प्रकट करता है। अतएव ज्ञान ज्ञात और श्रेय का प्रकाश होने के साथ-साथ स्वय प्रकाश भी होता है।

परन्तु भट्ट मीमासको का कहना है कि ज्ञान स्वभावत अपना विषय स्वय नही हो सकता जैसे अगुली का अग्रभाग अपने को नही छू सकता। तब हम यह कैसे जानते है कि हमें अमुक विषयक का ज्ञान हो रहा है। इसके उत्तर में भट्ट मीमांसको का कहना है कि हमें कोई भी विषय या तो ज्ञात (प्रकट) होता है, या तो अज्ञात (अप्रकट) रहता है यदि यह ज्ञान प्रकट रहता है तब उस ज्ञाता (प्राकट्य) के आधार पर हम यह अनुमान करते हैं कि हमें उस विषय

का ज्ञान था। इरा पर अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है।

उपनिषद मे इस तत्व को कभी (ब्रह्मा) कभी (आत्मा) कभी "केवलसब्" कहा गया है कि "पहले" आदि मे में केवल वह आत्मा मात्र था। "छादोग्य 3 में कहा गया है "यह सब कुछ आत्मा ही है" 'वृहदारण्यक' 4 फिर कहता है आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। इरी तरह छादोग्य कहता है कि आदि मे केवल सत् था दूसरा कुछ नही था। पुन छादोग्य और मुडक मे कहा गया है– 'यह सब कुछ ब्रह्मा है" इन सब वाक्यो मे ब्रह्मा और आत्मा एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हुये है कही--कही तो स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि यह "आत्मा ही ब्रह्मा है" "मै ब्रह्मा हूँ"।

(1) ॐ आत्मा वा इदम् एक एव अग्र अतीत (ऐतरेय 1/1)ण

(2) आत्मा एव इदम् अग्रे असीत (व1हदारण्यक 1/4/1

(3) आत्मा एण्व इदं सर्वम् छादोग्य 7/25/2

(4) आत्मानि खसु अरे दृष्टे श्रुत्रि मते विज्ञाते इदं सर्वविदितम् 7/5/6

(5) सदैव सौग्य इदम् अग्रे आसीत् एकम् एव अद्वितीयम् छादोग्य 6/2/91

(6) सर्व खलु इदम ब्रह्मा।छादोग्य 1/14/1

(7) ब्रह्मा एव छद विश्वम् (मुडक 2/2/11)

(8) अयम् आत्मा ब्रह्मा (वृहदारण्यक) 2/5/19

(9) अय ब्रह्मा अस्मि वृहदारण्यक 1/5/10

किसी विषय का ज्ञान का जो ज्ञान होता है वह इसी चैतन्य का एक सीमित प्रकाश है। शुद्ध चैतन्य किसी विषय की सीमा से बद्ध नहीं होने के कारण अतंत या सर्वव्यापी है। यही आत्मा है सत्य, अनंत और ज्ञान स्वरूप होने के कारण जो ही आत्म मनुष्य में है वहीं सभी भूतों में (सर्वभूतात्मा) है। आतएव आत्मा परमात्मा एक ही है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा सभी वस्तुओं में निहित है और प्रकट रूप से दिखाई नहीं देता वस्तु जो सूक्ष्मदर्शी है वे पआने सूक्ष्म बुद्धि से उसे देख लेते हैं।

भा0 संगीत का इतिहास पृष्ठ 85 उमेश जोशी

आत्म ज्ञान या आत्म विद्या को सर्वश्रेष्ठ या परा विद्या कहा गया है और सभी विद्या से अपरा विद्या (न्यून कोटिक) है। आत्मज्ञान का साधन है काम क्रोध आदि वृत्तियो का दमन। श्रवण, मनन् एव निदिध्यासन। जब तत्व ज्ञान के द्वारा सस्कारों का लोप हो जाता है तब आत्मा का साक्षात्कार होता है। देवताओ के यज्ञ से कही बढ़कर आत्मज्ञान या ब्रह्म ज्ञान है। केवल आत्म ज्ञान या ब्रह्म विद्या के द्वारा ही पुर्नजन्म ओर तन्जन्य क्लेशो का अन्त हो सकता है।

दर्शन मे इस बारे मे कहता है, इस ससार मे जन्मे जीव के इस सासारिक दु खो (जन्म, मरण, रोग, शोग आदि से दुख दिलाने के लिए आत्म चिन्तन एव सही आचरण के माध्यम से आत्माज्ञान प्रज्ञा चक्षु करता है। यही आत्म ज्ञान अथवा आत्मा के सही स्वरूप की पहचान इस जीव आत्मा के मोक्ष का कारण बनता है, जिसे प्राप्त कर जीवन उस परमतत्व मे सदा के लिए विलीन हो शाश्वत सुर का भागी बनता है।

ब्रह्म क्या है ब्रह्म को जानना ही एक मात्र सत्य है, जो पुरूष सभी भूतो मे उसी ब्रह्म की सत्ता को देखते है, वे मरने के पश्चात अमर हो जाते है। आत्मा (ब्रह्म) को न जानने वाले व्यक्ति मरने के पश्चात असूर्य और तम से अच्छादित लोक में जाते हैं, ब्रह्मा की साधारण परिभाषा "सर्व खल्लिद ब्रह्म" अर्थात सब ब्रह्म है, ब्रह्म से सबकी उत्पत्ति होती है, उसी से सबका पोषण होता है उसी में सबका विलयन होता है। वह आत्म रूप हृदय मे विराजमान है, ब्रह्म छोटे से छोटा और बडे से बडा है। वह सर्वकार्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वसरस, सर्वव्यापक आदि है ब्रह्म के पदो में अखिल विश्व प्रतिष्ठत है।

ब्रह्म का परिचय देने में रहस्यात्मक विधि को भी अपनया गया है। "प्राण" ब्रह्म है "क" ब्रह्म है। "ख" ब्रह्म है जो "क" है वही "ख" है। जो "ख" है वहीं "क" है प्रसंग मे "क" आनन्द है "ख" आकाश है। सर्वव्यापी आत्मा को कोई देश नहीं सकता क्योंकि दृष्ट है उसे कौन देख सकता है।

आत्म साक्षात्कार यह भी भावनात्मक एकता का आधार है, "मैं कौन हूँ" का ज्ञान उसके

भा० संगीत मनोविज्ञान – वसुधा कुलकर्णी, (पृष्ठ 9)

सहायभूत है। इस प्रकार हम देखते है कि यह भावनात्मक एकता की समस्या जटिल है, मनुष्य के व्यहवार सुनियत्रित होगे तब अपने आप ही वह जटिलता कम हो जायेगी। यहा विविधता होते हुए एकात्मता लानी है। विविध सूत्रों को एक सूत्र में बाधना है। यह जो आत्मज्ञान की प्रापति है, उसके लिए सगीत कितना सहायभूत हो सकता है यह विचार आवश्यक है।

आत्म साक्षात्कार की चार साधनाए दी गई है । (1) सोऽह साधना, (2) आत्मानुभूति, (3) स्वर सयम, (4) ग्रन्थि भेद

सोऽह साधना जब एक सास लेते है तो वायु प्रवेश के साथ–साथ सूक्ष्म ध्वनि होती हे जिसका शब्द "सो ो ो ो ____" जैसा होता है जितनी देर सॉस ठहरती है अर्थात स्वाभाविक कुम्भक होता है, उतनी देर आधे "अ ऽ ऽ ऽ" की सी विराम ध्वनि होती है और जब सास बाहर निकलती है तो "ह_____" जैसी ध्वनि निकलती है इन तीनों ध्वनियो पर ध्यान केन्द्रित करने से "सोऽहम" साधना होती है। अनुभव से निष्कर्ष यह निकलता है कि यह तेज बिन्दु परमात्मा का प्रकाश "स" अर्थात परमात्मा "ऽहम" अर्थात मै। जब वायु बाहर निकले और ह की ध्वनि हो, तब उसी प्रकाश बिन्दु से भावना कीजिए कि यह मै हूँ।

'अ' विराम भावना परिवर्तन के आकाश का प्रतीक है 'सो' ध्वनि के समय ब्रह्म माना जाता है। और पीछे "ह' समाप्त हो जाए वायु बाहर निकल जाए उससमय भी जीव–भाव हटाकर उस बिन्दु मे ब्रह्मा भाव बदलने का अवकाश मिल जाता है 'सो' ब्रह्मा का ही प्रतिबिम्ब है 'ऽ' का प्रतिनिधि 'ह' जीव का प्रतीक है ब्रह्म, प्रकृति,जीव का आत्म ज्ञान का स्वर्ण सुयोग एक साथ उपलब्ध हो जाता है।

स्वामी विवेकानन्दजी ने विज्ञान मय कोश की साधना के लिए "आत्मानुभूति की विधि बताई है। उनके अमेरिकन शिष्य रामचरन ने इस विधि को 'मेन्टल डेवलपमेण्ट' नामक पुस्तक में विस्तार से बताया है।

किसी शान्त एकान्त स्थान में जाइये या स्वच्छ हवादार कमरे में आराम से कुर्सी पर या

वृक्ष या मनसद के सहारे बैठकर आत्मा की अनुभूति की जा सकती है।

अपनी आत्मा को परमात्मा में लगा देने का प्रयोजन

"अन्तरङग करणात्माज्चतु·
स्त्रोतसां विविध देवतजुषाम्
पूजन परमिहोन्मनी शिक्षा–
मध्यवर्ति हि शिवातम योजनम् ।33।।"

अन्तरङग से प्रवाहित चार स्रोत मन बुद्धि चित्त अहङगर एव उनके अधिष्ठाता देवताओं के द्वारा उन्मनी अवस्था मे जीव और परमात्मा को योजन ही सर्वश्रेष्ठ पूजन है।

"पच्चबोध करणाति मानसं
दर्शनानि विषय प्रदर्शनात्
दर्शनाति षडमूनि लानित
त्पूजनं भवति तल्लया तल्लयाच्चिदि ।।34।।"

पॉच ज्ञानिन्द्रियॉ (श्रोत, त्वक्, चक्षू, रसना, घ्राण) तथा मन पॉचों ज्ञानों का प्रदर्शक होने से इस प्रकार ज्ञान के छ प्रकार है। इन सबका क्रमश· परमतत्व में लीन ही परशक्ति का पूजन है।

"जग्रदादि समयाश्चतुर्विधा
ह्यन्तरात्म परमत्म विग्रहाः।
पसचेमेऽत्र तदतीत चिद्धने
धाम्नि तल्लय मतिस्वदर्चनम्।।35।।"

जीवात्मा और परमात्मा की चार अवस्थायें (जगत्, स्वप्न, सुषुटित और तुर्य ही व्यष्टि और समष्टि रूप से उनके शरीर है। इन सबसे परे तुर्यातीत अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा की एकत्व भावना बुद्धि ही उसका अर्चन है।।35।।

जैनदर्शन – पृष्ठ – 119

"रवे निरस्त त्रिखि लागमक्रिये–

यचि निश्चरति शश्वतोदया।

सा शिवत्व समवापि कर री

खेचरी भवति खेदहारिणी । ।36।।"

उक्त दीक्षा प्राप्त कर साधक सम्पूर्ण कर्म जाल से मुक्त हो कर पर व्योम मे जिसका सेवन करता है वह अवस्था सब प्रकार के विघ्न से रहित है तथा सम्पूर्ण क्लेशो को निवृत का पूर्णानन्द देती है सब दुखो का हरण करने वाली यही खेचरी मुद्रा है।

"पच्चधैव यदिवं प्रपज्वित‍े

पच्चधानुभव शश्वतोदयम्

तत्सुसहरण मौपचरिकं

कर्मनिर्मलनि जत्म सर्विदि।।19"

इय दृश्यमान सम्पूर्ण पच्चभूतात्मक है जिसका अनुभव शबद, स्पर्श, रूप रस, ग्रन्ध स्वरूप से पॉच प्रकार का होता है। शरीर मे इन तत्वो का नियमपूर्वक उदय होता है क्रमानुसार इनका परतत्व मे लय ही मान सोपान पूजन है।

"यस्तु पच्चदशघा प्रकल्यहो

कला एवं शशिभानु सक्रमात्

तस्य शश्वत्पदे लय क्रिया

नित्यवासर कलार्चन मतम् ।।22।"

अकार स लकार (अ) पर्यन्त पन्द्रह स्वर ही दिन और रात रूपमें पन्द्रह तिथिया होती है और सोलहवा स्वर (अ) ही परमात्मा जहॉं कि सदैव प्रकाश रहता है। जिसका अर्चनही नित्य दिवस कला का अर्चन है।

आत्मा को सुरक्षित रखने वाला साधन इस दृष्टि से शरीर का महत्व है, आत्मा परमात्मा का एक आंशिक रूप है, ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी इस दृष्टि से मन को केन्द्रित

करने की शक्ति संगीत मे है तभी त्यागराज जी ने सगीत को नादयोग तत्व कहा है, नाद के द्वारा मन नियन्त्रित करना नादयोग तत्व है।

"यत्स्वरूप महिमा विकल्पत ।

शक्ति चक्रमिह रज्जुसर्पवत् ।

तत्वस्वरूप परमार्थ वोधत–

स्तत्र तस्य विलयो विसर्जनम् । 37 ।।"

परमार्थ स्वरूप से चित् तत्व की की महिमा से ही सासारिक समस्त मयिक कार्यो से मुक्ति मिल जाती है। और उसके स्वरूप का वास्तविक बोध हो जाता है जिससे यह दृष्यमान मायामय शक्ति चक्र विलुप्त हो जाता है जैसे कि अन्धकार मे पडी हुई रस्सी मे सर्प का भ्रम वह भी रस्सी के वास्तविक ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है इस भ्रम का विलय ही पूजा का विसर्जन है।

भारतीय विचारधारा के अनुसार कला प्रकृति के बहुत निकट रहती है। परन्तु दृश्यमान जगत सदा सत्य नही होता, अत वाह्य आवरण को भेदकर मूलरूप को प्राप्त करना ही कला का कार्य है। कला का ध्येय है, निरसीम को प्राप्त करना चाहे पत्थरो पर खुदाई हो अथवा तूलिका से बना चित्र अथवा संगीत के स्वरों की साध्ना या साहित्यिक प्रतीकों का आश्रय भारतीय कला में सर्वदा सत्य का दर्शन करने का प्रयत्न रहता है।

कला के दो प्रमुख ध्येय सत्य तथा एकता है। इन्हीं के कारण भारतीय कलाएं आदर्शवादी, चारित्रिक–विलक्षणता, रहस्यवाद, प्रतीकवाद तथा पारलौकिकता प्राप्त है। कालीदास ने कला के निम्न प्रयोजन बताए हैं।

(1) संगीत देवों को प्रसन्न करती है।

(2) संगीत मनुष्य के आचरण से सम्बन्धित है और जीवन के सुख दुख को व्यक्त करती है।

(3) संगीत अनेक रसो की अभिव्यक्ति करती है जिसके कारण यह कलाकारो का विविध

प्रकार का पारलौकित आनन्द प्रदान करती है।

(4) संगीत व्यापक आनन्द प्रदान करती है, सगीत के अतिरिक्त और कुछ भी ऐसा नही है जो युवा तथा वृद्ध, सुखी–दुखी, रोगी, पीडित, स्वस्थ सबल सभी को समान रूप से आनन्द पहुँचा सके।

कला के इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण ही कला मे निहित सौन्दर्य व उससे प्राप्त आनन्द प्राप्त होता है, यह आत्मिक आनन्द होता है। यही कारण है कि उस आनन्द अथवा रस को "रसौवेस" कहा गया है इस आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।

"सात्वोद्रेकादशण्डस्वप्रकाश नन्द चिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मा स्वाद सहोदर ।।
लोकोतर चमत्कार प्राणा कैश्चित्प्रभावृभि।
स्वाकरवद भिन्नतवे नाय मास्वाद्यते रस ।।"

भारतीय विचारधारा के अनुसार सगीत केवल वैयक्तिक आत्म प्रदर्शन के लिए नही है, वरन् वह समूची सस्कृति की द्योतक होती है वह देवताओ की सांकेतिक भाषा है, वह देवताओ की सदेशवाहिका है। यही कारण है कि भारतीय कलाएँ निर्वैयक्तिक है। विशाल मन्दिरा, मूर्तियो के शिल्पी तथा भित्ति चित्रो के चित्रकारो के बारे मे हम नहीं जानते क्योंकि कलाओ का प्रयोग व्यक्तित्व की महिमा बताना नही है।

भारतीयो में भी सगीत कला को मनोरजन अर्थ प्राप्ति यश प्राप्ति के साधन के रूप में समय समय पर देखा गया पर ऐसी कलाए निम्न कोटि की मानी जाती रही हैं, कला का प्रयोजन जिस प्रकार का होता है कला वैसा ही रूप धारण कर लेती है जब कला का उद्देश्य आत्मानुभूति होता है तब आत्मा पर चढ़ी धूल (काम, क्रोध, लोभ, मोह) हट जाती है। तानसेन तथा श्री गोविन्द स्वामी और हरिदास स्वामी के संगीत में यही अन्तर था एक में बौद्धिक आनन्द था तो दूसरे में आत्मिक आनन्द। कला साध्य न मानकर अन्तिम लक्ष्य (उस परम तत्व की प्राप्ति) का साधन माना है। साथ ही अभिव्यक्ति के माध्यम अथवा साधन के रूप

मे भारतीय विचारक कला को स्वीकारते है। इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चातय विचारधाराओ मे भिन्नता पाई जाती है।

वैशषिक दर्शन का सिद्धान्त ही है कि देश जाति धर्म व्यक्ति आदि सभी के अन्त प्राणो मे वही एक दिव्य सत्ता अवस्थित है और इस सभी रूपो में अपने अभ्युत्थान के लिए उसकी उपासना का दृष्टिकोण आर्यो न रखा। उनका विश्वास था कि प्राणी मात्र के हित - चिन्तन मे ही हमारा आत्म चिन्तन और आत्म चिन्तन मे ही ब्रह्म चिन्तन है, महर्षि पतजल द्वारा योग दर्शन योग तत्व के उपदेश द्वारा मोक्ष प्राप्ति मे उपयोगी होने से सर्वथा उपादेव है। (17) अद्वैतवाद मे जीव का भेद–भाव नष्ट होकर उसका ब्रह्म हो जाना ही मुक्ति है। आत्मा अपने को पूर्णत परमात्मा मे लीन कर देती है, जिससे अतत केवल ब्रह्मा या परमतत्व ही रह जाता है सामान्य प्रकार के अज्ञान और बधनो से मुक्त हो जोने पर मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान और शक्ति के साथ ब्रह्म चिन्तन का असीम अनुभव करता है।

जो शब्द अर्थ और उनका सम्बन्ध परमात्मा के ज्ञान मे है वे सब नित्य है, सृष्टि के आरम्भ मे परमेश्वर ने जितने भी पदार्थ उत्पन्न किये आदि ज्ञान वेद मे उन सबके नाम व तत्सबन्धी ज्ञान (जिसमे शब्दार्थ सम्बन्धी ज्ञान भी है) साथ में दिया। परमेश्वर के त्रिभ्रंन्त होने के कारण उन शब्दो तथा उनके अर्थो मे वृद्धि क्षय विपर्यय आदि का प्रश्न ही नही उठता। देशकाल के प्रभाव से वे अस्मप्रक्त है। परमेश्वर द्वारा सृष्ट सूर्य का कार्य प्रकाश व ताप देना है। वह उसके स्वभाव से प्राप्त है। अत सर्वत्र सबके लिए समान है। सूर्य किसी वर्ग विशेष को प्रकश दे और दूसरे को न दे ऐसा नहीं कहा जा सकता। ईश्वर का ज्ञान व क्रिया स्वाभाविक होने से उसकी विद्यात्रिकाला बाधित है। तदनुसार ही उसके द्वारा नियत शब्दार्थ सम्बन्ध भी नित्य है।

परमात्मज्ञानस्था शब्दार्थ सम्बन्धा नित्या ।।22।।

नियतवाचोयुक्तिस्च निपतानुपूर्व्यत्वज्च वेदे ।।24।।

वेद वाणी नित्य है तथा उसकी आनुपूर्वी भी नियत अर्थात नित्य है। अस्मदादिनान्त्वनित्याश्च.

संगीत पत्रिका – हाथरस, पृष्ठ 25

||23||

हम लोगो की कल्पना से उत्पन्न होने वाले शब्द कार्य होने से अनित्य है।

संगीत व जीव ब्रह्म की एक रूपता

सृष्टि के स्वर्णिम विहान से लेकर प्रलय की काली सध्या तक सगीत का अस्तित्व स्वीकार करना ही पडता है। जीवन ग्रन्थ के पृष्ठो को कही से भी उलटिये कोई भी अध्याय नही मिलेगा जिसे सगीत से शून्य कह दिया जाए।

युगसृष्टा मानव ने जन्म लेते ही गीत सुने और मृत्यु होने पर भी गीत सुनते–सुनते शमशान यात्रा की। "घण्टे घडियाल" और "राम नाम सत्य है" की ध्वनियो के साथ उसका स्थूल शरीर भी शून्य मे खो गया।

"क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंच रहित यह अधम सरीरा।।

उपरोक्त पाच तत्वो को मिलाकर ही जीव का निर्माण होता है। और यही तत्व जीवन का आधार माने गये है। यही पॉच तत्व प्रकृति के आधार माने जाते हैं। जिनके ऊपर जड व चैतन्य सृष्टि का अस्तित्व आधारित है। इधर वैज्ञानिको ने सिद्ध कर पॉच तत्व प्रकृति के आधार माने जाते है। उधर भावुक लोग प्रकृति के कण–कण मे सगीत के निहित होने का दावा करते है, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राणीमात्र की उत्पत्ति सगीतमय वातावरण एव संगीमय तत्वो से परिपूर्ण होती है। स्वर आत्मा का रूप है, व आत्मा परमात्मा का स्वरूप जिस प्रकार आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से माना जाता है उसी प्रकार स्वर का सम्बन्ध आत्मा से मानना पडेगा। इससे संगीत व आत्मा का सम्बंध भी सुदृढ़ सिद्ध होगा।

भावुकता से हीन कोई कितना ही पाषाड़ ह्रदय क्यों न हो संगीत से विमुख होने का दावा वो भी नहीं कर सकता। यह आदिम काल से ही जन जीवन के आत्मिक और सुखानुभूतियों की ललित अभिव्यक्ति का मधुरतम् माध्यम रहा हैं प्रकृति के कण–कण मे सगीत सरिता का गर्णप्रिय कल–कल निषाद व्याप्त है। औंकार रूप सार्वभौम सत्ता को ही नादब्रह्म की संज्ञा

योग विज्ञान – श्री पिताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद दतिया लेख अज्ञात पृष्ठ 28

दी गयी है। विश्व के कण-कण मे सगीत पर अव्यक्त कही पर मुखर इस तरह व्याप्त है है। सगीत का मानव जीवन मे स्थान क्या है? यह विचार करते समय प्रथम विचारणीय है कि सगीत क्या है उसकी उत्पत्ति कैसे हुयी यह विचार अनिवार्य है यहाँ केवल शा० सगीत ही नही वरन् स्वरो मे होने वाले भावो के उद्रेक से भी सगीत का अभिप्राय है उसमे लोकगीत से लेकर शास्त्रीय सगीत तक सभी गीतो का समावेश है। जिस समय सारी सृष्टि अधकार के गर्भ मे छिपी हुई थी, मानव व पशु जीवन मे कोई अन्तर नही था। उसी समय एक आश्चर्य चकित कर देने वाले नाद ने समूची सृष्टि को गुजरित कर दिया। यही "अनहत" नाद सगीत सृष्टि का मूलाधार है।

प्राचीन काल मे दैनिक परिश्रम के बाद जब नर नारी शान्त चित्त एव प्रसन्न वदन से सामूहिक सामवेद गायन मे तल्लीन हो जाते थे तो उस समय उनके हृदय के तार झकृत हो उठते थे। सामवेद के गायन से उनमे ईश्वर भक्ति, आत्मिक उल्लास और दिव्य भास का सचार होता था। यही नही सामवेद के मन्त्रो के गायन द्वारा असाध्य रोगो का भी उपचार किया जाता था। उत्तम कृषि के लिए भी सामवेद के मंत्रो का गायन किया जाता था। धीरे–धीरे आज वैज्ञानिक सत्य स्वीकारने लगे है कि संगीत के माध्यम से मनुष्य और प्रकृति को वशीभूत किया जा सकता है।

सगीत के महत्व को स्वीकार करते हुए उपेन्द्र चन्द्र सिह ने कहा " To Summer ise Whet is music one the mediem of sonorus soud which aets upon the human organism and awapens and develops their profer junetions to the extnt of self realisation"

इस कथन की पुष्टि होती है, सगीत यौगिक विद्या है जो मानव को आत्मोन्नति की चरम सीमा यानी मोक्ष के द्वार तक पहुँचा देती है। यही भारतीय जीवन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है। स्वय भगवान श्री गीता में कहते हैं

नाहं वसमि वैकुंठे, योगिनां हृदये मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद"।।

सगीत की एकरूपता के बारे मे डा0 राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा है कि विधाता ने हम लोगो मे सगीत के सयोग का ऐसा विधान कर दिया है कि उसके बिना न तो हम जीवित रह सकते है और न कोई काम कर सकते है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो हम कह सकते है कि वैदिक काल मे भी हमारे देश म सगीत का जीवन से घनिष्टतम् सबध था। यह तो सर्वश्रुत है। अनादि काल मे वैदिक मत्रो का पाठ गाकर ही होता था। विश्व के प्रथम ग्रथ "ऋगवेद' मे कई प्रकार के वाद्य तथा नृत्य का उल्लेख मिलता है। मध्यकालीन, दरबारी गायकों ने अपने साथ ही अपन आश्रय दाताओ का नाम भी उज्ज्वल और अमर बना दिया। अकबर के राजदरबार के प्रसिद्ध सगीतज्ञ , तानसेन के गायन से बुझे हुये दीप स्वय जल जाते है, वर्षा होती थी, दूसरी ओर औरगजेब के अत्याचारो से जब भारत मे त्राहि–त्राहि मची थी तब जन समूह के सामने एक ही मार्ग बचा था। और वह था 'सगीत के माध्यम से ईश्वराधना।" ठीक ऐसे ही समय मे भारत मे चारो ओर से भक्ति धाराओं का जन्म हुआ "हरि को भजे से हरि का होई" विचारधारा देश के कोने–कोने मे प्रभावित हुई, उन सभी धाराओं में सगीत को किसी न किसी रूप मे अपनाया फलस्वरूप तुलसी, सूर, मीरा, कबीर आदि अनेक कवि, भक्त एवं सगीतज्ञो का जन्म हुआ, जिनके पदो का गायन आज भी विभोर कर देता है, ये सभी भक्त सगीत से भलीभाति परिचित थे, भैरव, भैरवी, गौरी, श्री आदि रागो में इनके पद मिलते हैं। डॉ राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार "हमारे साधु सन्तों की सगीत साधना का ही प्रभाव था कि कबीर, सूर, तुलसी, मीरा तुकाराम, नरसी मेहता ऐसी कृतिया कर गये जो हमारे व संसार के साहित्य संगीत में सर्वदा ही अपना विशिष्ट स्थान रखेगी। आज के कयुग मे भी यही देखने को मिलता है कि राष्ट्रीयता के रंग मे रंगे कितने ही दीवानों ने राष्ट्रीय गान गाकर अपने देशवासियो के हृदय में देशप्रेम की ज्वालायें धधका दी। "वन्देमातरम्" की मन प्राण को आन्दोलित कर देने वाली गुबांर से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। गांधी जी की "वैष्णव जन को तो कहिये" तथा "रघुपति राघव राजाराम" की पंक्तियां प्रार्थना मैदान में

एकत्र जनसमूहो के हृदयो मे न जाने कितनी ही अपारशक्ति व शान्ति का सचार करा देती थी।

शास्त्रो मे सगीत के विषय मे कहा जाता है।

"ज्ञान कोटि गुण ध्यान, ध्यान कोटि गुण स्त्रोत।
स्त्रोत कोटि गुण जाप, जप कोटि गुणम गान।।"

अर्थात ज्ञान स्त्रोत ध्यान, जप तप इन सभी से बढकर "गायन" है, क्योकि गायन से परे कुछ नही।

सगीत की महानता को स्वीकार करते हुये प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि शेक्सपियर ने कहा है –जिस मनुष्य में गायन के प्रति रुचि नही, जो इसके मधुर स्वरो से मोहित नहीं होता, वह पतित, विश्वासघाती एव आत्मद्रोही है और उसका हृदय अधकारमय रात्रि से भी भयकर एवं आत्मद्रोही है। संक्षेप में दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो भी संगीत एक महत्वपूर्ण ललित कला है क्योकि हर एक कला का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है। विश्व के अन्तिम तत्व को हम संगीत के रूप मे देखते हैं।

ससार मे हर व्यक्ति आनन्द की खोज में लगा हुआ है यह खोज मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन भर जारी रहगी, अन्तिम सत्य भी केवल विशुद्ध आनन्द है सगीत से प्राप्त आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर माना जा सकता है। आनन्द के जो चार प्रकार हैं।

(1) ऐन्द्रिय सुख देने वाला आनन्द, (2) बौद्धिक आनन्द, (3) मानसिक आनन्द, (4)आध्यात्मिक आनन्द, सभी प्रकार के आनन्द सगीत से प्राप्त होकर जीवन आनन्दमय बनाता है।

आत्मा को स्वस्थ रखने का कार्य सगीत करती है। अध्यात्मिक आनन्द पहुँचाने की तैयारी संगीत से होती है ईश्वर से एकरूप होने का संगीत एक बहुत उच्च्य साधन है, आत्म निर्भरता संगीत से प्राप्त होती है।

वैदान्ती इस जीव को ब्रह्म की प्रातिभासिक रूप मानता है तो चार्वाक इन सबसे भिन्न भूचतुष्टयस्वरूप ही आत्मा स्वीकार करता है।

वैदिक दर्शन मे सर्वप्रथम आत्म-विषयक इन शब्दो में मिलता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखया समान वृक्षपरिषस्व जाते

त्रयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति।।

दो पक्षी सयुत और सखा एक ही वृक्ष पर बैठे है उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा बिना खाये ही देखता रहता है।

इस व्यजना मे आत्मा खाने वाला पक्षी परमात्मा देखने वाला पक्षी है।

जीव और ब्रह्म मे सबध है ये दो है कि एक एक ही हैं। शकराचार्य के अनुसार जीवन और ब्रह्म दो नही है इनमे द्वैत नही है अत उनके मत का नाम द्वैतवाद है। रामानुजार्वाय भी इस मत का स्वीकारते हुए कहते है कि एक ब्रह्म मे जीव तथा अचेतन प्रकृति भी विशेषण रूप भी है।

रामानुज के अनुसार ब्रह्मा चित् (जीव) और अचित् जड प्रकृति दोनों तत्वों से युक्त है। वह एक मात्र सत्ता है, अर्थात उससे पृथक या स्वतत्र और किसी वस्तु की सत्ता नही है। रामानुज का अद्वैतवाद विशिष्टा द्वैत कहलाता है क्योकि उनके चित् और अचित् आशो से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्मा एक ही है। वह गुणो का भडार है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कृपालु है। अतएव ब्रह्मा सगुण है, निर्गुण नही। उपनिषदो मे जो ब्रह्मा को निर्गुण कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा में जीव है गुण (राग द्वेष) आदि नही पाया जाता है ब्रह्मा ही जगत् की सृष्टि स्थिति और नाश करने वाले है। जब प्रलय होता है और भौतिक विषय का नाश हो जाता है तब ब्रह्मा मे (चित्) (जीव) और अचित् (प्रकृति) ये दोनो तत्व अपनी बीजावस्था मे निहित रहते है। भौतिक विकारो के परिणामस्वरूप विषय बनते बिगड़ते और बदलते रहते है, परतु उसका आधारभूत द्रव्य सर्वदा विद्यमान रहता है। इसी तरह जीवों की शरीर बनते बिगड़ते रहते है परतु उसका चित् तत्व सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्रत्यावस्था में विषयो के अभाव में ब्रह्मा शुद्ध चित् (अशरीरी जीव) और अव्यक्त अचित् (निर्विषयक प्रकृति) से युक्त रहता है। इसे "कारण ब्रह्मा" कहते हैं। जब सृष्टि होती है तब ब्रह्मा शरीरो जीवों

स्वामी स्मृति – पृष्ठ 14 संस्कृत परिषद वातिया

तथा भौतिक विषयो मे व्यक्त हता है। यह "कार्य ब्रह्मा" है।

उपनिषदो मे जहॉ तहॉ विषयो को असत् और ब्रह्मा को नेति–नेति (वाणी और मन से अगोचर) कहा गया है वह अव्यक्त ब्रह्मा कारण ब्रह्मा से तात्पर्य है।

जब चित् और अचित दोनो ब्रह्मा अश है तथा भौतिक विकार का अर्थ हुआ ब्रह्म विकार। इस तरह ब्रह्म का परिणामी होना सूचित होता है। इसी प्रकार जण जीव ब्रह्म के वास्तविक अश है तब जीव के सुख- दुख क्या ब्रह्म के सुख–दुख नही कहे जा सकते। तब जगत् के सारे दोष ब्रह्मा पर आ जाते है। जीव जगत् का देह है और ईश्वर आत्मा है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेगे तो यह कह सकते है कि यदि जीवन को संगीतमय बनाया जाय तो भावनात्मक एकता आयेगी अर्थात यह भावनात्मक एकता संगीत से प्रत्यक्ष रूप से नहीं अप्रत्यक्ष रूप से होगी। भावनात्मक एकता की प्रेरणा संगीत से जरूर प्राप्त होगी इसीलिए सगीत को जीवन मे स्थान प्राप्त होना चाहिए। सगीत नारद की वीणा है जो भेदाभेद को नही मानता वह सर्वकालीन है तथा सार्वभौमिक है, सस्कारित मन एक तरह से भावात्मक एकता के लिए सहयोगी होता है। सामाजिक एकता मे जो विघ्न आते है उसे दूर करने मे सगीत उपयुक्त बन सकता है। जीवन मे रागकी निर्मित होनी चाहिए। राग का 'साम्य', 'सान्य' का सावाद निर्माण करने के लिए सगीत सस्कार रित मन ज्यादा उपयुक्त है। सगीत का उपयोग इस प्रकार से भावात्मक एकता लाने के लिए अप्रत्यक्ष रीति से किया जा सकता है।

आत्मा नित्य अविनाशी द्रव्य है, जो वास्तविक जगत में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है मृत्यु के उपरान्त भी यह अपने इस जन्म के कर्मो का फल भोग करने के लिए विद्यमान रहता है। चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। किन्तु एक औपचारिक गुण है जो अवस्था विशेष मे उत्पन्न हो जाता है। सुषुप्तावस्था तथा मोक्षावस्था में आत्मा चैतन्य नहीं रहता क्योकि उसके उत्पादक कारणों जैसे (जैसे इन्द्रिय और विषद का संयोग) आदि का अभाव हो जाता है हिन्दू धर्म में शरीर के नाश व आत्मा के अमर होने में विश्वास किया गया है। यही कारण है कि पुर्नजन्म व कर्म फल भी माना जाता है धर्म के विभिन्न पथ व मत इसी अमर आत्मा की पवित्रता व उसके मोक्ष पर थोडे बहुत अन्तर के साथ बल देते

कोई अक्षर काया द्वारा इसकी मुक्ति का मार्ग बताते है, तो कुछ कठिन तपस्या और कुछ भक्तिको तो कुछ योग साधना को। ये विभिन्न मार्ग उस एक उद्देश्य की ओर अग्रसर है बुद्ध, महावीर स्वामी, मीरा, सूर इसी प्रकार विभिन्न मार्गो द्वारा आत्म साक्षात्कार मे सफल हुये। भा0 संगीत मोक्ष प्राप्ति ईश्वर भक्ति का एक साधन है,। मीरा, सूर, तुलसी, त्यागराज, हरि वल्लभ आदि ऐसे सत थे जिन्होने संगीत प्रधान भक्ति द्वारा ईश्वर से एकाकार होने लगता है। यही आत्म साक्षात्कार है नाद की उपासना। जिसे 'नाद योग' से भी जाना जाता है। याग ना (योग मार्ग जो मोक्ष प्राप्ति का एक मार्ग है) ही एक प्रकार है सगीत द्वारा नाद ब्रह्म की उपासना से वह स्थिति प्राप्त होती है। जब लोक से हटकर व्यक्ति उस आनन्द की दुनिया मे पहुँचता है जिसे आत्मानन्द कहते है यही आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर है।

सर्वश्रेष्ठ माना गया है और अतिप्राचीन माना गया है उसमे सभी अन्य कलाओ की अपेक्षाकृत अधिक आकर्षण होने से उसे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

हमारे शास्त्र ग्रन्थो मे सगीत को ब्रह्म स्वरूप माना गया है और उस ब्रह्म स्वरूप सगीत की अरफुट ध्वनि प्राणी मात्र के हृदय मे गूंजती रहती है। सगीत रत्नाकर में नाद स्थान--स्वर प्रकरण के प्रारम्भ मे ही कहा गया है।

"चैतन्य सर्वभूताना बिवृत जग दात्मना।
नाद ब्रह्म तदानन्द मद्वितीै यमबारस्महे।।"

अर्थात जो सर्वप्राणियो का चैतन्य है जगद्रव से विवृत हुआ है। जो आनन्दमय और एक है उस प्रसिद्ध नाद ब्रह्म की हम उपासना करते है

भरत के षड दर्शन के समान ही सगीत शास्त्र भी ब्रह्म सम्बन्धी चिन्तन का विषय रहा है। मानव जीवन का परम लक्ष्य साक्षात्कार माना गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम माध्यम संगीत होने के कारण इसे अध्यात्म के रंग में पूरी तरह रंगने का प्रयत्न किया गया। 'सामवेद' के अतिरिक्त 'ब्राह्मण संहिता' 'गंधर्व वेद' 'प्रतिशाख्य' नारदीय शिक्षा "छान्दोग्य उपनिषद आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण है। 'नाट्य शास्त्र' 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' 'संगीत रत्नाकर' आदि भी इसी चिन्तन धारा के ग्रन्थ है।

योग की व्याख्या

योग विद्या का प्रादुर्भाव पहले हुआ है और उसके जन्मदाता हिरण्यगर्भ जी महाराज थे जिनके सम्बन्ध मे ऋगवेद 10/927 श्री मद्भगवत् गीता 5/19/13 मे लिखा कि यह हिरण्यगर्भ महाराज वहीं थे जिन्होंने वेद विद्या के पहले ही योग विद्या का प्रादुर्भाव किया था। वेदों का विकास के पहले योग प्रकाश हो चुकी थी बल्कि योग विद्या के गर्भ से ही वेद विद्या का जन्म हुआ है।

योग का जन्म

सृष्टि का आरम्भ काल में उक्त हिरण्यगर्भ जी महाराज से अग्नि वायु आदित्य व अगिरा आदि चार महर्षियों ने इसे पढ़ा और उक्त चारों ऋषियों से महर्षि पातजलि ने सीखकर 'योगदर्शन' नामक ग्रन्थ के रूप मे प्रकट किया जो कि इस सम्बन्ध मे सभी ग्रन्थो मे प्रधान व मान्य माना जाता है।

योग का अर्थ

योग शब्द का अर्थ है जोड़ना और दूसरा अर्थ है उपाय अर्थात महर्षि पातजलि के मतानुसार चित्त की वृत्तियों को रोक देना ही योग है माया के कारण जीवात्मा और परमात्मा भिन्न मालुम होते हैं। अद्वैत सिद्धांत के अनुसार जिस ज्ञान व क्रिया से जीवात्मा को परमात्मा स्वरूप का ज्ञान हो उसी को योग कहते हैं। माया से बढ़कर ससार में दूसरा बन्धन नही है अतएव इसी बन्धन को काटने वाला साधन ही योग कहलाता है, यही महाराज पातजलि के योग के सम्बन्ध मे व्याख्या है।

दर्शन एवं साधना परक वाडमय मे योग शब्द का अनेक अर्थो मे प्रयोग किया जाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार जीवात्मा तथा सर्वोपरि आत्मा के संयोग का नाम ही योग है।

योग शब्द के व्यापक अर्थ है जो कोई संसार मे सदाचार से रहकर जीवन सफल करना चाहता है वही योगी है, और सभी धर्म इस बात की पुष्टि करते हैं कि सदाचार ही स्वर्ग का सुगम मार्ग है योग मे सदाचार के अर्थ केवल शिष्टाचार नहीं है बल्कि अहार विहार का

योग विज्ञान - श्री पितामबरा पीठ संस्कृत परिषद दतिया लेख अज्ञात पृष्ठ 28

नियम भी है संक्षेप मे योग का अर्थ शरीर का युक्त व्यायाम सात्विक अहार और ब्रह्म विद्या का अध्ययन सभी हिन्दू शास्त्र बताते है कि योग के सिवाय मुक्ति का और दूसरा कोई उपाय नही है योग साधन केवल विरक्त लोगो के लिए नही है गृहस्थ लोगों का भी योग से सम्बन्ध है, राजा जनक और भगवान श्री कृष्ण इसके ज्वलन्त उदाहरण है। वे गृहस्थ मे रहते हुए पूर्ण योगी माने गये है।

योग का महत्व - योग शिरयोपनिषद मे योग मार्ग का बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है।

आरम्भ काल मे हिरण्यगर्भ ने श्री महेश्वर से प्रश्न किया कि हे शकर! इस दुखमय संसार मे सब जीव पड़े है और अपने अपने कर्मो का फल भोग रहे है इनकी मुक्ति किस प्रकार से हो सकती है कृपया इसका कोई सरल उपाय बतलाइये। इसका उत्तर देते हुये कहा कि कर्मबन्धन से मुक्त होने के उपाय को ही कोई ज्ञान और ज्ञानहीन योग कहता है। योग कभी भी मोक्षप्रद नही हो सकता अतएव मुमुक्षु को दृढता के साथ दोनो का ही अभ्यास करना चाहिए।

योगभ्यास के द्वारा चित्त की एकाग्रता प्राप्त होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है व उसी ज्ञान से जीवात्मा की मुक्ति होती है। वह मुक्ति परम ज्ञान योग के सिवा केवल शास्त्र पढने से नही हो सकता। भगवान शंकर जी ने यह भी कहा कि मेकड़ों तर्कशास्त्र तथा व्याकरणादि पढकर मनुष्य शास्त्र जाल मे फसकर केवल विमोहित हो जाते हैं। वास्तव मे प्रकृति ज्ञान योगाभ्यास के बिना नही होता (योगबीज 8)

'योगेन रक्षते धर्मो विद्या योगेन रक्षते (विदुर नीति)

अर्थात् योग से धर्म और विद्या दोनो की रक्षा होती है।

महादेव जी ने कहा कि हे परमेश्वर योगविहीन ज्ञान मोक्ष दायक नही सकता। हे प्रिय! ज्ञानवान, सत्य विरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय होने से ही मुक्ति नहीं मिलती मोक्ष के लिए तो देवताओं तक को भी योग साधन करना पड़ता है।

भगवान शकर ने कहा –

ज्ञान निष्ये विरक्तो धर्मज्ञाऽपि जितेन्द्रिया।

बिना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिय।।

अर्थात कोई मनुष्य चाहे कितना ज्ञानी, विरक्त, धार्मिक, और जितेन्द्रिय क्यो न हो पर बिना योग के मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता।

महाभारत के समय जिस वक्त अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण से पूछा कि हे मनमोहन जो अत्यन्त प्रेमी भक्त जन निरन्तर आपके भजन ध्यान मे लगा रहकर आप सगुणरूप परमेश्वर को, अतिश्रेष्ठ भाव से उपासते है और जो अविनाशी है, सच्चिदानन्दघन निराकार को ही उपासते है, उन दोनो प्रकार के भक्तो मे अति उत्तम योगवेत्ता कौन है। (भगवत् गीता 12–9)

अर्जुन के इस प्रश्न पर श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! मुझमे मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान मे लगे हुये जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुये मुझे भजते है वे मेरे मन मे सबसे उत्तम योगी है।

योग साधना

मनुष्य चार प्रकार के होते है कर्म प्रधान योग प्रधान भक्ति प्रधान और दार्शनिक अर्थात बुद्धि प्रधान उनकी प्रकृति के अनुसार मार्ग भी चार है यद्यपि उनका लक्ष्य एक ही परमतत्व की उपलब्धि है। इस परमतत्व का उपर्युक्त चार प्रकार के मनुष्यो को भिन्न–भिन्न दृष्टियों से उपलब्ध करने के जो चार मार्ग बतलाये गये हैं उन्हीं में कर्म योग, भक्ति योग, राज योग, और ज्ञान योग कहते हैं। यह चारों मार्ग परस्पर विरोधी न होकर सहायक है। कर्म योग से मल का नाश होता है, चित्त की शुद्धि होती है और ज्ञान योग से अज्ञान का आवरण हटकर बुद्धि का विकास होता है आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है और राजयोग द्वारा मन पर विजय पाकर प्रकृति के समस्त व्यापारों पर शासन किया जा सकता है व ब्रह्म ईवर या विराट रूप अद्वितीय ब्रह्म सत्ता का दर्शन करके या ध्यान भूमि की पराकाष्ठा मे पहुचा जा सकता है। अतएवं साधन के चारो योग का साधन करना चाहिए। (भगवत गीता 40–10)

प्राचीन महर्षियों मुनियो द्वारा जो धर्म मानव जाति के उद्धार के लिए प्रकाशित किया गया उसमे योग प्रथम स्थान प्राप्त है। यदि मानव धर्म से योग साधन को हटा दिया जाय तो फिर उसमे कोई विशेष महत्व की बात ही नही रह जाती है योग शास्त्र ही ससार में एक ऐसा शास्त्र है।

योग के अलौकित प्रभाव

योगियों ने योग बल से मन स्थिर करके शरीर के अन्दर कहॉ क्या है यह सब जानकर, मानसिक अवस्थाओ का पूर्ण रूप से विचार कर मंत्र तंत्र और यत्रों के रहस्य का आविष्कार किया है। उनके मतानुसार शरीर के हर एक चक्र मे प्रत्येक स्नाविक केन्द्र मे एक–एक प्रकार की अलौकिक शक्ति निहित होती है आनेद्रित शक्तियो को प्राणवायु और ध्यान की सहायता से जाग्रत करके साधक दूरदर्शन, दूरश्रवण परचित्त विज्ञान, परकाया प्रवेश, आकाशरोहण योग बल से देह त्याग नाना प्रकार की सिद्धिया व अलौकिक शक्तियां प्राप्त कर सकता है। चौरासी लाख योनियो मे भटकने के बाद कही दुर्लभ मनुष्य योनि प्राप्त होती है, और यही एक योनि है जिसमे जो सुविधा मनुष्य को प्राप्त है उससे स्त्रिया भी वचित नहीं है। अतएव नर तन पाकर भी जिसने संसार के दुखों से मुक्ति व ईश्वर प्राप्ति का उपाय नहीं किया उसके सम्बन्ध मे जितना भी कहा जाय वह भी थोड़ा है। यह बात अवश्य है कि योग का मार्ग सरल न होकर बहुत दुर्गम और कष्टप्रद है परन्तु सत्य सकल्प और दृढ प्रतिज्ञा के सामने कोई किसी भी बाधा टिक नही सकती एव दो नही बल्कि दस बार असफल होने पर आप अपने निश्चय पर अटल रहेंगे तो सफलता को एक न एक दिन खडे पायेगें अपने सामने।

"एषैव योगशास्त्रेषु योगिनामनेक शरीर प्रयोग प्रक्रिया।"

"योगने योगोऽपि प्रत्युक्तो भवतीति कथम्"

योग क्या है चित वृत्तियों का निरोध करना।

"सम्प्रज्ञातस्य योगत्वं निवर्तित मा भूदिति सर्वशब्दाग्रहणम्"

कहीं 'सम्प्रज्ञातस्यं समाधि' का ही योग, योग की परिभाषा से बहिष्कार न हो जाए इसलिए इस परिभाषा सूत्र में केवल वृत्तियों के निरोध की बात कही है "सारी वृत्तियों के" निरोध की नहीं इस प्रकार इस परिभाषा में योग के सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात दोनो प्रकार आ जाते है।

चित हि प्रख्या- प्रवृत्ति स्थिति-शीलत्वात् त्रिगुणाम्"

चित तीन गुणो का सम्मिश्रण है। इनमे से सत्व गुण प्रकृति--विकृति दोनो का साक्षात कराता है। रजोगुण प्रकृति की प्राप्ति को क्रियाओ में प्रवृत कराता है। तमोगुण ठहराने का काम करता है जडता लाता है न ज्ञान न क्रिया।

इसी चित्त के तरंग रूप परिणाम को वृत्ति कहते है। इन चित्त वृत्तियो के स्वभाव सिद्ध प्रवाह को स्वकारण चित्त मे विलीन होकर अटक (रूकी) जाना चितवृति निरोध कहा जाता है।

परमात्मा और जीवात्मा की जो यह अविभाग रूप समानता रूपता है वही परम योग है। यह संक्षेप मे कहा गया है।

(ख) चितवृत्तियों के पाँच प्रकार

(1) प्रमाण वृत्ति, (2) विपर्यय वृत्ति, (3) विकल्प वृत्ति, (4) निद्रा वृत्ति, (5) स्मृति वृत्ति।

योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि है जहाँ तत्व ज्ञान का सम्बन्ध है योग शास्त्र एव सांख्य शास्त्र में भेद नही है समानता होते हुए भी अनेक दृष्टियो में भिन्नता भी है।

चित्तवृत्ति का निरोध योग की परिभाषा है-योगश्चित्त वृत्ति निरोध" यह योग दो प्रकार का है (1) सम्प्रज्ञात (2) असम्प्रज्ञात

संप्रज्ञात योग पुन चार प्रकार का है (1) वितर्कानुगत (2) विचारानुगत (3) आनन्दानुगत (4) अस्मितानुगत।

(1) वितर्कानुगत में धारणा के द्वारा देवता का विकल्पात्मक चतुर्भुज आदि रूपों में दर्शन होता है। (2) देवता के स्थूल रूप का परित्याग कर जब चित्त की वृत्ति का प्रवर्तन सूक्ष्म

स्वामी स्मृति पृष्ठ 14 संस्कृत परिषद दतिया

वस्तु मे विचार के द्वारा होता है उसको विचारानुगत योग कहते हैं। (3) ज्ञानेन्द्रियों का अवलम्बन कर जिस सत्तवृत्त का उदय होता है, इय योग को आनन्दानुगत योग कहते है। सत्व गुण से इन्द्रियो की उत्पत्ति होती है तथा सत्त गुण ही आनन्दानुगत होती है। (4) बुद्धि को आत्मा मे युक्त करने से अर्थात दोनो के एक्य से अस्मितागत योग का अनुभव होता है। सम्प्रज्ञात नाम से इन चारो प्रकार की समाधियो की सिद्धि ऊपर वैराग्य से प्राप्त होती है। असम्प्रज्ञात– सात्विक राजस एवं तामस सभी वृत्तियो के निरोध का नाम असम्प्रज्ञात योग है चित्त वृत्तियो के पॉच प्रकार मे प्रमाण वृत्ति किसी भी पदार्थ के निश्चयात्मक ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है फिर शास्त्रों का विषय अत्यन्त गहन होता है अत इस को जानने के लिए साधनों की चर्चा आवश्यक है, यथार्थ ज्ञान के साधनों को प्रमाण कहा गया है। प्रमाण की परिभाषा है–"प्रमाया करणं प्रमाणं" यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है। जो करण अर्थात साधन है उसको प्रमाण कहा जाता है। यह प्रमाण मुख्यत तीन है (1) प्रत्यक्ष प्रमाण (2) अनुमान प्रमाण (3) शब्द प्रमाण। कतिपय शास्त्र उपमान, अर्थापति, अनुपलब्धि, एतिहह्या सम्भव एवं चेष्टा को भी प्रमाण की ही चर्चा कर रहे हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रियां साधन हैं। जब ज्ञानेन्द्रियो को अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होता है तब जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यहॉ ज्ञानेन्द्रियो, विषय, ज्ञान तीना ही प्रत्यक्ष होती है।

कतिपय दर्शनिको का मत इससे भिन्न है ईश्वर के ज्ञान के आर्विभाव में इन्द्रियां तथा उनके विषय अथवा सन्निकर्ष कारण नहीं है ब्रह्म ज्ञान की अनुभूति के लिए ज्ञानेन्द्रिय विषय और उनके सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है तथापि यह अलौकिक ज्ञान प्रत्यक्ष ही कहलाता है। यहा वृत्ति की प्रधानता है। जब वृत्ति से आविच्छिन्न चैतन्य एव विषय ये अविच्छिन्न चैतन्य मे अभेद की अनुभूति को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्व मति' महावाक्यों के द्वारा जीवन तथा ब्रह्म के साक्षात्कार मे यही अभेद अनुभूति सिद्ध होती है

"अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमवतत्।

अी ब्रवीति केवल साक्षत्कार स उच्चते।।

प्रत्यक्ष ज्ञान को सभी प्रकार के दर्शनों ने मान्य किया है। चर्वाक दर्शन तो केवल प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमाण मानता है।

अनुमान प्रमाण

अनुमिति प्रमा के कारण अनुमान प्रमाण है। यहां व्यक्ति ज्ञान अथवा लिंग परामर्श ही करण अर्थात ज्ञान का साधन है। जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि भी निश्चित रूप से होती है। बिना अग्नि के धुआँ का अस्तित्व सम्भव नहीं। अग्नि एवं धुए के साहयर्च अर्थात सान्निध्यति को व्याप्ति ज्ञान के नाम से कहा जाता है। इस प्रकार धुआ दृष्टिगत होने पर अग्नि का अनुमान होता है। व्याप्ति ज्ञान ही अनुमान है और उसका स्मरण व्यापार है। जबकि प्रत्यक्ष प्रमाण सम्भव नहीं है वहीं अनुमान से ही पदार्थ का दर्शन सम्भव होता है। अनुमान प्रमाण अत्यन्त प्रबल प्रमाण है चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी दर्शन ने इस प्रमाण को स्वीकार किया है। न्याय शास्त्र म इसका विशेष प्रतिपादन है, यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि तर्क कर ही ब्रह्म एवं आत्मा की सिद्धि के लिए प्रयुक्त किया गया है और दर्शनशास्त्र का अधिकांश विस्तार तर्क द्वारा ब्रह्म के अनुमान में लिखा गया है।

शब्द प्रमाण

महर्षि गौतम के मत में आप्त उपदेश को शब्द प्रमाण कहा गया है आप्त शब्द का अर्थ हे यथार्थ इस प्रकार यथार्थ ज्ञान के उपदेश का नाम शब्द प्रमाण है। यह शब्द प्रमाण दो प्रकार का है। (1) वेद (2) लोक यथार्थ। ज्ञान का उपदेश वेदो द्वारा किया है। अतः वेद शब्द प्रमाण है ऋषि वेदो की दृष्टा है। गम्भीर तत्व ज्ञान की अनुभूति दिव्य चक्षुओं द्वारा उनको प्राप्त हुई। अत वह प्रमाण रूप है जो रूप है जो वेद ग नाम से प्रसिद्ध है। वृद्ध जनों के वचनों से लोक में भी ज्ञान प्राप्त होता है। अतः वह भी शब्द प्रमाण माने जाते हैं। वेद मंत्र एवं ब्राह्मण दो भागों में विभक्त है। मंत्र एव ब्राह्मण कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड दोनों समान रूप से प्रमाणिक है। ज्ञान काण्ड को ही वेदान्त के नाम से जाना जाता है। वेदों का अरण्यक

और उपनिषद भाग तत्व ज्ञान मे प्रमाण है। कुछ विद्वानों का मत है कि ज्ञान काण्ड कर्मकाण्ड की अपेक्षा नवीन है किन्तु श्री पूज्यपाद स्वामी जी का मत है कि वेदों के संहिता भाग में ऋग्वेदी ब्रह्म -सूक्त, पुरुष सूक्त नारदीय सूक्त, आदि तत्व ज्ञान का श्रोत उपलब्ध है।

चार्वाक जैन तथा बौधमतों न वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नही की है अत वह परम्परा के अनुसार नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं किन्तु इस सम्बन्ध मे वैदिक कर्मकाण्ड म प्रतिपादित हिसा अश्लीलता जटिलता आदि का विरोध का कारण प्रतीत होती है। बौद्ध दार्शनिक ने लिखा है वद की प्रामाणिकता सृष्टि क कर्तृवाद, स्नान आदि मे धर्म बुद्धि, जातिवाद में विश्वास तथा प्रायष्चित को पाप–नाशक मानना यह पाच सिद्धान्त बुद्धि की जडता के परिचायक है जिनकी प्रज्ञा ध्वस्त हो गई है, उनके यह पांच लक्षण हैं–

"वेद प्रामाण्य कस्यचित्, स्नने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः

पयाश्चित्त पाप हानायचेति ध्वस्त प्रज्ञनांप्पस्वच लिगनि जडचैव।।"

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के मतो मे अहिसा का ही प्राधान्य है। वैदिकमत के पुनरूद्धार के समय भी अहिसा का उन्मुलन नही किया जा सका अपितु अनेक सम्प्रदायो ने अहिसा को मूल सिद्धान्त के रूप म स्वीकार कर लिया गया तथा बुद्ध भगवान का अवतार मान लिया।

जयदेव कवि ने लिखा है

निन्दसि यज्ञ- विधेर हह श्रृतिजातम्

सहृद हृदय दर्शित पशु घातम्।

केशव धृत बुद्ध शरीर।'

कतिपय तान्त्रिक साम्प्रदायों ने अवश्य ही पशु वध को यज्ञ तथा सामान्य जीवन में भी स्वीकार किया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी हिसक वृत्ति के मनुष्यों को धर्म में प्रवृत करने के लिए किया गया। दक्षिण मार्गी शाक्तों ने मद्य मांस एवं यज्ञेय पशु हिसा का पूर्ण विरोध प्रदर्शित किया है और कहा है

"मद्य पानेन मनुषो यदि सिद्धि लभेत वै।

मद्यापान रतः सर्वे सिद्धि गच्छन्तु पामराः।

क्व मास क्वशिवे भक्तिः क्व महाक्व शिवार्चनः

मद्यादि पूजा निरतै, सु दुष्प्रायो हि शंकरं।।"

अर्थात यदि मद्यपान से सिद्धि मिलती हो तो सभी मद्यपायी सिद्ध हो सकेंगें। कहां मास भक्षण और कहा शिव भक्ति कहा मद्य कहा शिवोर्चन। आदि से पूजा–निरत कभी शिवत्व की प्राप्ति मे सफल नही हो सकता।

इन सबके बावजूद भी वैदिक ज्ञान काण्ड की अनुभूति एव तात्विक विवेचन अपने आप मे पराकाष्ठा है। वेदान्त के तत्व आगमादय तथा शास्त्र द्वारा प्रतिपादित मर्यादा समाज के लिए एक ठोस आधार है। तथा सासारिक क्लेशो से मुक्ति का एक सुसस्कृत एवं परिष्कृत उपाय है। चर्तुविध पुरूषार्थ का एक साधन है। अन्य प्रमाणो के चर्चा करना यहा स्थानाभाव से उपयुक्त नहीं है। तथा उनका महत्व भी विशेष नहीं है। प्रमुख प्रमाण, प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द स्वीकार किये जाते है। "अश्रद्धेयार्थो वृष्टानुमितार्थ--वक्त्रा अन्यथा–प्रतिपादित आगम. प्लवते। ।।27।। जो वक्ता स्वय प्रत्यक्ष नही देखता और सही अनुमान भी नहीं कर पाता उसका अर्थज्ञान अश्रद्वेय–अविश्वसनीय होता है। ऐसा वक्ता द्वारा प्रतिपादित अन्यथा–ज्ञान थोथा रहते है, सत्य की गहराई तक नही जा पाता। और जिस ज्ञान को मूल वक्ता स्वंय ईश्वर ने प्रेरित किया हो, ऐसे वेदो के ज्ञान मे कोई उथल पुथल नहीं हो सकती, वह तो परम अकाटय प्रमाण होता है। (7)

प्रमाण वृत्ति के अलावा अन्य चार वृत्ति इस प्रकार हैं।

(2) विपर्यय -- जो वृत्ति मिथ्या ज्ञान को साक्षात करती है वह है विपर्यय।

(3) विकल्प -- अर्थ की अनुपस्थिति मे भी केवल शब्द के द्वारा जिसका व्यवहार होता है वह विकल्प है।

(4) निद्रा — अभाव ज्ञान का जिस वृत्ति में अनुभव होता है उसको ही निद्रा कहते हैं।

(5) स्मृति — चित की इन पांच प्रकार की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है।

स्वामी स्मृति ग्रन्थ (मंगलम्) प्रकाशन श्री पीताम्बर पीठ दतिया संस्कृत परिषद

कुछ तान्त्रिक विद्वानों का मत है कि "युजिर योगे" प्रमाण से जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहते है किन्तु पांतञ्जलि योग सुत्रो पर व्यास भाष्य के अनुसार समाधि को योग माना गया ह। समाधि चित का सार्वभौम धर्म है। "योगः" समाधि स चसार्वभौम चश्चितत्व धर्म।

वाचस्पति मिश्र ने भी "युज समाधौ" अर्थात युज धातु को समाधि अर्थ मे प्रयोग किया है। अत समस्त वृत्तियों को निरोध एव पर वैराग्य के अभ्यास से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

ईश्वर भक्ति और प्रणव के जप से भी समाधि का लाभ होता है हठयोग तन्त्रशास्त्र एव उपासना काण्ड भी योग शास्त्र के अंग है। क्रिया एव मत्र का जप में समावेश हो जाता है। हठ योग का क्रियाओं द्वारा प्राण के संयम हो जाने पर कुण्डलिनी शक्ति का जागरण सिद्ध हो जाता है। अतः यह भी योग शास्त्र के अन्तर्गत ही है।

तप, स्वध्याय, ईश्वर, प्राणिधान क्रियायोग है। शीत–उष्मा सुख दुख आदि द्वन्दों का सहन करना तप है प्रणव आदि का जाप स्वाध्याय है। तथा समस्त कर्मो को ईश्वर अर्पण बुद्धि से करना ईश्वर प्राणिधान है। इनके उपयोग से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेपष, अभिनिवेश इन पांच क्लेशो से निवृत्ति होने पर समाधि सिद्ध होती है। नित्यमे अनित्य आत्मा में अनात्म बुद्धि अविद्या है अहंकार जन्य क्लेश असिमता एव मरण भय अभिनिवेश नाम से कहा जाता है। क्लेशात्मक स्थितिया से निवृत्ति होने पर ही समाधि में स्थिरता आती है।

2) विपर्ययो मिथ्याज्ञानम अतद्रूपप्रतिष्ठम् ।।1/8।।

विपर्यय वृत्ति का अर्थ है मिथ्याज्ञान और पहचान है कि यह पदार्थ के वास्तविक स्वरूप पर आधारित नहीं होता।

(28) बुद्धि सा न प्रमाणम्, 47 यत प्रमाणेन् बाध्यते अभूतार्थ विषयत्वात् ।48

तत्र प्रमाणस्य प्रमाणेन् बाध सवर्शनम् 49। तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनस्य सविषयेणा एकचन्द्र--दर्शनेन ।50

योग सूत्र, पृष्ठ 21 सच्चिदानन्द

विपर्यय ज्ञान प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान या आगम प्रमाण से वह काट दिया जाता है। इसका कारण यह है कि विपर्यय का विषय ऐसे पदार्थ होते हैं जिनकी वस्तुतः सत्ता ही नहीं होती। अप्रमाणिक बुद्धि प्रमाण क प्रमाण के आते ही कैसे निरस्त हो जाती है इसका उदाहरण यह है कि यदि कोई अपने दृष्टिकोण से दो चॉद देखता है तो नीरोग होने पर वस्तुत विद्यमान एक ही चॉद देख कर उसके इस "विपर्यय" का निराकरण हो जाता है।

(29) 'सोऽयम पञ्चपर्वा 51 अविद्या अविद्यास्मिता– राग द्वेषाभिनेवेषा एत एव क्लेशा 52 स्वसंज्ञाभि तमो मोह महोमोहर– तामिस्त्राऽन्धता मित्राभी विशिष्ट 53 चित–मलप्रसाड गनाभिन्धायित्ते 54।। इस "विपर्यय" बुद्धि जन्य अविद्या के पाच पोर है – (1) अविद्या, (2) अस्मिता, (3) राग, (4) द्वेष, (5) अभिनिवेश (मृत्युभय)। ये पॉच क्लेश भी कहलाते है। अन्य शास्त्रो मे इसे तमस्, मोह महामोह, तमिस्त्र और अन्ध तामिस्त्र भी प्रसिद्ध है।

शब्द ज्ञानानुपाति वस्तुशून्यो विकल्प । ।। / 9।। किसी शब्द के उच्चारण से जब उसके द्वारा कहा हुआ ज्ञान तो आये किन्तु वह ज्ञान किसी वाच्य वस्तु । से रहित हो, तब विकल्प नामक वृत्ति होती है।

(30) सन प्रमणोपारोही, न विपर्ययोपारोही 55।

ऐसा वस्तुशून्य शाब्दिक ज्ञान आगम जैसा विश्वसनीय नही होता और इसलिए प्रमाण की श्रेणी में नहीं आता। न इसे "विपर्यय" ही कहा जाता है, क्योंकि यूँ तो ये दोनों वृत्तिया वस्तुशून्य हैं, किन्तु 'विपर्यय' मे 'विकल्प' की तरह शब्द ज्ञान की अपेक्षा नही है।

(31) वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्द ज्ञानमहात्म्य माता ।56।विबन्धनों सति व्यतिरेक "चैत्रस्य गोः" इति वद्वदेव भवति व्यपदेश वृति ।57।

इस विकल्प वृत्ति में वस्तु का अभाव होने पर भी केवल शाब्दिक ज्ञान की महत्ता के आधार पर इसका प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'चेतना ही आत्मा का स्वरूप है'– इस कथन में विकल्प वृत्ति है। यह वैसी ही व्यपदेश वृति सूचना प्रतीत होती है, जैसे कि चैत्र

पतंजल योग दर्शन, सच्चिदानंद पृष्ठ 36

की गाय है इन दोनों कथनों में सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होने पर भी व्यतिरेक है परस्पर अर्थ भिन्नता है। चैत्र और गाय पृथक पृथक दो पदार्थ है, जबकि चेतना आत्मा से भिन्न नही है।

(32) 'प्रतिषिद्ध वस्तु–धर्मो निष्क्रियः पुरुषः ।' इति वयपेदशे बुद्धि। 59

'आत्मा निष्क्रिय है' – इस कथन में व्यपदेश वाली बुद्धि ही है। क्योकि यहाँ वस्तु के धर्म का ही प्रतिषेध किया गया है। ऐसा नही है कि क्रिया पुरूष का कोई धर्म गुण विशेषता था जो निकाल गया है।

(33) तथा - 'अनुत्पत्ति धर्म पुरूष' इति उत्पत्ति धर्मस्य अभाव मात्रभवगम्यते। आत्मा उत्पत्ति धर्म वाला नही है इस कथन से उत्पत्ति धर्म का नितान्त अभाव ही जाना जाता है 'पहले होना और बाद मे होना नही।

(34) अभाव-प्रत्ययालम्बना वृत्तिर् निद्रा।।1/10।।

जागृति की अवस्था न होने पर अभाव रूप अज्ञान के सहारे सुषुप्त अवस्था आ जाती है। योग दर्शन मे इसी को निद्रा वृत्ति कहा गया है। (नीद के दौरान कभी–कभी आने वाले स्वप्न वा स्मृति है।) (दे0 योग0)

(35) सा तु प्रबोधे 62 प्रत्यवमर्शात् प्रत्यविशेष।। अरित चायम् प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्श63 सुख महमस्वाप्सम् प्रज्ञा विशार दीकरोति

मन (मे प्रसन्नम्) दुखमहमस्वाप्सम् भ्रमत्यनवस्थितं मनो के सत्यनम् (गाढगूढोड हम स्वाप्सम्) गरीमुराणि (मे गात्राणि क्लातमे चितम्) अलसं मुषितमिव' इति। निद्राया अप्रत्यत्वे एतानि प्रत्ययानभव कार्याणि वस्तु64 । तदाश्रिता स्मृत्यश्च तद्विषया नस्थु. 95।। तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा।

नींद से (सुषुप्ति से) उठने पर निद्रा विषयक अनुचिन्तन होता है इसलिए वह ज्ञान विशेष ही है। जागा हुआ व्यक्ति इस प्रकार के विचार– विमर्श किया करता है – "मैं सुखपूर्वक सोया क्योंकि मेरा प्रफुल्लित मन बुद्धि को स्वच्छ कर रहा है अकर्मण्य हो गया है। या मैं बहुत गहन बेहोश सा होकर सोया क्योंकि मेरे अंग भारी– भारी हो रहे हैं। चित मुर्झाया हुआ है।

अलसा रहा है। और उगा सा गया है।" यदि निद्रा ज्ञान रहित होती तो उसके पश्चात ये ज्ञान अनुभुतिया और कार्य न होते। उस पर आश्रित स्मृतियां भी निद्रा के अनुभव से सम्बन्ध न होती। इसलिए निद्रा ज्ञान विशेष वाला वृति ही है।

(5) अनुभूत – विषयो सम्प्रमाष स्मृति ।। / 10 ।। अनुभव किये हुये विषयो का न भूलना, उनका ऐसा भान होना मानो की दिख रहा हो स्मृति' है।

(36) किं प्रत्ययस्य चित स्मरति आहोस्वत् विषयस्येति। ग्रह्योपरक्त प्रत्ययो ग्रह्या ग्रहणोभयाकार - निर्भास तज्जातो यल संस्कारम् आरभते। स सस्कारः स्व व्यज्जकाज्जनसृ तदाककारामव ग्रह्या–ग्रहणाभयात्मिका स्मृति जनयति।

चित्त जब स्मरण करता है तो किसका? जड आदि विषया का या उनके ज्ञान का? ऐसा है कि ज्ञान सदा ग्रहण करने योग्य विषयों पदार्थों के रंग में रंगा रहता है और उनके साथ–साथ अपने भी आकार को बताने वाला होता है। इस तरह विषय और ज्ञान दोनो ही के सस्कार को जन्म देता है और फलतः उसी के आकार वाली विषय और ज्ञान दोनो से बनी हुई स्मृति को जन्म देती है।

(37) सर्वाश्च प्रमाणादि वृत्ति मच्च तथानुभव दुद्रमवन्ति 68। सर्वश्चैता सुख–दुख मोहात्मिका 96। मोहाश्च क्लेशषु व्यारूपता तस्मान्निरोदृष्मा वृत्तय 71। आसा निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधि भावित असम्प्रज्ञातो। 72।।

इस सन्दर्भ मे ज्ञातव्य है कि उत्पन्न हुए ज्ञान का स्वरूप प्रधानतया बुद्धि में प्रारम्भ होता है और विषयों (पदार्थों) के आकार का मुख्यता स्मृति मे। यह स्मृति दो प्रकार की है–एक भावित स्मर्तव्या, जो बार–बार के अनुभव से होती है। इससे स्वप्न निष्पन्न होते है। (स्वप्न मे वे संस्कार ही आया करते है जो स्मृति मे गहरे बैठ चुके होते हैं) दूसरी है, अभावित स्मर्तव्या एक बार घटी ऐसी स्मृति जो जाग्रते मे ही बनी है और जो 'ध्यान' आदि के प्रयत्न से ही टिकती है।

(38) सर्वाश्च प्रमाणादि वृत्ति पच्चतयानुभवादुद भवन्ति 68।। सर्वाश्चैता सुखं दुःखं

मोहाभिनिवेशः 69। सुखं दुख मोहाश्च क्लेशषु व्याख्याता 70। तस्मान्निरोद्धव्या वृत्रय. 71। आसां निरोध सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति असम्प्रज्ञातो वा 72।।

ये सारी स्मृतियाँ प्रमाण विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति इन पॉचों वृत्तियों के अनुभव से उद्भूत होती हैं और ये सभी सुख दुःख देने वाली या मोह में डालने वाली है। सुख–दु.ख और मोह क्या है व इनकी व्याख्या आगे क्लेशों के प्रकरण में । की गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि, क्लेशयुक्त इन पॉचो वृत्तियों का निरोध करना ही चाहिए। इनके निरोध से सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।।11।।

संगीत मे समाधि की अवस्था

मनोविज्ञानिक शब्द यूनानी भाषा ग Psyche और Logas शब्दों से बना Psyche जिसका तात्पर्य आत्मा से है Logas का तात्पर्य ज्ञान है बाद मे आत्मा शब्द को छोड दिया गया और ग्रीक दार्शनिकों ने मनोविज्ञान को मन का विज्ञान कहा है।

संगीत की परिभाषा मे गुरू रवीन्द्रनाथ टैगोर ने संगीत को एक अलौकिक शक्ति के रूप में ही देखा है उनका कहना है कि विश्व मे कुछ हो रहा है वह सब संगीत ही है। सगीत को एक ईश्वरी रूप माना है। इसकी व्याख्या आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बडे सुन्दर ढग से की है– रवीन्द्रनाथ संगीत को पावनकारी शक्ति के रूप में रखते हैं। विश्व रचना का मूल स्वर ही संगीत है। समष्टि जगत का यह छन्द और ताल व्यष्टि जगत में जीवन की धारा ही है। जहा कही जडता स्तब्धता मूल सृष्टि धारा के अनुकूल चलने वाली संगीत धारा से भी विच्छिन्न है। व्यक्ति मे प्रकट होने वाला मोहक संगीत समष्टिगत जीवन प्रवाह के अनुकूल होने, के कारण ही रमणीय है इसीलिए वह जीर्णत की सड़ान को और जड़ की स्तब्धता को छोड़ देता है और पद-पग पर नवीन जीवनी शक्ति को बल देता है।" योगः समाधिः'।

'योग' शब्द का अर्थ है 'समाधि' क्योंकि यह 'युज'धातु से बना है जो समाहित होने या चित्त को निश्चल करने के अर्थ मे आता है। यहां व्यास के अनुसार युज=जोड़ने के अर्थ

पाती ।।। नहीं है।

।।। अथयोगानुशासनम् अधिकारार्थी। योगानुशासनम् शास्त्रम्।1

इस सूत्र मे अर्थ (मंगलवाची अथ) शब्द विषय का प्रारम्भ बताने के लिए है। योग की शिक्षा (= अनुशासन) होने से इस रचना को योग शास्त्र कहा जाता है। उसी प्रकार सगीत मे समाधि होती मन को "एकाग्र" किया होती और जब मन एकाग्रचित होता है अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और मृत्युभय इन पाचो क्लशो का क्षीण करती है, तथा कर्म के बन्धनो को शिथिल करते- करते समाप्त कर देती है।

संगीत मे समाधि अवस्था तभी आ जाती है जब सगीत किसी एक स्तर को गाते है ये तानपूरे के तार पर छेडते हैं संगीत चाहे भारतीय हो या पाश्चात्य स्तर पर आधारित है, स्वर वह नाद है जो रंजक हो जिसका अन्य नादों के बीच मे विशिष्ट स्थान हो आचार्य वृहस्पति के अनुसार ध्वनि को जो उतार चढाव संभाषण मे भावो का बोध होता है वह नियम अवधान होने पर संगीत को स्वरो स्थान ले लेता है भारतीय सगीत म मूलभूत स्वर षडज कहते हैं। गायक या वादक को कोई न कोई मूलभूत कायम करना पडता है। वह चाहे जिस ऊँचाई का हो वह स्तर प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है इसको पहले स्थिर करना जरूरी है। जब कलाकार अपना स्वर निश्चित करके मध्य सा लगाता है तो सामान्यतः साधारण बोलचाल की आवाज जितना ऊंचा कलाकार का स्वर हो जाता है गले की स्वर तंत्री(Vocal Chords)शुरू से ही ऊँची आवाज के साथ मेल जोल रखती है। इसलिए इसमें स्नायु परिश्रम की आवश्यकता बहुत ही कम होती है। मध्य 'सां' लगाने स्थिति में चेहरों पर तेज शान्त तथा स्थिरता स्पष्टतया झलकती है। आँखे करीब - करीब बन्द सी हो जाती हैं। इधर उधर के दृश्य निष्क्रिय हो जाते है। और एकाग्रता अन्तर्निहित हो जाती है। गालो की स्नायु शिथिल हो जाती है। भौहो मे झुर्रियां नहीं होती। शरीर के अन्य भाग को आराम मिलता है, वास्तव में उस चेहरे का भाव इस प्रकार से हो जाते हैं मानो कोई योगी तपस्या में विलीन हो। विक्षिप्त चित्त दुनिया की ही विषयों में उलझा फँसा हुआ, सतोगुणी और

---

1 डा० विजय लक्ष्मी जैन धर्म दर्शन पृष्ठ 35

महत्वाकांक्षी होने पर भी सच्चे विवेक मे असमर्थ रहता है। योग की प्राथमिक (बहिरंग) साधनाओं में यह अवश्य लग सकता है । एकाग्र चित एक ही शब्द एक ही ज्ञान में एक तान मे लगा रहता है। इसी से अन्तरग व्यक्ति समाधि की अवस्था मे पहुंचता है। संगीत मे समाधि अभ्यास करने से होती है। अभ्यास से एक संगीतज्ञ उस अवस्था में पहुच जाता है कि ये केवल समाधि द्वारा ही सम्भव है क्योंकि चित एक नदी के समान है जो दोनो ओर बहा करती है कल्याण के लिए भी और पाप के लिए भी। जो 'चित' नदी कैवल्य के मार्ग पर ले जाती है और विवेक ज्ञान की ओर बहती जाती है उसे 'कल्याण वहा' कहते है। दूसरी ओर जो ससार मे फसाती रहती है और विवेकहीन अज्ञान के गढ्ढे मे धकेलती रहती है, उसे 'पाप--वहा' कहते है। चित का निरोध अभ्यास दोनो पर ही निर्भर है। !!12!!

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास !!1/12!!

अभ्यास क्या है? उस निरोध की स्थिति मे बने रहने का यत्न इस स्थिति के लिए शक्ति पूर्वक यत्न करना उत्साह बनाए रखना और चित को टहराए रखने के लिए यम नियम आदि योग के सभी साधनो को पूर्णतया पालन करना ही अभ्यास कहलाता है।

जब दीर्घकाल तक निरन्तर किया जाए तब उस अभ्यास की नीव दृढ होती है। समाधि तब होती है जब चित्त के आलम्बन मे उन स्थूल विषयों का विस्तार समाधि कोई ब्रह्म विषय न होकर आनन्द आह्लाद प्रसाद या प्रफुल्लता प्रसन्नता की सतत् अनुभूति भर होती रहती है। समाधि में केवल मात्र अकेली आत्मा को ही आलम्बन बनाया जाता है।

संगीत में समाधि की इसलिए आवश्यकता पडती है, क्योंकि जब हम समाधि की अवस्था मे जाते हैं तो उस समय नेत्र अपने-अपने आप धिरे–धिरे बन्दे हाकर फिर खुल जाती है और मस्तिष्क एक आपने स्वरूप राग का स्वरूप पर केन्द्रित हो जाती है, उस वक्त एक कलाकार के सामने उस राग का रूप स्वरूप और वातावरण दिखता है और समझ में आता है और कलाकार उसको गाता है और रियाज करता है और अपना सारा ध्यान उस पर केन्द्रित और राग पर केन्द्र रखता है। संगीत रूपी स्वतन्त्र साधन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरूषार्थ

पतंजल योग दर्शन डा0 सम्पूर्णानन्द पृष्ठ 139

मिलती है। भगवदभजन, से धर्म, राजाओं और प्रभुओं से मिले हुए सम्मान के रूप मे अर्थ, अर्थ से काम और ईश्वर प्रसाद के फलस्वरूप मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। सगीत आनन्द का आविर्भाव है। आनन्द ईश्वर का स्वरूप है। सगीत योगी विशेषता यह है कि इसमें साध्य और साधन दोनो ही सुखरूप है। भक्तिमार्ग म सगीत के साथ भगवद्भजन करने से मन शीघ्र ही ईश्वर के नाम रूप में लीन हो जाता है। सगीत के बिना नामोच्चारण मात्र करते समय मुँह सिर्फ नाम रटन करता रहता है मन तो दसों दिशाओं मे फिरता रहता है। पर सगीत के साथ नाम जप या गुणगान करते समय सगीत की मनोहर शक्ति का दृढ रज्जु बनकर भगवान के नाम रूप को मन के साथ बाँध देता है। दूसरा कारण यह है कि ईश्वर सगीत से जितना प्रसन्न होता है उतना दूसरे उपचारो से नही।

"गीतेन प्रीयते देव सर्वज्ञ पार्वतीपति।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वशध्वनिवशगत.।।
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्ष गन्धर्व देवदानव मानवाः।।"

सगीत समस्त जीवन समूह को आनन्द का वरदान देकर अपनी ओर खीच लेता है। रूप माधुर्य के मुकाबले नाद सौन्दर्य अशरीरी होता है। हठयोग साधको की कल्पना है कि अनहद नाद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है। उसी की एक क्षीण ध्वनि प्रत्येक घट मे है। यदि इस स्वर को युक्ति द्वारा अनहद के साथ जोडा जाय तो साधक को ब्रह्म सुख का आनन्द प्राप्त होता है। इसी को शब्द साधना कहते है। आचार्य वल्लभ विद्यामाप के पांच भेद हैं। साख्य योग तप वैराग्य और भक्ति। भगवान श्री कृष्ण ही मेरे सब कुछ हैं इस निश्चय का नाम साख्य है। अन्तःकरण की वृत्तियो का प्रभु मे अन्तर्भाव योग है भगवान के विरह में ताप और पीड़ा का अनुभव 'तप' सासारिक बातों को त्याग कर भगवान श्री कृष्ण में एक चित्त "वैराग्य" है।

विषयो गन्धरस रूप स्पर्श शब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्या सा विषयवती प्रकृतिर्मनसः

स्थैर्य करोति। तथा हि नासाग्रे चित्तं धारयतो दिव्य-गन्धसं विदुपणायते। तच्छ्वेव जिह्वामूले रससंवित्। ताणवग्रे रूपसंवि।। जिह्वायानध्ये स्पर्श सनित जिह्वामूले शब्द संवित् तदेव तत्रद्विन्द्रियद्धारेण तस्यगस्तस्मिन्दिव्य विषये जायमाना सविचित्तस्य काग्रताया हेतुर्भवति। अस्ति योगिनः स्माश्रसो व्यादनाद।(35)डा० विजय लक्ष्मी जैन के अनुसार "कोई भी कला हो कलाकार को अपने मस्तिस्क मे क्या बनाता है अथवा उसका प्रत्यय स्पष्ट रूप से ताना होता है। संगीत म गायक अथवा वादक को जो भी राग प्रस्तुत करना होता है, उसकी स्पष्ट अवधारणा वह अपने मस्तिष्क मे करता है स्पष्ट व स्थिर विचार की आवश्यकता के कारण ही रागों के "राग ध्यान से गाये। इन्ही की सहायता से गायक वादक मस्तिष्क मे राग का स्वरूप स्पष्ट रूप से लाते थे तब राग की उत्कृष्ट अवधारणा करते है इसके अलावा प्रस्तुति के पूर्व कौन सा राग बन्दिश किस ताल व लय मे प्रस्तुत करना है—इन सभी मतों पर पूर्ण विचार मे किया जा सकता है कृति बनाते समय ध्यान का एकाग्र होना जरूरी है। संगीत में ध्यान का अपना महत्व है। क्योंकि संगीत म कृति पहले से तैयार करके प्रदर्शित नहीं की जाती। बस उसी समय श्रोताओ के सम्मुख तैयार होती है अत राग का स्वरूप, बन्दिश सौन्दर्य-स्थल आदि सही रह, इसके लिए गायक-वादक को ध्यान अपनी कृति में केन्द्रित करना होता है इसी आधार पर नाद ब्रह्म की साधना एव स्वर की साधना हमारे प्राचीन मुनियो का मुख्य ध्येय था।

(विषया गन्धरस रूप स्पर्श शब्दाः) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द विषय है। (ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्ति वह पांचों है फल रूप जिस के वह विषयवती प्रवृत्ति है (मनसः स्थैर्य करोति) वह मन को स्थिर करती है। (तथा हि) वैसे ही नासिका के अग्रभाग मे चित्त वृत्ति को धारण करते हुए सूक्ष्म गन्ध का ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार जिह्वा के अग्रभाग मे चित्त वृत्ति को धारण करते हुए सूक्ष्म गन्ध का ज्ञान उत्पन्न होता है जिह्वा के मध्य में स्पर्श का ज्ञान इस प्रकार उस इन्द्रिय द्वारा उस दिव्य विषय का उत्पन्न हुआ वह ज्ञान चित्त की एकाग्रता के हेतु होता है। विश्वास उत्पन्न करने से योगी को योग का

फल होता है।

"विशोका वा ज्योतिष्मती।"36।।

शोकरहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति का बाधती अर्थात् चित्त एकाग्र होता है। 36।।

"वीतराग विषयं वा चित्तम" ।37।।

अथवा राग रहित चित्त का विषय करने से चित्त एकाग्र होता है।

स्वर साधना या प्राणतत्व की महती आवश्कता है। स्वरपुष्ट तथा ओजपूर्ण होने के लिए प्राणायाम परम साधन है। संगीत के अन्तर्गत स्वरों तथा स्वरावलिया को एक ही दीर्घ श्वास में गाने की आवश्यकता होती है। और यह तभी सम्भव है जब गायक का श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया सदैव प्रवर्तित रहती है। पुरूष जिस वायु को बाहर निकालता है वह "प्राण" है। तथा जिसको वह अभ्यान्तर लेता है, वह "अपान" है। प्राण और अपान की मध्यन्तर स्थिति 'व्यान' के नाम से अभिहित है। वाणी का व्यवहार इसी व्यान वायु के द्वारा होता है। अतएव सामगान के लिए इस वायु की निगमन का नियमन नितान्त आवश्यक माना जाता है।

'नृत्तेनाराधयिष्यन्ति गीतेन मन्त्रास्तु मा शुभे।
त्रैलोक्यस्यानुकरण नृत्तं देवै प्रतिष्ठितम्।।'34।।17।।

स्वरसाधना में युक्त संगीत परम श्रेष्ठ आराधना माना गया है।

संगीत मे संयम की आवश्यकता

योग और संगीत दोनों मे ही संयम की परम आवश्यकता है पातञ्जलि के अनुसार यम नियम आसन प्राणायाम ये पांच बहिरंग साधन हैं तथा शेष धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरंग साधन है। ये तीन अन्तरंग साधन जब किसी ध्येय में पूर्णतया किये जाते हैं, तब इनका सम्मिलित नाम "संयम" हो जाता है। डा० सम्पूर्णानन्द के अनुसार–

जिन उपायों से चित्त वश में किया जाता है और क्रमश: निरोध की ओर ले जाया जाता

है ।।।। तीन उपाय है धारणा, ध्यान और समाधि तीनो का मिलकर नाम संयम है।

योग की विभूतियां प्राप्त करने के लिए संयम की आवश्यकता है। योग दर्शनकार ने ध्येय मे पूर्णता के लिए जिन साधनो का वर्णन किया है उसका संक्षेप मे व्याख्या इस प्रकार है।

'धारणा' का स्वरूप बताते हुए पातञ्जलि कहते है

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''।

चित्तस्य देशबन्ध=बाहर या शरीर के भीतर कही भी। किसी एक देशमे चित्त को ठहराना धारणा=धारणा है।

व्याख्या – नाभिचक्र हृदय मस्तक आदि शरीर के भीतरी देश हैं और आकाश या सूर्य चन्द्रमा आदि देवता या कोई भी मूर्ति तथा कोई भी पदार्थ बाहर के देश है। उनमें से किसी एक देश मे चित्त की वृत्ति को लगाने का नाम धारणा है।

ध्यान का स्वरूप बताते हुये पातञ्जलि कहते है

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्''।।2।।

तत्र – जहां चित्त को लगाया जाय।। उसी मे प्रत्ययैकतानता वृत्ति का एकतार चलाना ध्यानम्= ध्यान है।

व्याख्या जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसी मे चित्त का एकाग्र हो जाना अर्थात केवल ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना उसके बीचमे किसी भी दूसरी वृत्ति का न उठना 'ध्यान" है।

समाधि के स्वरूप का वर्णन पातञ्जलि इस प्रकार करते है।

"तदेवार्थ मात्र निर्भास स्वरूप शून्य मिव समाधि।"।।3।।

अर्थमात्रनिर्भासम्= जब (ध्यान मे) केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति हो और स्वरूप शून्य मिव = चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जब तदैव वही (ध्यान ही) समाधि=समाधि हो जाती है।

व्याख्या ध्यान करते–करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है उसके स्वरूप का

योग दर्शन डा० सम्पूर्णानन्द पृष्ठ 47–48
पतंजल योग दर्शन – 48 – 47 – सदानंदयोगी

अभाव सा हो जाता है, उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय उस ध्यान का ही नाम 'समाधि' हो जाता है। यही लक्षण निर्वितर्क समाधि के नाम से पहले पाद में किया गया है। योग 1/43/ ।।3।।

उक्त दोनों साधना का सांकेतिक नाम पतंजलि ने इस प्रकार वर्णन किया है।

''त्रयमेकत्र संयम ।'' ।4।।

सकल=किसी एक ध्येय विशेष में त्रयम तीनों का होना त्रयमः-संयम है।

व्याख्या किसी एक ध्येय पदार्थ में धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों के होने से संयम कहलाता है। अतः इस ग्रन्थ में जहां किसी विषय में संयम करने का कहा जाय या संयम का फल बताया जाय तो संयम के नाम से किसी एक ध्येय में तीनों का होना चाहिये।।4।।

संयम की सिद्धि का फल बताते हुये पतंजलि वर्णन करते है--

तज्जयात् = उसको जीत लेने से प्रज्ञालोक = बुद्धि का प्रकाश होता है।

व्याख्या साधना करते करते जब योगी संयम पर विजय प्राप्त कर लेता है, अर्थात चित्त में ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि जिस विषय में वह संयम करना चाहे उसी में तत्काल संयम हो जाते है उस समय योगी को बुद्धि का प्रकाश प्राप्त हो जाता है अर्थात उसकी बुद्धि में अलौकिक ज्ञान शक्ति आ जाती है। इसी को प्रथम पाद में अध्यात्मप्रसाद और ऋतम्भरा प्रज्ञा नाम से कहा है।

संयम के प्रयोग की विधि का वर्णन करते हुये योगदर्शनकार कहते हैं--

'तस्य भूमिषु विनियोग ।'' ।6।।

तस्य= उस। संयम। का । क्रम। भूमिषु भूमियों में विनियोग = विनियोग करना चाहिए।

व्याख्या संयम का प्रयोग क्रम से करना चाहिए। अर्थात पहले स्थूल विषय में संयम करना चाहिए। इसी प्रकार जिस जिस स्थूल में संयम स्थिर होता जाय उस-उससे आगे बढ़ते जाना चाहिये।।6।।

उक्त तीनों साधनों की विशेषता योग दर्शनकार ने इस प्रकार बताई है

।। "त्रयमन्तरंग पूर्वेभ्यः" ।।7।।

पूर्वेभ्य- पहले कहे हुओं की अपेक्षा त्रयम = ये तीनो साधनो अन्तरगम् = अन्तरग है।

व्याख्या - इसके पहले अर्थात दूसरे पद में जो योग के यम नियम आसन प्रणायाम और प्रत्याहार-ये पाच अंग बतलाये गये है, उनकी अपेक्षा उपर्युक्त धारणा ध्यान और समाधि ये तीनो साधन अन्तरंग है। क्योंकि तीनो का योग- सिद्धि के साथ निकटतम् सम्बन्ध है। योग दर्शन कार के उपरोक्त लक्षणानुसार चित्त को किसी एक देश विशष मे बाधना धारण है, और धारणा के द्वारा प्रत्ययों की एकतानता हो जाती है अर्थात वृत्तियो का प्रवाह एक रस हो जाता है उसको 'ध्यान' कहते हैं। इसके बाद जो सूत्र आया है उसमे "समाधि" का लक्षण बताया गया है वस्तु उस विषय में मैने आगे पृष्ठ संगीत तथा समाधि के साथ लिखा है। अभ्यासी को चित्त भी साधारण मनुष्यो के चित्त जैसा ही होता है अब तक जो क्रिया की गई है (पांचों बहिरंगों) की उसके फलस्वरूप उसमें निश्चय ही निर्मलता आई है। विषयों की ओर प्रवृत्ति कुछ कम होती है। फिर भी वह अभी विक्षेप की भूमिका का अतिक्रमण नहीं कर सकता। विक्षेपावस्था में इधर उधर भटका फिरता है। यद्यपि एकाग्रता की ओर झुकाव बढ चला है इसको एकत्र करने के लिये किसी एक जगह स्थिर करने लिए उसे हठात् किसी देश विशेष पर बांधते है। देश शब्द का दो अर्थ है। एक तो शरीर के कुछ ऐसे अवयव हैं जिन पर चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है इसमें भ्रूमध्य, नासिका का अग्रभाग हृदय और नाभि प्रमुख है। प्रायः इन जगहों पर चित्त को खींचकर किसी पदार्थ विशेष के ऊपर स्थिर करने का प्रयास किया जाता है, जैसे किसी गुरु या देव- देवी का विग्रह दीपशिखा किसी योगी का शरीर ओंकार की ध्वनि आदि। इन आलम्बनो को भी देश कहा जाता है, पहले इन उपायों से भी चित्त एक जगह नहीं ठहरता परन्तु धीरे--धीरे उसमें स्थिरता आती है। भले ही इन प्रत्ययों मे कुछ समता हो फिर भी उत्तरवर्ती प्रतयय अपने पूर्ववर्ती से कुछ भिन्न होता है। परन्तु धीरे धीरे ऐसी अवस्था आती है जब पूर्व और उत्तरवर्ती प्रत्ययो मे कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। जैसे जल में छोटी बड़ी लहर के बीच एक सा

मुक्तिरा । भगवा नाद । पतंजलि और संगीत पृष्ठ 354

प्रवाह चलता रहता तो उस प्रकार की अवस्था को ध्यान कहते हैं।

ध्यान मे स्थित होने के बाद ही चित्त समाधि की ओर झुक जाता है--उस अवस्था में वह निरोध की ओर होगा।

एकाग्रता के विषय मे पतञ्जलि ने लिखा है-

तत्र पुनः शान्तोदितौ तुल्य प्रत्यय होना चित्त की एकाग्रता का परिणाम है।

योगशास्त्र के अनुसार समाधि की यह अवस्था सभी प्राप्त कर सकते है। जैसे कि डॉ0 राधाकृष्णन का कथन है प्रत्येक आत्मा दैवी शक्ति सम्पन्न है और वाह्य तथा आन्तरिक प्रवृत्ति का सयम करो से इसका साक्षात्कार होता है। पतञ्जलि के अनुसार स्वय योग शब्द का अर्थ प्रकृति स्वभाव पर विजय प्राप्त करने की व्यावहारिक विधि से है--"योग चित्तावृत्ति निरोध"। निरोध की वह विधि मानसिक अवस्थाओं "सकल्प- विकल्प तर्क। आदि को अवरुद्ध करने के हेतु कठिन मानसिक अभ्यास को आवश्यक कर देती है। इन यम, नियम तथा आसनो के परिणाम- स्वरूप धारणा तथा ध्यान की अवस्थाए आती है। जो उस समाधि तक ले जाने हेतु आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करती है।

योग की दृष्टि से विचार करे तो जब तक चित्त वृत्तियाँ वाह्य विषयो मे रमण करती है तब तक चित्त न स्थिर है और शान्त अशान्त मन समाधि के योग्य होता ही नही जब हम चित्त को बाहर से हटाकर अपने स्थिर कर लेते है, तभी वह शान्त हो पाता है। इसी अविचलन शान्त अवस्था में परब्रह्म की प्रतीति होती है। डा0 मुशीराम शर्मा।

योग दर्शनकार धारणा ध्यान तथा समाधि के एकीकरण को सयम का नाम देना है। इसी को ही संस्कृति कहते है। निरन्तर प्रयास एवं अभ्यास करते हुये साधक को ही इसका साक्षात्कार हो जाता है। इसी संयम से प्रज्ञा का आलोक खिल उठता है। सहज ज्ञान के प्रकाश को किसी भी तत्व के सम्यक ज्ञान होने लगता है। नाना विषय मे विचरण करने से चित्त को जो शक्ति कुण्ठित हो गई थी वह सम्यक ज्ञान के लिये उपयुक्त थी। संयम से उत्पन्न प्रज्ञालोकर में वह शक्ति चित्त को पुनः प्राप्त हो गई।"

जैन दर्शन महेन्द्र कुमार जैन 354

जैसा की हम पूर्व मे वर्णन कर आये है कि संगीत एक यौगिक क्रिया है। योगियों की भाषा मे संगीत "नाद योग है"। योगियो ने भी शक्तियो को उर्ध्वगामी बनाने मे संगीत को सहायक माना है, जब कला का प्रयोजन आत्मानुभूति होती है तब वह आत्मा रूपी दर्पण पर चढ़ी काम क्रोध माया, लोभ की धूल हट जाती है तथा स्फटिक की भाति निर्मल निर्विकार परमात्मा स्वरूप के दर्शन होने लगते है।

अमूर्त भावनाओ को मूर्त रूप देने के लिए हमे किसी भौतिक पदार्थ को माध्यम बनाना पड़ता है। वह पदार्थ जितना ही आत्मा के निकट होगा उतना ही उत्तम होगा। (Hegal) हीगेल नामक जर्मन दार्शनिक के अनुसार "शब्द" हमारी आत्मा के सबसे निकट है। इसलिए शब्दो के माध्यम द्वारा हम आध्यात्मिक जगत की अनुभूतियो को अधिक स्पष्ट कर सकते है। ध्वनि मे जो रूप होता है। उससे संगीत का जन्म होता है। गति मे जो रूप होता है उससे नृत्य की अनुभूति होती है। एक गायक या वादक की आत्मा ही स्वर्ग का रूप धारण करके कल्पना और वेदना से प्रेरित होकर भांति-भांति से जो स्वर योजना करने लगती है वहीं संगीत के उस समय आत्मा के आलोक से चमचमाते स्वर जीवन की सम्पूर्ण वेदना लेकर उत्कृष्ट संगीत को जन्म देते है।

संगीत कला ध्यान के समान ही व्यक्ति को आत्मदर्शी बनाती है। संगीत एक ऐसी कला है जो तत्वान्वेषी तत्व चिन्तक और तत्वदर्शी के समान स्थूल से सूक्ष्मता की ओर तथा बाहर से भीतर की ओर ले जाती है। संगीत द्वारा प्राप्त सल्लीनता मे अपूर्व शान्ति समाहित है। इस संल्लीनता से ही करूणा का भाव जागृत होता है। क्रोध, मान मायादि कषाएं बाहर निरसृत होती है। उनकी मदता मैत्री भाव जाग्रत करती है। जो शक्ति बाहर की ओर प्रवाहित होती है। उसे संगीत भीतर की ओर ले जाता है। यह शक्ति को मूलस्रोत में समाविष्ट करता है। शरीर और मन की गतिविधियों को नियंत्रण भी संगीत के द्वारा किया जा सकता है। निश्चयतः बाहर की ओर जाने वाले आत्मशक्ति भीतर की ओर प्रविष्ट होने लगती है। भय और आतंक अपने आप समाप्त होने लगता है। चचल मन केन्द्र पर लोट जाती है। इसके

द्वारा अन्तर्यात्रा आरम्भ हो जाती है। जब तक गति की कड़ी राग रगीनियो के परिकर आवद्ध हो व्यक्ति के मन और मस्तिष्क को प्रभावित नहीं करती, तब तक वाह्य से सम्बन्ध नहीं छूटता है। और अन्तरयात्रा ही आरम्भ होती है।

जहां इन्द्रिय और मन को विश्राम प्राप्त हो और अन्तरंग मे एक विशेष प्रकार की गुदगुदी उत्पन्न हो जाय वहां पर यह चित्त प्रत्येक क्रिया को नियंत्रित कर पाता है। हम अपने यंत्र चित्त को नियंत्रित करने का अभ्यास करते है। "ध्यान के आसन पर बैठते है। पर सूक्ष्म आलम्बन के अभाव मे आत्मा हमारी अर्न्तमुखी नही हो पाती। जो सगीत तल्लीनता उत्पन्न करता है वहां वह राग का कारण होता है जहां वह सल्लीनता उत्पन्न करता है वहां वह वीतरागता का कारण होता है। तल्लीनता का अर्थ है दूसरो मे लीन होना। अतएव तल्लीनता संगीत का लक्ष्य नहीं होना चाहिए उसका लक्ष्य संल्लीनता है।

हमारा मन चंचल है इसे एकाग्र करने के लिए ध्यान या सामायिक की आवश्यकता होती है। संगीत भी समत्व योग की समाधि का आधार है। जब मन सगीत की लहरियों द्वारा आन्दोलित होकर किसी एक ध्येय पर स्थित होता है तब "ध्यान योग" का आनन्द आता है। मन को स्थिर या निर्मल करने के लिए सगीत का माध्यम बहुत कार्यकारी होता है। संगीत मन के दहकते हुये दानव को शान्त कर उसे स्वच्छ बनाता है। शान्त बनाता है। जिससे वासना विकार, उपशांत होकर शीतलता का अनुभव होता है।

संगीत अपने-अपको सम्हालने की एक रागात्मक प्रक्रिया है जिसमें वृत्तिया अपने आप स्वामिनी बनती है और वासनाए विचलित हो जाती है। मन का तनाव या Tension समाप्त हो संयम की ओर उन्मुख होता है। और "समाधि" की स्थिति आती है मन के तनाव को दूर करने व तथा एकाग्रचित्तता के हेतु से सगीत में संयम की परम आवश्यकता है।

पतंजल योग दर्शनम् मे कहा गया है —

"ततो मनोजवित्वं विकरण भावः प्रधानजता" ।।48।।

इस सूत्र मे इन्द्रियों के ग्रहणादि पांच रूपों में संयम करने से इन्द्रिजय प्राप्त होता है यहा

कहा गया है, परन्तु यह इन्द्रियजय सिद्धि फल नही किन्तु सिद्धि का साधन है।

धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों को सम्मिलित नाम संयम है धारणा के द्वारा चित्त को किसी एक देश (अपने शरीर के नाभि चक्र, हृदय कमल, मूर्धा नासिका का अग्रभाग अथवा शरीर के बाहर के सूर्य चन्द्र की प्रति) या ध्यान है। मन की वह सर्वोच्च अवस्था समाधि है जिसमे ध्येय के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व बोधक के लिए नही रह जाता है। समाधि मे चित्त वृत्तियो का निरोध होते ही ध्येय के साथ जो तादात्म्य होता है उसे कहते है, समाधि की अवस्थाए सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि मे चित्त का ध्येय का ज्ञान तथा उससे अपनी भिन्नता का भान रहता है। इस समाधि में वितर्क विचारआनन्द और अस्मिता की भावनाए रहती है इसके अधिक प्रगाढ असम्प्रज्ञात समाधि होती है जिसमे चित्त वृत्तियो के सर्वथा अभाव होता है इसमें पुरुष के अतिरिक्त कुछ नही रह जाता। (जैन दर्शन : डा० महेन्द्र कुमार जैन।

यस्मान्नऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसेहवन्ते

यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्. (स जनास इन्द्र: ऋगवेद 2-2-5)

शब्दार्थ मनुष्य जिसकी सहायता के बिना विजयी नही हो सकते और युद्ध करते समय अपनी रक्षा के लिए जिसे आह्वान करते है जो संसार विश्व का निर्माण करने वाला होकर जगत के पदार्थो को बनाकर तद्रूप हो रहा है जो स्वय च्युत न होकर सारे दृश्य मान पदार्थो का संहार करने वाला है, हे मनुष्यो वही परमेश्वर्यमान परमात्मा है।

संगीत तल्लीनता संगीत द्वारा प्राप्त सलीनता में अपूर्व शक्ति समाहित है इस सलीनता से ही करुणा का भाव जाग्रत होता है। क्रोध मान माया लोभ कषाये बाहर निःसृत होती है और उनकी मंदता मैत्री भाव जाग्रत करता है जो शक्ति बाहर की ओर प्रवाहित होती है उसे संगीत भीतर की ओर लाता है। यह शक्ति का मूल स्रोत में समाविष्ट करता है। शरीर और मन की गतिविधियों का नियंत्रण भी संगीत के द्वारा किया जा सकता है। निश्चयत: बाहर की ओर जाने वाली आत्माओके भीतर की ओर प्रविष्ट होने लगती है। भय और आतंक अपने आप

जैन दर्शन - डा० महेन्द्र कुमार जैन   संगीत शक्ति - जया जैन

पृष्ठ 15[illegible]

समाप्त होते है। चचल मन केन्द्र पर लौट आता है। शक्ति गगा स्वय को पहचान लेती है और राग विराग मे परिवर्तित हो जाता है। यही कारण है कि जैनाचार्यो ने सगीत का मूलाधार श्रृगार न स्वीकार कर अध्यात्म स्वीकार किया है और इसके द्वारा अतरयात्रा का आरभ माना है। जब तक गीत की कडी राग रागिनियो के परिकर में आबद्ध होकर व्यक्ति के मन मस्तिष्क को प्रभावित नही करती, तब तक वाह्रय से सबध नही छुटता है और अतरयात्रा ही आरभ होती है।

भारतीय दर्शन का अर्थ

मननशील होने के कारण मानव मना-चितन करता ही रहता है। इसी कारण वह अपने जीवन मे अनेक है, मनुष्य आर पशु भी अपने-अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्न करते है। पशु का जीवन प्राय निरूद्देश्य हाता है। यह सहज प्रवृत्ति से परिचालित होता है, किन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि की सहायता लेता है। वह अपना तथा ससार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार जीवन-यापन करना चाहता है। वह केवल अपने वर्तमान लाभ के सबन्ध मे ही नही सोचता है, किन्तु भविष्य के परिणामों के विशय में सोंचता है, मनुष्य मे बुद्धि की विशेषता है, बुद्धि की सहायता से वह युक्ति पूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। युक्ति पूवेक तत्व-ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही 'दर्शन' कहते है।

मनुष्य क्या है, उसके जीवन का क्या लक्ष्य है, यह संसार क्या है, इसका कोई स्राष्टा भी है ? मनुष्य को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए ? ऐसे अनेक प्रश्न है, जिन्हें प्राय: अनेक देशों के मनुष्य सभ्यता के प्रारंभ से ही सुलझाने की चेष्टा करते आ रहे हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार हमें तत्व का साक्षात्कार हो सकता है।

इसी को 'सम्यक दर्शन' या दर्शन कहते हैं। मनु का कथन है, 'सम्यक् दर्शन' प्राप्त हाने पर कर्म मनुष्य को बंधन में डाल नहीं सकते, जिनको यह सम्यक् दृष्टि नही है, वे ही ससार के जाल मे फँस जाते है।

'कौटिल्य' के अनुसार - दर्शन शास्त्र सभी विद्यायों का दीपक है। वह सभी कर्मों का सिद्ध करने का साधन है। वह सभी धर्मों का अधिष्ठान है।

दर्शन की परिभाषा देना उतना ही कठिन है जितना जीवन की परिभाषा देना। यद्यपि हम जीवन की परिभाषा बतलाने में असमर्थ है तथापि यह तो हम कह ही सकते हैं कि जीवन में क्या-क्या होता है, और उत्तम जीवन की क्या कल्पना

है, ठीक इसी प्रकार यदि हम यह न कह सके कि दर्शन क्या है, तो भी हम यह बतला सकते हैं कि परम्परा से अनादि काल से मनुष्य के अन्तस् में उत्पन्न होने वाले प्रश्न की सही खोज यह शास्त्र सभी देशों में करता आया है मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है ? विश्व में उसकी स्थिति क्या है ? विश्व के सृजन तथा संहार के पीछे कौन सी शक्ति अपने ऐश्वर्य का परिचय दे रही है ? किस सत्ता से प्रेरित होकर समस्त विश्व नियमानुसार स्वकार्य में रत है, प्रकृति क्यों अपने नियमों का उल्लघन कभी नहीं करती है ? इस वसुंधरा के प्राणियों मे क्यों सुख है, क्यों दु ख है तथा इनके सुख-दु खो मे इतनी वसुंधरा के है ? क्या दु ख की इस स्थिति एव विषमता को पार करने का कोई उपाय भी है, क्या पाप है ? क्या पुण्य है, उत्तम समाज की कौन सी ऐसी व्यवस्था हो सकती है, जो मनुष्य के लिए अत्याधिक श्रेयस्कर है। मनुष्य की वास्तविक कल्याण का क्या साधन है ? वे सब ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर को मानवता अनादि काल से प्रत्येक देश में किसी-किसी प्रकार से खोजती आई है, और इस अन्वेषण के फलस्वरूप जिस साहित्य की रचना हुई है उसे दर्शन शास्त्र कहा जाता है।

इस साधारण परिचय के आधार पर हम 'दर्शन' की परिभाषा को यों दे सकते हैं (यदि हमें पूर्व विद्वानों की अनेक अपूर्ण परिभाषा में एक ओर जोड़ने की क्षमता प्रदान की जाय)।

यह मनुष्य का वह बौद्धिक प्रयास है जो उसे सत्ता सम्बन्धी ज्ञान देता है, और उसके द्वारा उसका परम् कल्याण करता है। सत्ता सम्बन्धी ज्ञान की अभिलाषा केवल भारतियों की ही विशेषता नहीं है। वह पाश्चात्य देशों के निवासियों की भी विशेषता रही है। लेकिन भारतीय दर्शन की एक विशेषता है, जो निरपवाद रूप से उसके सभी विचारकों को मान्य है और वह है दर्शन का जीवन से अनिवार्य सम्बन्ध। युनानी दार्शनिकों की परिभाषा के अनुसार 'ज्ञान के प्रति प्रेम' को ही दर्शन कहते हैं। कुछ लोग 'दर्शन' शब्द से उस शास्त्र की कल्पना करते हैं, जिसमें विज्ञान के सिद्धांतों के आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना की जाती है।

1- मेघदूत 2/52.

भा0 दार्शनिकों के अनुसार चाहे वे जैन हों या बौद्ध, चाहे वे नैयाचिक हों या वेदान्ती मनुष्य के नि·श्रेयस की प्राप्ति के दर्शन की अनिवार्य उपयोगिता है। भा0 दर्शन की प्रमुख विशेषता है 'ज्ञानद्रेव मुक्ति ' ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति', ज्ञान के बिना मुक्ति नही मिलती है। यही मुक्ति भा0 दर्शन शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संस्कृत में दर्शन का अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाय' । 'दर्शन' शब्द से वे सभी पद्धतियाँ अपेक्षित हैं, जिनके द्वारा परमार्थ का ज्ञान होता है। 'देखा जाय' इस पद का अर्थ यों "ज्ञान' प्राप्त किया जाय यह भी हो सकता है, फिर भी इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना उचित है कि ज्ञान प्राप्त करने के अनेक साधन हैं, जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द आदि। लेकिन इन सभी में सबसे प्रसिद्ध और प्रमुख साधन है प्रत्यक्ष।

यद्यपि 'दर्शन' शबद से भा0 शास्त्रकरों को तत्वसाक्षात्कार ही अभीष्ट है, तथापि परम्परागत दर्शन में प्राय: उसी साक्षात्कार की कल्पना की जाती है, जिसकी तार्किक विवेचना भी हो सके। दर्शन शास्त्र का इतिहास ही आज पुरूषों द्वारा प्रदर्शित तत्व की युक्ति संगत विवेचना दर्शन का अर्थ के अर्न्तज्ञान ही नहीं अपितु वे समस्त विचारधाराएँ हैं जो अन्तर्ज्ञान से अद्भुत होती हुई भी युक्तियों के आधार पर प्रमाणित की जा सकती है।

ऊपर दर्शन की परिभाषा देते हुए यह कहा गया है कि दर्शन शास्त्र सत्ता सम्बन्धी ज्ञान कराकर मनुष्य का परम कल्याण करता है। यह परम कल्याण ही दर्शन का लक्ष्य है। अब प्रश्न है कि इस परम् कल्याण का क्या स्वरूप है यद्यपि इन सबमें एक समानता है, जो न केवल वेदपथगामी दार्शनिक सम्प्रदायों की विशेषता है।

1- सम्यक दर्शन सम्पन्न कर्म भिन्न निबिद्धयन्ते दर्शनेन् विहीन् स्तु संसार प्रतिपाते।। मनुसंहिता।।.

2- 'नास्तिको वेदनींदक:'। 'चटर्जी एवं दत्त', पृष्ठ - 9.

यदि हम इस बात पर विचार करे कि भारत वर्ष, में दर्शन सम्बन्धी जिज्ञासा का मूल कारण क्या है तो हमें ज्ञात होगा कि सभी दार्शनिकों सम्प्रदायों का उद्गम स्थल है संसार में दु:ख की स्थिति। सुख और दु ख के योग से ही इस संसार की रचना हुई है। वास्तव में संसार में ने केवल दु ख ही दु ख है, न केवल सुख ही सुख, महाकवि कलिदास[1] ठीक ही कहते हैं कि इस संसार में किसको अत्यन्त सुख प्राप्त है तथा किस व्यक्ति को नितान्त दु ख ही है। सुख और दु ख मनुष्य के जीवन में दाँते के समान क्रम से आते जाते रहते हैं। जीवन-सम्बन्धी भारतीय विचारधारा की एक प्रतिनिधि उक्ति है - संसार में विषयों से उत्पन्न होने वाले जितने भी सुख हैं उनमें दु:ख किसी न किसी रूप में छिपा रहता है।[1] भारतीय दर्शनकारों ने इसी लक्ष्य के साधनभूत अन्यान्य दर्शनों की रचना करके तथा उन्हें अधिकारी भेद से मनुष्य की परमार्थ से पिृ में उपयोगी बताकर मनुष्य को परम पद प्राप्त कराने का प्रयत्न किया है। जिसे इस जीवन में इस परम पद की प्राप्ति हो गयी उसका जीवन सफल है, जिसको यह परम् पद ही मिला उसका जीवन व्यर्थ गया।

1- इस वेदवेदीदय सत्यमस्ति न कतोपनिषद चेदवेदीत् महती विनिष्टः 2/25

2- ये हि संस्पर्शाषा भोणा दु:खयोनप स्व ते (भगवद् गीता) 5/22

प्राचीन तथा अर्वाचीन हिन्दु तथा अहिन्दु अस्तिक तथा नस्तिक जितने प्रकार के भारतीय हैं सबो के दार्शनिक विचारों को 'भारतीय' दर्शन कहते हैं। कुछ लोग 'भारतीय' दर्शन को 'हिन्दु दर्शन' का पर्याय मानते हैं किन्तु यदि हिंदु शब्द का अर्थ, वैदिक धर्मावलंबी हो तो भारतीय दर्शन का अर्थ, केवल हिन्दुओं का दर्शन समझना अनुचित होगा। इस संबन्ध में हम माधवाचार्य के "सर्पदर्शन संग्रह" का उल्लेख कर सकते हैं। वे स्वयं वेदानुयायी हिंदु थे। भा0 दर्शन का द्विष्ट व्यापक है। यद्यपि भारतीय दर्शन के अनेक शाखाएं हैं, तथा उनमे मतभेद भी है फिर भी वे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करती। सभी शाखाएँ एक दूसरे के विचारों को समझने का प्रयत्न करती हैं। वे विचारों की युक्ति-पूर्वक समीक्षा करती हैं और तभी किसी

1- पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, डा0 गुलाब राय, पृ0 - 31.

सिद्धान्त पर पहुँचती हैं। इसी उदार मनोवृत्ति का फल है कि भा0 दर्शन में विचार विमर्श, के लिए एक विशेष प्रणाली की उत्पत्ति हुई। इस प्रणाली के अनुसार पहले पूर्व पक्ष होता है, तब खंडन होता है, तथा अंत में उत्तर पक्ष या सिद्धांत होता है। पूर्व पक्ष में विरोधी मत की व्याख्या होती है। उसके बाद खडन निराकरण होता है। अंत में उत्तर पक्ष आता है जिसमें दर्शनिक अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

इस उदार दृष्टि के कारण भारतीय दर्शन की प्राय प्रत्येक शाखा उदाहरण के लिए हम वेदान्त का उल्लेख कर सकते हैं। वेदांतम चर्वाक, बौद्ध, जैन, सारव्थ, भीमसा, न्याय, वैशेषिक आदि सभी मत पर विचार किया गया है। यह रीति केवलवेदांत में नहीं, किन्तु अन्य दर्शन में भी पायी जाती है।

वस्तुतः भारत के प्रत्येक दर्शन ज्ञान का एक-एक भंडार है। यही कारण है कि जिन विद्वानों को केवल भारतीय दर्शन का ज्ञान भली भाँति प्राप्त है। वे बडी सुगमता से पाश्चात्य दर्शन की जटिल समस्याओं का समाधान कर लेते हैं।

भा0 दर्शन की उदर दृष्टि ही उसकी प्राचीन समृद्धि तथा उन्नति का कारण है। भारतीय दर्शन यदि अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करना चाहता है तथा उसे सुदृढ़ बनाना चाहता है तो उसे प्राच्य तथा पाश्चात्य आर्प तथा अनार्प यहूदी तथा अरबी, चीनी तथा जापानी सभी दार्शनिक मतों का पूर्व विवेचन करना चाहिए। अपनी ही विचार परम्परा में सीमित रह जाने से उसकी पुष्टि और वृद्धि नहीं हो सकती। भारतीय दर्शन की उत्पत्ति एक ही समय में नहीं हुई है। किन्तु इसका विकास शताब्दियों तक साथ-साथ होता रहा है। भारत में दर्शन को जीवन का एक अंग माना गया है। यहाँ ज्योंही किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन होता था, त्योंही उनके अनुयायियों का संप्रदाय स्थापित हो जाता था। वरन् उनमें पारस्परिक अलोचनाएँ चलती रहती थी वस्तुतः भारतीय दर्शनों में प्रतिपक्षी के आक्षेप का युक्तिपूर्वक खण्डन करने की एक प्रथा चल गयी थी। इसी पारस्परिक आलोचना के फलस्वरूप भारत

में सहस्रों दार्शनिक ग्रथों की रचना हो गयी है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिकों में अपने विचारों का आदान-प्रदान की प्रथा थी। दार्शनिक विचारों का सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप सर्वप्रथम सूत्र साहित्य में ही पाया जाता है।

भारतीय दर्शन की दो शाखाएं हो गये - आस्तिक तथा नास्तिक। भीमांसा, वेदांत, साख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक अस्तिक दर्शन का अर्थ ईश्वरवादी नहीं है। इन दर्शनों में सभी ईश्वर को नहीं मानते हैं। इन्हें इन दर्शनों में सभी ईश्वर को नहीं मानते हैं। फिर भी वे अस्तिक कहे जाते हैं, क्योंकि वे वेदन को मानते हैं। इन छह आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त और भी कई आस्तिक दर्शन हैं। यथा - रौप दर्शन, पठनीय दर्शन रसेख दर्शन, आयुर्वेद इत्यादि। इन दर्शनों का उल्लेख माधवाचार्या ने "सर्वदर्शन-संग्रह" में किया है। नास्तिक दर्शन तीन हैं - चर्वाक, बौद्ध तथा जैन। ये नास्तिक इसलिए कहे जाते हैं कि ये वेदों को नहीं मानते।

आधुनिक भारतीय साहित्य में आस्तिक का अर्थ "ईश्वरवादी" तथा नास्तिक का अर्थ "अनीश्वर वादी" है किन्तु प्राचीन दार्शनिक साहित्य के अनुसार आस्तिक का अर्थ वेदानुयायी' तथा नास्तिक का अर्थ "वेद विरोधी" है।

दूसरे अर्थ में आस्तिक परलोक में विश्वास रखने वाले को तथा नास्तिक परलोक नहीं मानने वाले को कहते हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार भीमांसा, वेदांत, साख्य, योग, न्याय तथा वैशेषि को अस्तिक दर्शन इसलिए कहे जायेंगे तथा परलोक को मानने के कारण भी आस्तिक हैं। भा0 दर्शन का वर्गीकरण यदि परलोक में विश्वास के अनुसार किया जाए तो जैन तथा बौद्ध दर्शन भी कहे जायेंगे, क्योंकि वे भी परलोक को मानते हैं।

षड्दर्शन के दोनों ही अर्थों में आस्तिक कह सकते हैं। अर्थात् वे वेद को मानने के कारण भी आस्तिक हैं तथा परलोक को मानने के कारण भी आस्तिक हैं।

1- श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 - 248.

चर्वाक दर्शन दोनों में से किसी भी अर्थ में आस्तिक नहीं कहा जा सकता। वह न तो वेद को मानता है, न तो परलोक अत दोनों ही अर्थों में नास्तिक है।

आस्तिक तथा नास्तिक की भिन्नता समझने के लिए यह जानना आवश्यक है, कि भारतीय विचार-परंपरा में वेद का क्या स्थान है। वेद भारत का आदि साहित्य है। वेद के बाद की जो भारतीय विचारधारा चली वह वेद से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। दार्शनिक विचारधारा पर वेद का प्रभाव दो प्रकार से पड़ा है। हम ऊपर कह चुके हैं कि कुछ दर्शन वेदन को मानते हैं तथा कुछ वेद को नहीं मानते। वेदन को मानने वालों में छह दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें मीमांसा और वेदांत तो वैदिक संस्कृति की ही देन है। वेदन में दो विचार-धाराएँ थीं। एक का संबंध कर्म से था तथा दूसरे का ज्ञान से, ये क्रमशः वैदिक कर्मकांड तथा वैदिक ज्ञान कांड के नाम से विदित है।

सांख्य, योग, न्याय तथा वैशिषिक दर्शनों की उत्पत्ति वैचारों से नहीं हुई है। इनकी उत्पत्ति लौकिक विचारों से हुई है। इनके सिद्धांतों में तथा वैदिक विचारों में पारस्परिक विरोध नहीं था। वैदिक-संस्कृति के विरूद्ध जो प्रतिक्रियाएँ हुई थी उनसे चर्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शनों की उत्पत्ति हुई ये वेद के प्रमाण नहीं मानते थे - ये वेद-विरोधी थे।

दर्शन ही किसी देश की सभ्यता तथा संस्कृति को गौरवान्वित करता है। दर्शन की उत्पत्ति स्थान विशेष के प्रचलित विचारों से होती है। अतः दर्शन में स्थानीय विचारों की छाप अवश्य पायी जाती है। भारतीय दर्शनों में, मतभेद तो पाया जाता है, किन्तु भारतीय संस्कृति की छाप अवश्य पायी जाती है। भारतीय दर्शनों में, मतभेद तो पाया जाता है, किन्तु भारतीय संस्कृति छाप रहने के कारण उनमें साम्य भी पाया जाता है। भारत के सभी दर्शन मानते है कि दर्शन जीवन के लिए बहुत उपयोगी होता है।

1- डा0 गुलाब राय, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, पृ0 - 51.

पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि भा० दर्शन केवल नीति-शास्त्र धर्म-शास्त्र है। यह सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है। भारतीय दर्शनों में व्यवहारिक उद्देश्य अवश्य है। किंतु हम इसका मिलान नीति शास्त्र से नहीं कर सकते।

भारतीय दर्शन के व्यवहारिक उद्देश्य की प्रधानता का कारण इस प्रकार है। संसार में अनेक दु ख हैं जिनसे जीवन सर्वथा अंकारमय बना रहता है। दु खों के कारण मन में सर्वथा अशांति बनी रहती है। मानसिक अशांति से विचार की उत्पत्ति हुई। मनुष्य के दुःखों का क्या कारण है, इसे जानने के लिए सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के अंर्तनिहित तत्वों का अनुबंध करता है। भारतीयों में एक आध्यात्मिक मनोवृत्ति है, जिससे वे सर्वथा निराश नहीं होते, वरन् इसके कारण उनमें आशा का संचार होता रहता है। इसे हम "विलियम जेम्स" के शब्दों में अध्यात्मवाद कह सकते हैं।

(तत्वज्ञान) दर्शन किसी भी वस्तुस्थिति का या पदार्थ का यथार्थ ज्ञान माने तत्व ज्ञान है। वस्तुस्थिति का मतलब होता है - होना या न होना। हर एक क्रिया तत्वज्ञान कहलाती है। मानव जीवन के साथ-साथ सम्पूर्ण जगत् का अर्थ स्पष्ट वाले सामान्य एवं मौलिक कल्पनाओं की सुसंगत एवं तर्कपूर्ण प्रस्तुति ही तत्वज्ञान कहलाती है।

1- मैक्स ब्लोक उद्धृत ग्रन्थ, पृ० - 280.

भा0 एवं पाश्चात्य तत्व चिंतन

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दर्शन शब्द देखने से सम्बन्धित है, दृश्यते अनेन् इति दर्शनम् अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय। जगत् प्रकृति, आत्मा, शरीर, ईश्वर आदि को देखने का विशेष तरीका अथवा दृष्टिकोण ही दर्शन है। दर्शन शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है -

भा0 दर्शन दो अर्थों में लिया जाता है -

(1) किसी विषय अथवा तत्व को देखने की पद्धति अथवा उसे का दृष्टिकोण।

(2) किसी विशेष दृष्टिकोण से देखने पर सिद्धान्त स्थापित किये जाते हैं, उनका समग्र व व्यवस्थित रूप दर्शन है।

पाश्चात्य मत के अनुसार 'हर विषय का अपना दर्शन' है। यहां दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ है, यही दर्शन का प्रथम अर्थ में प्रयोग है। ठीक इसके विपरीत दर्शन दूसरे अर्थ में प्रयोग है। ठीक इसके विपरीत भारतीय दर्शन दूसरे अर्थ के रूप में समझे जाते हैं। यहाँ के ऋषियों, मुनियों ने जिन दर्शन दृष्टिकोणों से ईश्वर, जगत् मृत्यु आत्मा को देखा परखा उन सिद्धांतों को ही विभिन्न दर्शनों (गीता, उपनिषद, योग, भीमांसा, अद्वैतवाद, वैशेषिक न्याय) के नाम से जाना गया।

दर्शन का अंग्रेजी पर्याय फिलॉस्पी है, जो दो युनानी शब्दों फिलास तथा सोफिया का अर्थ है, विछा अथवा ज्ञान। अर्थात 'ज्ञान के प्रति अनुराग' दर्शन का अर्थ इससे भिन्न है। पाश्चात्य लोग आजीवन् ज्ञान की खोज में लगे रहते हैं, उन्हें प्रश्नों का हल मिलेगा या नहीं, वे लक्ष्य तक पहुँचेंगे या नहीं, इसकी वे चिन्ता नहीं करते। जबकि हिन्दू दर्शन के विभिन्न प्रेणता उस परम लक्ष्य तक पहुँचे, उसे अनुभव किया तथा उस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग बताया। ये ही विभिन्न मार्ग दर्शन कहलाए। भा0 दर्शन में दार्शनिक आचार्य केवल कल्पना या तर्क के आधार पर सिद्धान्त नहीं स्थापित करते, वरन् अपने जीवन में सतत् प्रयत्न स्वरूप उन्होंने जो सत्य प्राप्त किया

1- पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डा0 गुलाबराय, पृष्ठ - 31.

उसका अनुभव किया, इसके विपरीत यदि देखें तो फिलास्पी, कल्पना या तर्क अथवा बुद्धिगम्य ज्ञान पर टिकी है, यही कारण है कि वहाँ प्रायः धर्म व दर्शन तथा जीवन व विचारों में सामंजस्य नहीं है। इसके विपरीत भा0 दर्शन प्रायः धर्म से जुड़े रहे। भारत जगत् गुरू शंकराचार्य आज भी धर्म गुरू माने जाते हैं व हिन्दू धर्म सम्प्रदाय के नेता हैं। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार तथा प्राप्त उदाहरणों के अनुसार दर्शन सिद्धांत है, और धर्म व्यवहार है। जहाँ दर्शन का अन्त होता है, वहीं से धर्म का प्रारम्भ। आत्म प्राप्ति अथवा आत्मबोध होने के बाद दार्शनिक अपने विचारों को धार्मिक कार्यों व रूप में परिणत करता है। हिन्दू धर्म सम्प्रदाय के नेता हैं रामानुज, निम्बर्काचार्य, पातंजलि, माधवाचार्य, बल्लभाचार्य, श्री अरविन्द आदि सभी धार्मिक पथ के प्रेणता हैं।

श्री अरविन्द के अनुसार - 'दर्शन का कार्य ज्ञान के विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध सामग्री को कुछ भी न छोड़ते हुए व्यवस्थित करना और उनको एक सत्य एक सर्वोच्च सार्वभौम सद्वस्तु से समुचित सम्बन्ध में रखना है।'

श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन के अनुसार - भारतीय दर्शन मोक्ष प्राप्ति भारतीय जीवन का परम् लक्ष्य है, अतः यहाँ का दर्शन, धर्म, साहित्य, कलाएँ सभी और अन्मुख है। भा0 दर्शन में अध्यात्म शास्त्र अर्थात् सृष्टि, जगत् की रचना करने वाला आदि ईश्वर, आत्मा, परलोक, कर्मफल, मोक्ष आदि प्रमुख है। चूँकि पाश्चात्य चितंक विधि तथा परिणाम की दृष्टि से बुद्धि की सीमा से परे नहीं जा सके, इसलिए आत्मानुभूति का मार्ग नहीं अपना सके। वहाँ हर विषय का अलग शास्त्र व दर्शन है, हर वस्तु का भिन्न है। इसके विपरीत भारत में सभ कलाएँ, विद्याएँ शास्त्र उस एक तत्व (सच्चिदानन्द या ब्रह्म या परमात्मा, चैतन्य परब्रह्म की ओर उन्मुख है)।

थेलीज, एनौक्सिमैण्डर, एनौकेसमेनीज (संसार का मूलतत्व) यूनान के पूर्वज उसी देश की आयोनिया (यवन) नाम की बस्ती में आज से ढाई हजार वर्ष पहले ये तीन दार्शनिक हुए। इनके अनुयाई और भी बहुत से दार्शनिक हुए इनसे इन दार्शनिकों की यही खोज थी कि संसार किस मूल द्रव्य से उत्पन्न हुआ है, क्योंकि ये सभी

1- डा0 एम0एस0, भा0 दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 49, श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन

लोग द्रव्यों में जीव शक्ति मिश्रित समझते थे। इसलिए आत्मा ईश्वर आदि के विषय में इन्हें कोई शंका नहीं उत्पन्न हुई और निर्जीव से भिन्न जीव कोई वस्तु इनके यहाँ मानी जाती थी। थेलीज के मत से जल एनेक्सि मैराडर के मत से एक अनिपत द्रव्य और एनेक्सि मे मेनीज के मत से वायु मूल द्रव्य है, जिसमें आप ही आप सम्पूर्ण संसार की उत्पात्ति हुई है। थैलीज एक बहुत बड़ा ज्योतिषी भी था। सन् 585 ई0 पूर्व में जो सूर्य ग्रहण हुआ था, उसे इसने पहले से ही बता रखा था, इसके मत से पानी से सब वस्तुएँ निकली हैं, किन्तु इसने यह नहीं बताया कि किस प्रकार पानी से सब वस्तुएँ बनी हैं। जल से वनस्पति और सभी जीवधारियों को बल मिलता है।

हिन्दू शास्त्रों में भी जल की बड़ी महिमा लिखी है। मनुस्मृति में लिखा है - 'आप एवं ससृजादौ तासु बीज भवासृजत' - ईश्वर ने आरंभ जल बनाया और उसमें अपना (शक्तिरूपी) बीज डाला 'जल' को कहीं-कहीं ईश्वर और कहीं-कहीं ईश्वर का निवास कहा है।

इसी सम्बन्ध मे कठोपनिषद् में चिच्छा कहा है -

> परांचे खानि व्यतृणत्स्वयंभूस।
> तस्मात्पराङ पश्यति नांतरात्मन् ।।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मन् भैक्षद् ।
> आवृत्य चक्षुरमृत्व मिच्छम् ।।

अर्थात् विधाता ने इन्द्रियों को बाहर की ओर खोला इसलिए जीवन बाहर की ओर देखता है, न कि अन्तरात्मा की ओर। कोई धीर पुरूष ही अमर तत्त्व को चाहता हुआ बाहर की ओर से निगाह फेरकर अन्तरात्मा को देखता है। यद्यपि यूनान के आदि दार्शनिक ने जल, वायु आदि वाह्य पदार्थों को संसार का मूल आधार बताया है।

1- गुलाब राय, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, पृ0 - 51.

पाश्चात्य दार्शनिकों पीथागोरस के मत से आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जा सकती है और दस हजार वर्ष बाद सम्पूर्ण संसार जैसे पहले हुआ था फिर वैसा ही हो जाता है। जीव जो कार्य यहां करते हैं, उनका फल उन्हें भविष्यत् में मिलता है। इसके ये विचार हिन्दू दार्शनिकों के विचार से मिलते हैं। हेरैकीलटस एक उत्तम वंश का विद्वान था। इसके लेख संक्षिप्त और कठिन होते थे। इसके मत से प्रकृति एक है पर सदा परिणामिनी है। प्रति क्षण वस्तुओं में परिणाम होता रहता है, इसलिए संसार का मूल कोई ऐसा द्रव्य होना चाहिए जिसमें प्रति क्षण परिणाम हो। ये ऐसा प्रतिक्षण परिणामी पदार्थ अग्नि विदित हुआ। इससे उसने अग्नि को ही जगत का मूल आधार माना। यही अग्नि जीवों में प्राण रूप है। इस दार्शनिक के अनुसार प्रतिदिन नया सूर्य निकलता है, क्योंकि सूर्य की नौका में जो अग्नि है, वह संध्या को समुद्र की अग्नि में बुझ जाती है। फिर रात को जल के वाष्पों से निकलकर प्रातःकाल उदय होती है।

पार्मेनिडीज के अनुयायियों के मत से स्थिरता भ्रममूलक है। जिस प्रकार प्रवाह में एक स्थान के जल-कण बदलते रहते हैं, उसी प्रकार संसार-प्रवाह प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसकी भारतीय मत में एक कहावत है - एक ही पानी में हम दो बार पैर नहीं रख सकते। संसार का मूल शनित में नहीं वरन से वर्णन में है।

फ्रांसीसी दार्शनिक वर्गसन् ने यह मत बहुत ही उत्तम रीति से प्रतिपादित किया है। भारत वर्ष में बौद्ध धर्म वालों ने क्षणिक वाद माना है। बुद्ध महाराज इस प्रवाह का नाश करने की आज्ञा दी है, और इसमें प्रवाह के साथ चलने की आज्ञा है। इसके मत से निर्वाण बुराई समझी जाएगी। जब सभी चीजें चल रही हैं तब अचल क्या है ? इसके जवाब में वे कहते हैं कि ईश्वर के नियमों में चलना आवश्यक है।

पाश्चात्य दार्शनिक "एम्पेडोकीलज" सुवक्ता और मेहनती पुरूष था वह वैद्य था व भविष्य वादी धर्मोपदेश आदि के अनेक कार्य करता था। इसके मत

संसार का आदि और अन्त नहीं है। सब जगत चार तत्वों से उत्पन्न है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये तत्व गुणों से भिन्न हैं और प्रत्येक के विभाग हो सकते हैं। प्रेम के द्वारा तत्वों के धीरे-धीरे एकल होने से नए-नए रूप बने हैं। पृथ्वी पर पहले बडे-बडे कुरूप जन्तु ये क्रम से उनके अच्छे से अच्छे रूप उत्पन्न हुए। इसी का नाम विकास वाद है। एम्पेडोक्लीज का मत है इसीलिए जिस इन्द्रिय में जिस तत्व का अंश अधिक है, वह उसी तत्व को ग्रहण करती हे, इसे आख के द्वारा प्रभा का ग्रहण होता है। इसलिए इसे लोग पश्चिम का करतय कहते हैं।

हिन्दू शास्त्रों में भी इन्द्रियों का तत्वों से सम्बन्ध माना है। आकाश से श्रोत का तेज से नेत्र का, वायु से स्पर्श, का जल से रसना जिह्वा का और पृथ्वी से घ्राण (नासिका) का सम्बन्ध कहा गया है।

पाश्चात्य विद्धाओं ने माना की मनुष्य को आत्म-ज्ञान पर अर्थात अपनी बुद्धि और शक्ति पर विचार करना चाहिए।

प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो का मत और सिद्धांत ज्ञान इन दोनों विभागों में से प्रत्येक के दो-दो विभाग किए हैं - एक नीची श्रेणी तथा दूसरी उच्च श्रेणी नीची श्रेणी का मत नितान्त अन्ध विश्वास है, जिसके अनुसार कपूर और कपास वस्तु छाया में कुछ भेद नहीं। उच्च श्रेणी में प्लेटो ने विश्वास से कहा इसमें सत् और असत् का थोड़ा बहुत विवेश रहता है। उच्च कोटि के ज्ञान (श्रेय) का ज्ञान है इसी ज्ञान के विचार से आत्मा परम् पद को प्राप्त होती है।

प्लेटो ने बुद्धी की तुलना सारथी से की है, हमारे भारतीय दर्शन उपनिषदों में कहा गया है - 'बुद्धितुं सारथि विद्धि' । क्रोधादि विकार हमारे उन्नति के मार्ग बाधा डालते हैं, किन्तु बुद्धि को चाहिए कि उन पर जय प्राप्त करे। प्लेटो ने आत्मा को अमर माना है इसके साथ ही साथ उसने आत्मा का पूर्व जन्म और पुर्नजन्म भी माना है।

पाश्चात्य दार्शनिक सुकरात के भाँति प्लेटो ने आत्मा के तत्वों का विश्लेषण किया है उससे चार मुख्य धर्म निकलते हैं, आत्मा की तीन प्रकार की प्रकृति है, एक उच्चतम जो कि आत्मा की स्वाभाविक है अन्य दो प्रकृतियाँ स्वयं प्रकृति सम्बन्ध से प्राप्त होती है।

आत्मा -

1-	बोद्ध प्रकृति	तत्सम्बन्धी इन्द्रिय	तत्सम्बन्धी धर्म
2-	अबौद्ध प्रकृति उच्च भाग - हृदय		शौर्य
	मध्य भाग - प्रकृति		संयम

इन तीनों धर्मो के साम्य का नाम न्याय (जस्टिस) रखा है। इनके अनुसार सुव्यवस्थित समाज में ही मनुष्य इस न्याय का आदर्श चरितार्थ कर सकता है। मनुष्य की आत्मा के तीन तत्व हैं। उन्हीं के अनुकूल समय तीन भाग में विभक्त है, राजा लोग (जिन्हें दार्शनिक होना चाहिए। समाज के मस्तिष्क है। उनसे बुद्धि और चातुर्य की प्रधानता होनी चाहिए। दूसरे तत्व के अनुकूल समाज में लड़ने वाले सिपाही योद्धा लोग, तीसरे तत्व के अनुरूप समाज में कारीगर और पेशेवर लोग हैं, इनका मुख्य धर्म संयम है।

भारतीय दर्शन में भी "सत्" रज और "तम" गुणों से किसी अंश में मिलाता है। सत् का बुद्धि से सम्बन्ध है, सत् की चातुर्य्य से समानता है। रज का क्रिया से सम्बन्ध है, इसलिए इस विभाग में शौर्य का स्थान रज को मिलता है। तम का सम्बन्ध काम, क्रोधादि मनोविकारों से है, और प्लेटो के विभाग में "संयम" इन मनोविकार को नियमित रखने से सम्बन्ध होने के कारण "तम" से सम्बन्ध रखता है।

यह तीनो धर्म हमारे या वर्ण विभाग अथवा वर्ग व्यवस्था से कुछ-कुछ मिलता-जुलता है।

1- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ - 55, 50.

दर्शन शास्त्र मानव जीवन के लिए महत्वपूर्ण है। दर्शन शास्त्र समस्त दिशा में जनक माना जाता है। सांख्य दर्शन ने न केवल विकासवाद के सिद्धान्त द्वारा सम्पूर्ण विश्व निर्माण को समझाने का प्रयास किया, अपितु शक्ति की अविनाशित तथा रूपान्तरण के वैज्ञानिक सिद्धान्त के विषय में विशद जानकारी भी दी। कार्य करण सम्बन्ध विवेचन तो प्रत्येक भारतीय दर्शन में उपलब्ध है। जैन दार्शनिक अणुवादी सिद्धान्त को समझाते हुए जड़त्व की सामान्य विशेषताओं का परिचय दिया।

पाश्चात्य चिंतन और इतिहास में मार्क्स निःसंदेह पहले मनीषी थे जिन्होंने मानव इतिहास की व्याख्या में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने का प्रयत्न किया और वर्गों पर आधारित मानव समाज को बदल कर साम्य समाज के निर्माण का आदर्श प्रस्तुत किया। यह उनके वृद्धात्मक भौतिकवाद की देन है। गत शताब्दी में मार्क्स के ही समकालीन ऋषि दयानन्द सरस्वती ने ऐतिहासिक घटनाओं के विश्लेषण में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया और अपने जीवन का लक्ष्य सामाजिक-संशोधन स्वीकार किया। इतिहास प्रसिद्ध महाभारत युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है "परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी और अविद्वान लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता है"।

पाश्चात्य दार्शनिक बीसवीं शती के प्रथमार्थ दर्शन है जिसे कैम्ब्रिज विश्लेषण भी कहा जाता है, पाश्चात्य विद्वानों ने सिद्धांत को सुदृढ़ करने के लिए अपूर्व प्रतीक का सिद्धान्त रसेल ने बताया। इस सिद्धांत का उपयोग करते हुए उन्होंने आगे कहा -

दर्शन शास्त्र के बिना वह अंधी है।"

जगदाचार्य नारदानन्द सरस्वती के कुछ मौलिक विचार निम्न हैं -

1- इन्द्रिय - जन्य अनुभव पर प्रयोग होता है, वैसे प्रतिभा ज्ञान पर प्रयोग किया जा सकता है। ऋषियों ने ऐसा प्रयोग किया था।

2- सत्य - प्राप्ति का एकमात्र मार्ग प्रतिभा-ज्ञान का मार्ग है।

3- **प्रतिभा** - ज्ञान को पाने के लिए आत्म संयम, वैराग्य और सद्गुरू की आवश्यकता है।

4- **प्रतिभा** - ज्ञान के बिना अन्य ज्ञान अपूर्ण और कभी-कभी विरोध ग्रस्त हो जाते।

5- हिन्दू शास्त्रो में प्रतिभाज्ञान का महासागर है। उसकी एक बूँद भी किसी को मिल जाय तो वह ज्ञानी हो जाता है।

6- सांख्य का गुणत्रय सिद्धान्त सृष्टि, व्यक्ति और समाज सभी के रहस्य का उद्घाटन करता है।

7- वर्तमान में सर्वत्र व्याप्त भ्रष्टाचार का मूल कारण राजनीतिक सत्ता का भ्रष्ट होना है और उसमें भी सर्वोच्च सत्ता पर आरूढ़ व्यक्तियो का भ्रष्ट होना। गंगोत्री में अगर भैंस मरी पड़ी है, तो उसकी सड़न गंगा सागरत तक होगी ही।

8- सभी धर्मो का आराध्य एक ईश है। उसकी सत्ता को मानना एकमति अस्तिकता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने माना है कि जिस प्रकार पित्तोहत मनुष्य को सबकुछ पिला ही सूझता उसी प्रकार इन्द्रियों की रचना में भेद होने के कारण सम्भव है कि प्रत्येक जन्तु को भिन्न-भिन्न रूप में संसार देख पड़े। स्त्री आदि एक वस्तु से किसी को सुख किसी को दु ख आदि होने से स्पष्ट विदित होता है। इससे विदित होता है कि सब लोग एक वस्तु को एक ही दृष्टि से नहीं देखते। एक ही वस्तु एक एन्द्रिय को सुख और दूसरी इन्द्रिय को दुःख देती है। जबकि एक वस्तु (नारंगी) चिकनी, मीठी, पीली, गोल आदि अनेक धर्मों से युक्त विदित होती है, तो सम्भव है कि वह वस्तु या तो शुद्ध एक धर्म वाली है या इन्द्रियों के धर्म भेद से उसमें गुण भेद दिखलाई पड़ता है।

1- श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन, भारतीय संगीत एवं दर्शन, पृ0 - 248.

पाँच इन्द्रियाँ होने के कारण हम रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द पाँच ही गुणों का अनुभव करते हैं। घी साधारणत अच्छा लगता है, परन्तु बीमारी मे तीता लगा। दूर से वस्तु छोटी पर नजदीक से बड़ी दीख पड़ती है या वे देखने वाले के शरीर के गुणों से अथवा आस-पास की वस्तुओं के गुणों से मिले हुए अनुभव में आते हैं।

भारतीय प्रसिद्ध पक्षकार बिहारी ने इस कविता के रूप में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है -

हौ ही बौरी बिरहबस, के बौरो सब गाँव।
कहा जानिये कहत क्यों ससिहि सीतकर नाँव।।

बिहारी।

बोई बन बागन बिलोके सीस मौन बेइ
हार, मनि, मोति कछु लाग न प्यारी सो।
वाही चन्दमुखी की सुमधुर मुसकान बिन,
सब जग लागत है अधिक अँध्यारों से।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने ईश्वर और सृष्टि के बीच का तत्व लोगस है। यह एक प्रकार से प्लेटो के सामान्य आकृतियों का एकीभूत संघात रूप है। मैक्समूलन ने इसको वैदिक वाक् से मिलाया है। इसके विषय में बाइबिल में लिखा है कि संसार के आदि में "शब्द" था वेद व्यास जी लिखते हैं - अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी विछा यतः सर्वथा प्रवृत्तयः इसी लोगस की ईसाई दार्शनिकों ने ईश्वर के पुत्र से मिलाया है। शब्द और लोगस का विचार बहुत अंशो में पाश्चात्य दार्शनिकों का मानना है, वर्तमान समय में और विशेषकर युरेपीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात, लोगों का ध्यान अध्यात्मिक विषयो को और झुका है। भौतिक विज्ञान की शक्तियों का चमत्कार युद्ध के समय में पूरे तौर से प्रकट हो चुका है, लेकिन उसके साथ ही उसकी अमानुषिकता भी प्रकट हो गई है। यद्यपि मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ बड़ी बलवती होती हैं।

सर रवीन्द्रनाथ की पुस्तकों का पश्चात्य देशों में जो आदर हुआ, वह भी समय के झुकाव की सूचना दे रहा है। प्रत्यय वाद के समर्थन की लेखिका मिस सिकलेयर ने भी रवीन्द्र नाथ ठाकुर के गीतों का आश्रय लिया, मेकेन्जी साहब ने अपनी तत्व ज्ञान सम्बन्धी नई पुस्तक में ब्रह्मावाद का समर्थन करते हुए शकर दर्शन को सहृदय दृष्टि से देखा है। अध्यापक राधा कृष्णनन् ने अपने Reign of Religin in Comtem Porary Philosophy (सामाजिक दर्शन में धर्म का राज्य) में दिखाया है कि आज कल के दर्शनों पर धर्म का कितना प्रभाव पडा है। यद्यपि उन्होंने धर्म के प्रभाव को एक प्रकार का दोष माना है, फिर भी इस समय का झुकाव भली भाँति प्रकट करता है। आज कल लोग धार्मिक अनुभव को भी अन्य अनुभवों की भाँति अनुभव मे स्थान देता है। मनोविज्ञान का विस्तार भी लोगों को आध्यात्मिकता की ओर ले जा रहा है।

पश्चिमी दर्शन विश्लेषणात्मक है (Analytic) पश्चिमी दर्शन के विश्लेषणात्मक कहे जाने का कारण यह है कि दर्शन की विभिन्न शाखाओं का जैसे तत्व विज्ञान Mataphysics नीति विज्ञान Elhics, प्रमाण विज्ञान, ईश्वर विज्ञान, सौन्दर्य विज्ञान की व्याख्या प्रत्येक दर्शन में अलग-अलग की गई है।

परन्तु भारतीय दर्शन मे दूसरी पद्धति अपनाई गई है। यहाँ प्रत्येक दर्शन में प्रमाण-विज्ञान, तर्क-विज्ञान, नीति-विज्ञान, ईश्वर-विज्ञान आदि समस्याओं पर एक ही साथ विचार किया गया है।

पश्चिमी दर्शन इह-लोल This word की ही सत्ता में विश्वास करता है, जबकि भारतीय दर्शन इह लोक के अतिरिक्त परलोक other world की सत्ता में विश्वास करता है, पश्चिमी दर्शन के अनुसार इस संसार के अतिरिक्त कोई दूसरा संसार नहीं है। इसके विपरीत भारतीय विचार धरा में स्वर्ग, नर्की मीमांसा हुई है, जिसे चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी में मान्यता है।

भारतीय दर्शन दृष्टिकोण जीवन और जगत के प्रति दु:खात्मक एवं अभावात्मक है। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन में जीवन और जगत के प्रति दु:खात्मक दृष्टिकोण की उपेक्षा की गई है, भावात्मक दृष्टिकोण को प्रधानता दी गई है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत, चेतना की जिस प्रवृत्ति पर आधारित है उसे "सहज ज्ञान-परिधीय" कहा जा सकता है। इसका अर्थ है अंतर्ज्ञानीय तथा परिधीय चिन्तन प्रणाली द्वारा ज्ञानार्जन दूसरी ओर पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत युक्ति युक्त विवादमय वृत्ति पर आधारित है।

इन सभी बातों का यदि संक्षेप रूप से देखें तो हमें यह जानकारी मिलती है कि मनुष्य और उसको समाज के प्रश्नों की ओर आज दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए न कि विश्व, उसकी उत्पत्ति आदि की ओर पश्चिमी दार्शनिकों का मानना है कि दर्शन को शुद्ध, बौद्धिक प्रक्रिया तक सीमित रखा है और उसके लिए कोई विशिष्ट व्यक्ति उद्देश्य नियत नहीं किया है, फिर भी वे सदा यह मानते आ रहे हैं कि जीवन के लिए इससे निश्चित लाभ मिलते हैं। अतएव जीवन में व्यवस्था लाने के लिए जीवन के स्वस्थ मूल्यों को पुनर्जीवित कर युग के अनुकूल रूप देकर उन्हें हमारे समक्ष प्रस्तुत करना आज दार्शनिकों का अभिष्ट कर्तव्य होना चाहिए। ऐसा करने पर आधुनिक जीवन में अशान्ति मिट सकती है।

योग एवं दर्शन का सम्बन्ध

महर्षि, पतंजलि योग के प्रवर्तक हैं। योग तथा सांख्य में बहुत अधिक साम्य है, योग सांख्य के प्रमाणों और तत्वों को मानता है। यह सांख्य के 25 तत्वों के साथ-साथ ईश्वर को भी मानता है। योग-दर्शन का प्रमुख विषय योगाभ्यास है, सांख्य के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख साधन विवेक ज्ञान है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति प्रधानत· योगाभ्यास से ही हो सकती है, योग चित्तवृत्तियों के विरोध को कहते है। चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ हैं। पहली भूमि 'क्षिप्त" कहलाती है। क्योंकि इसमें चित्त सांसारिक वस्तुओं में क्षिप्त अर्थात् चंचल रहता है। दूसरी भूमि 'मूद' कहलाती है। क्योंकि इसमें चित की अवस्था निद्रा के सदृश अभिभूत रहती है। तीसरी भूमि 'विक्षिप्त' कहलाती है। यह क्षिप्त में अपेक्षाकृत शांत अवस्था है, किंतु बिल्कुल शांत नहीं है। इन चित्त भूमियों में योगाभ्यास संभव नहीं है। चौथी तथा पाँचवी भूमियाँ "एकाग्र" तथा "निरूद्ध" कहलाती हैं। एकाग्र अवस्था में चित्त किसी ध्येय में निविष्ट या केंद्रीभूत रहता है। निरूद्धावस्था में चिंतन का भी अंत हो जाता है। एकाग्र तथा निरूद्ध योगाभ्यास में सहायक है। योग दो प्रकार का होता है। संप्रज्ञात तथा असंज्ञात। संप्रज्ञात उस योग या समाधि को कहते हैं, जिसमें चित्त ध्येय चिष्टा में पूर्णतया मय हो जाता है, जिससे चित्त को उस विषय का पूर्णतया ज्ञान होता है। असंप्रज्ञात उस योग को कहते हैं, जिसमें मनकी सभी क्रियाओं का निरोध हो जाता है।

योगाभ्यास के आठ अंग हैं, जो योगांग कहलाते हैं - यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समधि, अहिंसा, सत्य अस्तयों, ब्रह्माचार्य और ऊपरी ग्रह का अभ्यास करना ही 'यम' है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, तथा ईश्वर-प्रणिधान, इन आचारों का अभ्यास 'नियम' कहलाता है। आनंदप्रद शारीरिक स्थिति को 'आसन' कहते हैं। नियन्त्रित रूप से श्वस-ग्रहण, धारण तथा त्याग को 'प्रणायाम' कहते हैं। इंद्रियों को विषयों से हटाने का नाम 'इंद्रियसंयम' अर्थात् 'प्रत्याहार'

1- डा0 संगम लाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन, 195,

है। चित्र को शरीर के अंदर या बाहर की किसी वस्तु पर केंद्रीभूत करने को "धारणा" कहते हैं। किसी विषय का सुदृढ़ तथा अविराम चिंतन "ध्यान" कहलाता है। 'समाधि' चित्त की वह अवस्था है जिसमें ध्यान शील चित्र ध्येय विषय में तल्लीन हो जाता है।

योग-दर्शन को सेश्वर-सांख्य कहते हैं, और कपिलवृत्त सांख्य को निरीक्षण। योग के अनुसार चित्त की एकाग्रता के लिए तथा आत्मज्ञान के लिए ईश्वर ही ध्यान का सर्वोत्तम विषय है।

ईश्वर पूर्ण, नित्य सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वदोष रहित है। योग के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व के लिए निम्नोक्त प्रमाण दिए जाते हैं - जहाँ तारतम्य है, वहाँ सर्वोच्च का होना अत्यधिक आवश्यक है। ज्ञान में कम या अधिक है। अतः पूर्ण ज्ञान तथा सवज्ञाता को होना निःसंदेह है वो पूर्ण ज्ञानी या सर्वज्ञ है वही ईश्वर है। प्रकृति और पुरूष के संयोग से संसार की सृष्टि का आरंभ होता है। संयोग का अंत होने पर प्रलय होता है। पारस्परिक संयोग या वियोग पुरूष और प्रकृति के लिए स्वाभाविक नहीं है। अतः एक पुरूष-विशेष का अस्तित्व परामावश्यक है, जो पुरूषों के पाप तथा पुण्य के अनुसार पुरूष तथा प्रकृति में संयोग या वियोग स्थापित करता है।

चित्त मे ही योग की ऊँची-ऊँची अनुभूतियाँ होती हैं, और नित्य का छोटे से छोटे अनुभव। इन सब बातों का समन्वय करना तथा इनको एक मंच पर ले आना दर्शन का काम है। यदि एसा न किया जा सका तो हमारे जीवन के विभिन्न पहलुओं में समान्जय नहीं रहेगा। हम एक साथ अलग-अलग लोकों में रहेंगे जिनकी सीमाएँ कहीं न मिलती होंगी। इसलिए दर्शन यदि सचमुच दर्शन है तो योग की अनुभूतियों को भी उसके द्वारा समझा जाना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता जो सचमुच उसका आधार केवल मनुष्य के और मस्तिष्क की कल्पना मात्र होगी और सचमुच

1- वृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति ।2.5। पृष्ठ.

केवल बौद्धिक अखाडे में उतरने वालों के मनोरंजन की समाप्ति मात्र बनकर रह जायेगी। ऐसी ही दर्शन के लक्ष्य के एक सूत्र में कहा गया "तर्क अप्रतिष्ठित है" अर्थात् एक विद्वान कोई तर्क उपस्थित करता है, दूसरा विद्वान उस तर्क को काट देता है। दर्शन को यदि वह सचमुच विश्व को समझाने का दावा करता है तो, सत्य के साक्षात्कार की उन अनुभूतियों से काम लेना चाहिए जो योग के द्वारा सामने आती है और योग को दर्शन की सार्वभोम सामग्री का अंग बनना चाहिए। दोनो ही एक-दूसरे से सम्बन्धित है।

योग मार्ग से श्रेष्ठ मार्ग श्रुति और स्मृति में दूसरा नहीं है।[1]
योग शास्त्र को नित्य पढ़ना चाहिए। अन्य शास्त्रों से क्या लाभ।[2]

भारतीय तत्व ज्ञानियों ने मोक्ष के जिन मार्गों का व्याख्यान जिज्ञासुओं के प्रति किया है वे सभी बिना किसी अपवाद के तत्व साक्षात्कार को साधना का विषय मानते हैं। आत्म-दर्शन में गुरूमुख से उसके वास्तविक स्वरूप का श्रवण तथा उस श्रवण पर तर्क की कसौटी पर कसे गये सिद्धान्तों के निर्धारण रूप मनन के साथ-साथ उस निर्धारित सिद्धांत को निरन्तर अन्तरात्मा मे दृढ़ करने की प्रक्रिया को जिसे निदिध्यासन कहते हैं, आवश्यक माना गया है। इसीलिए वृहदारण्यकोपनिषद् ने आत्म दर्शन के मार्ग का निर्देश करते हुए कहा गया है -

"आत्मा वाडरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यों मन्तव्यों निदिध्यासितव्यश्च ।"

बिना निदिध्यासन् के जिज्ञासु को तत्वज्ञान की उपलब्धि किसी प्रकार नहीं हो सकती। लेकिन क्या प्रत्येक मनुष्य को उसकी सभी मानसिक स्थितियों में निदिध्यासन की सम्भावना हो सकती है ? क्या रागोन्मुख अथवा विक्षिप्त चित्त में तत्वज्ञान का दृढ़ीकरण हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सभी भारतीय दार्शनिक एक मत हैं कि बिना चित की शुद्धता के तत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती।

1- योगसूत्र 1,2,1.
2- योग: समाधि: व्यासभाष्य.

1- योगमार्गत् परो मार्गो नस्ति-नस्ति श्रुती स्मृतौ।

आदि नाथ

2- योग शास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यै- शस्त्रविस्तरै

विवेकमार्तण्ड

तत्वज्ञान के निर्मित चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है। योग-दर्शन समस्त अध्यात्मवाद और उसकी साधना का व्याकरण है।

सांख्य दर्शन और योग का परस्पर वैसा ही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, न्याय और वैशेषिक का। दूसरे शब्दों में ये दोनों समान तन्त्र हैं। योग में सांख्य के पच्चीस तत्वों को मानकर उनकी सृष्टि प्रक्रिया परिणामवाद, गुणवाद आदि को अपनाते हुए चित्त अर्थात् बुद्धि के रहस्यों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। यद्यपि योगदर्शन को सांख्य के सभी दार्शनिक सिद्धांत स्वीकार है तथापि सांख्य के अभ्यन्तर तत्वों की सूक्ष्म विवेचना से असन्तुष्ट होकर 'महर्षि पतंजलि' ने चित्त को ही अपने शस्त्र का एकमात्र तत्व मानकर उसके सूक्ष्माति सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन करते हुए उसके निरोध की प्रक्रिया का व्याख्यान किया है, वास्तव में चित्तवृत्ति ही जीव के बन्धन का कारण है, और चित्त निरोध से मोक्ष होता है। योगदर्शन में सांख्य का व्यवहारिक रूप मिलता है। सांख्य सैद्धान्तिक है, योग व्यवहारिक है। बिना योग के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार असम्भव है। इसीलिए योग के टीकाकार प्रायः सांख्य और योग के सम्बन्ध को दिखलाते हुए भगवद्गीता का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं, जिसका अर्थ -

सांख्य योगौं पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डितः ।

अतएव सांख्य और योग दोनो एक और अभिन्न है ।

यद्यपि योगदर्शन में हिरण्य गर्भ को योग का आदि वक्ता माना गया है- हिरण्य गर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः[1] तथापि इस शास्त्र को सर्वांपूर्ण रूप में प्रदर्शित करने का श्रेय महर्षि पतंजलि को है।

1- वृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति, 12,5।

योग-दर्शन में चित्त अर्थात् बुद्धि ही एक मात्र जिज्ञासा का विशय है। साख्य के पच्चीस तत्वों में से यद्यपि सभी का पुरूष के बन्धन में अपना महत्व है, तथापि प्रकृति-पुरूष संयोग में चित्त-वृत्तियों की साक्षर कारणता चित्तमात्र है, अधिकारी है लेकिन अनादि अज्ञान के कारण उसकी चित्तवृत्तियो मे एकाकारता हो जाती है। पुरूष और बुद्धि के इस अनादि सम्बन्ध का विच्छेद तभी हो सकता है, जब जीव की समस्त चित्तवृत्तियाँ सदैव के लिए शान्त हो जाएं। अतएव योग शास्त्र के अनुसार जीव के मोक्ष का एक मात्र उपाय उसकी चित्त-वृत्तियों का निरोध है।

महर्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि योगश्चिवृत्ति निरोध अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। चित्त की निरूद्ध अवस्था ही समाधि है।

चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए उन्होंने पाँच भूमियों का वर्णन किया है। योगशास्त्र के प्रथम सूत्र परभाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने चित्त की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है, जिन्हें चित्त की भूमि कहते हैं इन पाँच भूमियों मे वर्तमान साधारण धर्म ही चित्त की स्वाभाविक अवस्था है जो इस प्रकार है -

(1) **क्षिप्त** - यद्यपि स्वभावतया चित्त में सत्व की प्रधानता होती है तथापि रजोगुण के उद्रेक से चित्त चंचल होकर विषयोन्मुख हो जाता है। सांसारिक विषयों की ओर निरन्तर प्रवृत्ति होने से वह सदैव भटकता रहता है, चित्त की इस अवस्था को क्षिप्त वृत्तियां कहते हैं।

(2) **मूढ़** - जिस समय चित्त में तमोगुण का उद्रेक होता है, उस काल में तामस कर्म संस्कारों के कारण चित्त की प्रवृत्ति अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य की ओर होती है। चित्त की इस रागादि अवस्था में राग-मोहादि की प्रबलता के फलस्वरूप जीव के मूढ़ावस्था की प्राप्ति होती है।

(3) **विक्षिप्त** - साधकों में प्रायः ऐसा देखा गया है कि सतोगुण की प्रबलता के कारण वे परमार्थोन्मुख तो होते हैं, लेकिन यदाकदा रजोगुण के प्रभाव

से उनकी वृत्तियाँ विषयोन्मुख भी होती रहती हैं। सफलता एव असफलता के बीच भटकती हुई साधक के चित्त की यह भूमि विक्षिप्त कहलाती है।

(4) **एकाग्र** - चित्त की इस अवस्था में चित्त विक्षिप्त-गत रजोमल में पूर्णतया निर्मूल होकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित हो जाता है, अर्थात् उसमें सत्व का ही प्रसार रहता है। सत्व में प्रतिष्ठित होने के कारण चित्त अपने अभीष्ट विषय की ओर उसी प्रकार से एकाग्र हो जाता है, जिस प्रकार निर्वात स्थान में दीपशिक्षा स्थिर रहती है। योगी के चित्त की इस एकाग्र स्थिति को गीता में कहा गया है -

"यदा दीपो निवातस्थो निङ्क्ते सोपमा स्मृता।"

(5) **निरूद्ध** - चित्त की अंतिम अवस्था को योगशास्त्र में निरूद्ध कहा गया है। इस भूमि में चित्त की सभी वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। लेकिन उन वृत्तियों के संस्कार अवश्य अवशिष्ट रहते हैं। संस्कार युक्त चित्त की यह निरूद्ध अवस्था ही निर्बीज[1] समाधि है। इस अवस्था का कैवल्य से भेद यह है कि इसमें चित्त के संस्कार अवशिष्ट रहते हैं, और कैवल्य में सब संस्कारों का प्रकृष्ट रूप में लय हो जाने पर चित्त अपने कारण प्रधान में विलीन हो जाता है।

चित्त वृत्तियों के भेद :-

चित्त की उन अवस्थाओं में जिनमें वृत्तियों का निरोध नहीं होता, योग में व्युत्थान - अवस्था कहा जाता है। इस व्युत्थान-चित्त की वृत्तियाँ योगशास्त्र में पाँच प्रकार की बतलाई गयी हैं, जो क्रमशः प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति नाम से प्रसिद्ध है।[1]

1- योगसूत्र 1, 5 / भास्वती, पृ0 - 25.
2- तत्व वैशारदी पृ0 - 25.

क्लिष्ट वृत्तियों के मध्य अक्लिष्ट वृत्तियों की तथा अक्लिष्ट वृत्तियों के बीच क्लिष्ट वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती रहती। क्लिष्ट और अक्लिष्ट संस्कारों की उत्पत्ति होती है।[1] जो वास्तव में संसार के अनर्थ के मूल कारण है, वृत्तियों से संस्कारों की तथा संस्कारों से वृत्तियों की उत्पत्ति का यह क्रम चित्त अहर्निश निरन्तर चलता रहता है।[2]

अभ्यास के विषय में भगवत् गीता में कहा गया है - "अभ्यासेनतुकोन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"।

अभ्यास और वैराग्य -

अभ्यास की व्याख्या - तप, ब्रह्माचर्य, विद्या एवं श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक निरन्तर अनुष्ठान से वृत्ति निरोध करने को अभ्यास कहते हैं।

वैराग्य की स्थिति -

जिस समय साधक इह लौकिक दृष्टि एवं पार लौकिक दोनों प्रकार के विषयों से पराङमुख होकर सभी प्रकार के विषयों में दोष देखने लगता है, उस समय उसकी इस स्थिति को वशीकार-संज्ञा कहते हैं। इस प्रकार अभ्यास एवं वैराग्य से साधक चित्त-निरोध प्राप्त करता है।

समाधि का स्वरूप -

योग शास्त्र में निरोध की दो अवस्थाएँ बतलाई गई हैं - (1) सम्प्रज्ञात और (2) असम्प्रज्ञात। चित्त की भूमियों की विवेचना करते समय जिस एकाग्र-भूमि की व्याख्या की गई, वहीं समाधि या योग की सम्प्रज्ञात अवस्था है। जिस समय साधक का चित्त किसी एव वस्तु पर इस प्रकार एकाग्र हो जाता है कि उसकी अन्य सभी वृत्तियों की शक्ति क्षीण होकर उस वस्तुविषयक वृत्ति को ही प्रौढ़ बनाती है, उस समय समधि की सम्प्रज्ञात अवस्था होती है। इस अवस्था में साधक का चित्त निर्वात् दी पशिखा के समान एक ही भाव में प्रवाहित होते हुए रजोगुण जन्य सभी मलों

1- योग सूत्र 2-1, स्व व्यास भाष्य.

का परित्याग करके सत्य से परिप्लावित होता है। इस अवस्था में कोई न कोई आलम्बन अवश्य रहता है। इसे संबीज समाधि अथवा धर्ममेघ समाधि भी कहते हैं। सत्व के उद्रेक के कारण इस अवस्था में प्रज्ञा का उदय होता है, तथा जीव के समस्त कर्म बन्धन शनैः शनै. शैथिल्य को प्राप्त होने लगती है।

सम्यक रूप से प्रज्ञा का आविर्भाव होने के कारण इस अवस्था को सम्प्रज्ञात कहा गया है।[2] समाधि की अवस्था निरूद्ध की निकटतम् अवस्था है।

योग दर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद बतलाये गये है, जो इस प्रकार हैं -

(1) वितर्कानुगत, (2) विचारानुगत, (3) आनन्दानुगत, (4) अस्मितानुगत।

सम्प्रज्ञात - समाधि के इस विभाजन का आधार समाधि-प्रज्ञा के आलम्बन का स्वरूप बतलाया जाता है। जब साधक की प्रज्ञा किसी स्थूल को साक्षात्कार का विषय बनाकर उसकी और प्रवृत्ति होती है। तब समधि की इस अवस्था को वितर्कानुगत समधिक होता है। सूक्ष्म विषयों के आलम्बन रूप मे ग्रहण करके सम्प्रज्ञात समधि में स्थित साध के चित्त की यह अवस्था विचारानुगत समाधि कहलाती है। इन सूक्ष्म विषयों की ओर प्रवृत्ति एकाग्रचित में सत्व के प्राचुर्य से एक विशेष आनन्द की उत्पत्ति है। इसे आनन्दानुगत कहा गया है। सम्प्रज्ञात समाधि की चतुर्थ अवस्था अस्मितानुगत है। इस अवस्था में केवल मै हूँ यह ज्ञान ही साधक के चित्त का आलम्बन होता है।

असम्प्रज्ञात समधि सम्प्रज्ञात समाधि की ये चारों अवस्थाएं किसी न किसी आलम्बन पर आश्रित होती हैं। इन चारों अवस्थाओं को भली-भाँति प्राप्त करके योगी निरन्तर अभ्यास एवं वैराग्य के फलस्वरूप समाधि की ऐसी अवस्था में पहुँचता है, जिसमें कोई भी आलम्बन अवशेष नहीं रहता। चिंतन की इस निरालम्बन अवस्था मे सभी वृत्तियाँ सदैव के लिए लीन हो जाती हैं। पूर्व ज्ञान के संस्कार मात्र शेष रह जाते है। ध्येय विषय हीन चित्त की यह निरूद्धावस्था जिसमें संस्कार मात्र

1- योग सूत्र 1, 17 योग वर्तिक, नन्दास्मिता रूपा नुगयात संप्रज्ञावातः योग सूत्र 1/17
योग सूत्र 13/4/34-1,3 योग वर्तिक.

शेष रह जाते हैं। ध्येय विषय हीन चित्त की यह निरूद्धावस्था जिसमें सस्कार मात्र अवशिष्ट रहते हैं, असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से विख्यात हैं।

व्युत्थान-चित्त को अनादि कर्म तथा क्लेशों की वासना से परिशुद्ध करने के लिए ज्ञान योग, कर्म योग, तथा भक्ति योग में से किसी एक का भी आश्रय लिया जा सकता है।

{5} अब प्रश्न है कि जन क्लेशों के कारण मनुष्य का चित्त अशुद्ध होकर संसार के विषय के प्रति प्रेरित होतो है वे क्या हैं ? योग शास्त्र में अविछा, अस्मित, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश ये पाँच प्रकार के क्लेशों का वर्णन मिलता है।

{6} योग साधन में योग शास्त्र में क्लेशों से चित्त की परिशुद्धि के लिए आठ साधनों का वर्णन किया गया है। इनका अभ्यास चित्त के समाहित होने में एक प्रकार से आवश्यक समझा जाता है, योग के इन आठ साधनों को अष्टांग योग कहा जाता है। इनमें यम, नियम, आसन, प्राणयाम और प्रत्यहार ये पाँच वहिरंग साध हैं और इनके तीन अनन्तर अंतरंग साधन हैं - ध्यान, धारणा और समाधि है।

1- यम - कायिक, वर्चिक तथा मानसिक संयमों को यम कहते हैं। यम पाँच हैं, जिनका पालन आवश्यक है - {1} अहिंसा, {2} सत्य {3} अस्तो {4} ब्रह्मचर्य {5} अपरिग्रह।

{6} नियम - शौच (ब्रह्म शरीर तथा आभ्यन्तर चित्त की शुद्धि) सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान ये पाँच प्रकार के नियम हैं। यद्यपि ये शब्द परिभाषिक हैं तथापित इनके अर्थ स्पष्ट हैं।

3- **आसन** - शरीर को सुख देने वाले तथा चित्त को स्थिर रखने वाले बैठने के जो तरीके हैं, उन्हे आसन कहते हैं। आसनों को पदासन, वीरासन, भद्रासन आदि विभिन्न प्रकार हैं। वैसे चौरासी आसन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

1- उमेश मिश्रा, भारतीय दर्शन, पृ0 - 344.

4- **प्रणायाम** - स्थिर होकर श्वास और प्रश्वास की गति को नियमतः रोकना प्रणायाम है। कुम्भक, रेचक और पूरक ये तीन प्रणायाम के प्रकार हैं।

5- **प्रत्याहार** - इन्द्रियों को विषयों से हटाना प्रत्याहार है।

6- **धारणा** - किसी स्थान पर चित्त को स्थिर करने को धारणा कहते हैं। योग शास्त्र में धारणा के लिए शरीर के अनेक स्थान बतलाए गये हैं, जैसे नाभिचक्र, नासिका, तथा जिह्वा के अग्रभाग, हृदय पुण्डरीक।

7- **ध्यान** - किसी भी ध्येय वस्तु का अवलम्बन करके धारण करते हुए जब चित्त की वृत्तियाँ एक धारा में प्रवाहित होने लगती हैं तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान की यह विशेषता है कि उसमें एक काल ही ज्ञान का प्रवाह होता है और वह अन्य प्रकार के ज्ञान से मिश्रित नहीं होता। ध्यान का लक्षण एकाग्रता है।

8- **समाधि** - जब ध्यान के निरन्तर अभ्यास से चित्त ध्येय वस्तु के ही आकार को ग्रहण कर लेता है, तथा अपने ध्यान-रूप का परित्याग कर देता है तब चित्त की यह अवस्था समाधि है। इस प्रकार अष्टांग योग का पालन कराने से व्युत्थान चित्त समाहित होकर निरोध के उपयुक्त होता है परिणामतः साधक को कैवल्य की प्राप्ति होती है।

प्रकृति के संयोग से विमुक्त होने के कारण पुरूष केवली भाव में प्रतिष्ठित होता है। अतएव पुरूष की इस अवस्था को योग दर्शन मे कैवल्य कहते हैं, जिस प्रकार जवाकुसुम और स्फटिक के सम्पर्क से जवाकुसुम को हटा लेने पर स्फटिक पुनः पहले के समान श्वेत हो जाता है, उसी प्रकार चित्त-वृत्तियों के हट जाने पर पुरूष अपने वास्तविक चित्त स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इस दशा को प्राप्त होने पर जीव संवर्ग के लिए दुःखों से मुक्त हो जाता है।

1- पतंजल योग दर्शन, अनुवादक सदानन्द योगी, पृ0 - 99, 55.

ईश्वर का स्वरूप में सांख्य और योग सिद्धान्तों का प्रमुख मतभेद उनकी ईश्वर-विषयक मान्यताओं में दिखलाई पड़ता है। सांख्य में ईश्वर जैसी एक विलक्षण सत्ता के स्वीकार करने में कोई भी हेतु उपलब्ध नहीं है। प्रकृति में गुण, क्षोभ एवं सर्ग-प्रवर्तन पुरूष के कल्याणार्थ उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण होता है, यह किसी अन्य नियामक सत्ता की प्रेरणा से नही होता। इसके अतिरिक्त जीवन को सिद्ध करने में भी ईश्वर की कोई उपयोगिता सांख्याचार्यों को नहीं मिली।

किन्तु योग दर्शन में चित्त परिशुद्धि एव समाधि के लिए ईश्वर प्राणिधान को भी एक साधन बतलाते हुए ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। ईश्वर सत्ता सम्बन्धी इस मतभेद के कारण विद्वानों ने सांख्य को निरीश्वर तथा योग को सेश्वर कहा है।

योग में ईश्वर का उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं है जितना न्याय दर्शन और वैशेशिक दर्शन में है। योग सूत्रों में ईश्वर के सृष्टकर्ता नियामक एवं संहारक आदि रूपों का कोई भी आभास नहीं मिलता, यद्यपि परवर्ती टीकाकारों में प्रकृति के गुण क्षोभ एवं कार्याभिव्यक्ति की नियम्यता के द्वारा ईश्वर की सिद्धि का प्रयत्न किया है।

योग सूत्र में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं -

" क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टो पुरूषविशेष ईश्वर"।

अर्थात् अविद्या अस्मितादि पंच क्लेशों से कर्म के पास पुण्यादि फलों से एवं कर्म के संस्कारों से अपरामृष्टा असम्बन्धित पुरूष-विशेष को ईश्वर कहते हैं। यद्यपि योग सूत्र में ईश्वर के प्रकृष्ट सत्त्व रूप के लिए शास्त्र को प्रमाण माना गया जिससे यह प्रमाणित होता है कि योग में ईश्वर की सत्ता आगम-प्रमाण पर आधारित है।

(1) संसार के जितने भी पदार्थ हैं, उनके परिमाण की एक ऐसी न्यूनतम एवं अधिकतम मात्र होती है, जिसका कोई भी अतिशय कल्पना से परे है।

1- दुर्गादत्त पाण्डेय, भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ0 - 55.

(2) जो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् निर्मित कारण ईश्वर है। ज्ञान एवं ज्ञान शक्तियो से सम्पन्न होने के कारण उसे ईश्वर कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है, कि ईश्वर सत्ता का अस्तित्व सिद्धि करने वाली युक्ति योग सूत्र की नही है।

ईश्वर प्रणिधान योग सूत्र में ईश्वर प्रणिधान को तप एवं स्वाध्याय के समान एक प्रकार का क्रिया योग माना गया जिसके अभ्यास से व्युथान चित्त सम्प्रज्ञान समाधि को प्राप्त कर सकता है। सभी कर्मों को ईश्वर के निमित्त अर्पण करके सदैव उनकी भावना में रत रहना प्राणिधाम है। इस प्रकार की विशेष भक्ति से तथा ईश्वर के प्रतीक रूप प्रवव-मंत्र उँकार का जल करते हुए उनके निरन्तर चिंतन से भक्ति चित्त की एकाग्रता प्राप्त करता है। यही नहीं ईश्वर प्राविधानों, चित्त के संशय, प्रमाद, आलस्य, भक्ति दर्शन आदि जितने विक्षोभ हैं, वे सब नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार योग दर्शन में भक्ति सम्प्रदाय की मान्यताओं की हल्की सी झलक दिखाई पड़ती है, जिसका विस्तृत रूप वैष्णव दर्शन में मिलता है।

योगीगण प्राय: कैवल्य प्राप्त करने के पूर्व ऐश्वर्य करते हैं और ऐश्वर्य लाभ अनेक वे अनेक प्रकार के चमत्कार कर सकते हैं, करते हैं, परकाप प्रवेश पर चित्तज्ञान, आकाश-गमन, अणिमादि आदि सिद्धियाँ स्वेच्छा-भ्रमण, निर्माण काष्ठा या निर्माण चित्त, रोगों को दूर करना मृतकों को जीवित करना, आदि अनेक विभूतियाँ हैं। किन्तु सच्चे योगी विभूति को विघ्न बाधा समझते हैं, क्योंकि कैवल्य लाभ विभूतियों के लाभ के अनन्तर होता है और यदि योगी विभूतियों से सन्तुष्ट हो गये तो वह कैवल्य की ओर बढ़ नहीं सकता है। किन्तु 'महमहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज' का कहना है कि विभूतियाँ हेय नहीं हैं, क्योंकि वे भगवान की दिव्य विभूति हैं और शुद्ध सत्व के कार्य हैं। 2 यद्यपि योग शास्त्र का लक्ष्य विभूति योग नहीं है तथापि उसके मार्ग पर चलने से विभूतियों की प्राप्ति योगी को अपने-आप न होती है। योग दर्शन का लक्ष्य तो कैवल्य है। जब तक कैवल्य लाभ नहीं होता तब तक विभूति योग सिद्ध होने पर भी जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है, जीव मुक्त नहीं होता है।

1- योग विज्ञान, संस्कृत परिषद वर्तिया, लेखक - अज्ञात पृ0 - 45.

योग शाखा उपनिषद में कहा गया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं। वह है महायोग का पूर्ण योग है। अवस्था भेद के अनुसार महायोग ही मत्रयोग, हठ योग, लय योग, राज योग हो जाता है। पतंजलि का योग सभी योगों का व्याकरण है। आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द ने उसे राज योग कहा है क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ योग है। परन्तु वह राज योग नहीं है।

(क) **मल योग** - मल के सहारे जीवात्मा और परमात्मा का मिलन मल योग है। मल योग का लक्ष्य दीर्घकाल तक मंत्रो का जप करना तथा अणिग आदि सिद्धियों से युक्त ज्ञान को प्राप्त करना है। मंत्र योग के अनुसार जीव के देह में प्राण शक्ति निःश्वास और प्रश्वास के रूप में कार्य करती है। गुरू कृपा से योग लाभ करने पर यह मल सोडहम् हो जाता है।

(ख) **हठ योग** - हठ योग का अर्थ है, देह स्थित सूर्य (ह) और चन्द्र (ठ) का ऐक्य साधन। इस साधन से देह के सभी दोष तथा जड़ता दूर होते हैं, देह शुद्धि इसका लय है। इसके बीस अंक हैं। प्रथम आठ अंग वे ही हैं जिनका वर्णन पातंजल योग के प्रसंग में हुआ है उनके अतिरिक्त बारह अंग है महमुद्रा, महाबन्ध, महाबोध, खेचरी जालन्धर उड्डीपन मलबन्ध, नादानुसन्धान, सिद्धान्त-श्रयस, वज्रोजी अमरौली और सहजोली।

(ग) **लय योग** - लय योग चित्त का निरोध है। वह अनेक उपायों से सिद्ध होता है। जिस किसी उपाय से चित्त का निरोध हो और तत्पश्चात् परमात्मा का ध्यान हो वह सब लय योग के अन्तर्गत आता है। मनुष्य के देह में तीन मनुष्य नाड़ियां हैं - ईड़ा पिंगला, और सुषुम्ना, ईड़ा और पिंगल मे प्राण-प्रवाह से जीव वर्हिमुखी होता है। वही प्राण सब सुषुम्ना नाड़ी से प्रवाहित हाने लगा है तब जीव अन्तर्मुखी होता है, और वह लय योग का आरम्भ करने लगता है। ष0मुखी मुद्रा के अभ्यास से लय-योग की साधना की जाती है।

1- एतेन योगः प्रत्युक्तः ब्रह्म सूत्र 1/1/2.

(घ) राजयोग - उपर्युक्त सभी योग लक्ष्य राजयोग है। राजयोग वेदान्त का साधन-मार्ग है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार इस योग के चार सोपान हैं। इससे कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

योग दर्शन की तत्व मीमांसा मुख्यतः वही है, जो सांख्य दर्शन की है इसलिए सांख्य की तत्वमीमांसा की आलोचना योग दर्शन भी लागू होता है। शंकराचार्य ने इसी कारण कहा है कि सांख्य की आलोचना से योग दर्शन की भी आलोचना हो गयी।

किन्तु योग दर्शन का मूल्य उसका साधन-पक्ष, सिद्धि-पक्ष है, वह अध्यात्म शास्त्र का व्याकरण जैसे तर्क शास्त्र तत्वमीमांसा या अन्य शास्त्रों का व्याकरण वह कोरा तत्वज्ञा नहीं है। वह मनुष्यों के दुःखों और अज्ञानों को दूर करने वाला शास्त्र है। अरबी में दर्शन शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र दों को हिकमत कहते हैं और दोनों के ज्ञाता को हकीम कहा जाता है। भारत में योग-दर्शन पूरा करता है मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। अतः वह विश्व भर में एक अद्वितीय दर्शन है।

बिना योग के कोई आध्यात्मिक साधना नही हो सकती यही योग की सर्वमान्यता या महत्ता है।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रिय· ।
बिनादेवोऽपि योगेन न मोक्षं लभते प्रिये ।

अर्थात् यदि देवता भी ज्ञाननिष्ठ विरक्त, धर्मज्ञ और इन्द्रिय जीव हो तो योग के बना उन्हें मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग आवश्यक है। आधुनिक युग में मनोविज्ञान या विशेषतः मनोविश्लेषण और योग दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन किये जा रहे हैं। इन अध्ययनों से सिद्ध है कि मनो-विश्लेषण जिन उपायों से व्यक्तत्व को समृद्ध व्यवस्थित तथा पूर्ण करने का सुझाव देता है, उनमें अधिकांश उपाय योग दर्शन में वर्णित है। दर्शन में सभी क्लेशों को दूर करने का विधान है, और मुनष्य के व्यक्तित्व को यथासंभव पूर्ण करने, उपाय तथा प्रयोग भी है। इससे स्पष्ट है कि योग व दर्शन का सम्बन्ध महत्व शाश्वत है।

1- अणिमा लघिमा महिमा प्राप्ति प्रकाम्य वशित्व ईशित्व का कामावसायित्व गोपीनाथ कविराज भारतीय संस्कृति और साधना खण्ड 2, पृ0 - 254.

संगीत तथा दर्शन का संबन्ध

प्राचीन काल से ही भारतीय दार्शनिक तथा चिन्तन आत्मा अथवा सत्य से सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के उपरान्त अभिव्यक्ति रूप में आनन्दवाद (रसवाद) के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते आये हैं। इसी के सौन्दर्य का भावात्मक रूप आनन्द चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। अत यह सौन्दर्य विषयक अप्रत्यक्ष संकेत है, जिसके आधार पर उपनिषद योग-दर्शन, न्याय-दर्शन वेदान्त तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। डा0 नगेन्द्र के मतानुसार योगदर्शन में संस्कार के स्वरूप का निर्णय करने में रस-सिद्धान्त के स्थायी भावों के विवेचन से संबंधित महत्वपूर्ण संकते मिलते हैं, योग-दर्शन में वृत्तियों और संस्कारों के निरन्तर चक्र की कल्पना की गई है। चित्त में नाना वृत्तियों का उदय तथा क्षय होता रहता है। वृत्तियों का रूप स्थूल होता है और संस्कार का सूक्ष्म। प्रतिभाक्षीण होकर संस्कार बन जाती है, और अवचेतन मानस में बस जाती है। इसी प्रकार मानव चेतना में प्रेम, भय, क्रोध, शौकदि समस्त चित्त-वृत्तियाँ संस्कार रूप में विद्यमान रहती है। रस-सिद्धान्त में विभाग व स्थायी भाव के सम्बन्ध की कल्पना का मूल आधार यही है, और भाव-सौन्दर्य अथवा भाव के आस्वादन रूप सौन्दर्य की कल्पना इसी का प्रतिफलन है।

डॉ0 नागेन्द्र ने योगदर्शन स्वरूप प्रज्ञा को एकाग्रचित साधना माना है।

न्याय दर्शन ने वर्णित ज्ञान और प्रभा भेदों में स्मृति तथा सृजनात्मक कल्पना की अनुभूतियां मानी। न्याय मे प्रभा के चार भेद माने गये हैं - प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द जो कि सादृश्यमूलक ज्ञान, मूर्ति, चित्रकला आदि व श्रवणेन्द्रिय ज्ञान-संगीतादि में लागू किये गये। सांख्य दर्शन में पंचतन्मात्राओं के अन्तर्गत रूप का विवेचन है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय में प्रत्येक का अपना-अपना महत्व माना गया है। और सौन्दर्य शास्त्र तथा कलाओं में अपनी-अपनी विधियों एवं विशेष क्षेत्रों के अनुसार अपनाया गया है। दर्शन में ज्ञान की पराकाष्ठा अर्थात वेदान्त में यद्यपि विश्व सौन्दर्य को मिथ्या प्रपंच माना गया है, तथापि यह सत्य है कि इनका भारतीय सौन्दर्य शास्त्र

के ग्रन्थों पर गहरा प्रभाव पड़ा है।[13]

कलानुभूति मूल रहस्य वेदान्त के सूत्रों से भी प्राप्त हुआ है। विम्बविधान कला का स्राष्टा (कलाकार) और भोक्ता (श्रोतावृन्द) आदि का रहस्य निहित है। जिनका प्रयोग भारतीय कलाओं में किया गया है। इस प्रकार प्राचीन साख्य दर्शन के अनुसार आज की दुनिया मे कोई भी स्त्री या पुरूष सामान्य रूप से किसी भी प्रकार से विरक्त या निष्काम की अवस्था को प्राप्त नही कर सकता। उसकी दुनिया में तो सुख-दुख तन-संघर्ष, सुन्दर, विकृति रूप अनुभव करने का चक्र चलता रहता है। लेकिन जो व्यक्ति प्रकृति या चेतना ओर पुरूष यानी ब्रह्मा के बीच के भेद को पूर्णत जान लेता है। ओर उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह उस दशा मे पहुँच जाता है जहाँ दु.ख-सुख, प्रेम, घृणा, सुन्दर, असुन्दर का भेदभाव समाप्त हो जाता है जिसे भगवद्गीता में पूर्ण अस्तित्व कहा गया है।

सांख्य दर्शन का निष्कर्ष है कि कष्ट के बिना इस जगत में पूर्ण शांति का अस्तित्व समझा नहीं जा सकता। क्योंकि जब दुख का आभास ही नहीं तो सुख का अनुभव कैसे किया जाए।

इसी सन्दर्भ में डा0 बीरबाला भावसार का यह कथन द्रष्टव्य है - कपिल मुनि का सांख्य दर्शन ललित कलाओं के अध्ययन का आधार माना जाता है। उसमें भौतिक और अभौतिक दोनो तत्वों का समावेश है। जिस प्रकार सृजन का मूल कारण अणु आकर्षण एवं संवेदना है, उसी प्रकार कोई भी पदार्थ या कृति माध्यम के रूप में प्रयुक्त किये जाने पर कृति को सजीवता प्रदान करते हैं, और कलाकार की क्रियात्मक कुशलता, कलाकृति को श्रेष्ठता की ओर ले जाते हैं जो दैविय हैं। प्राचीन काल से ही भारतीय कलाओं में इस दैवीय तत्व की खोज होती रही है, जिसे भाव, रस व आत्मानुभूति आदि नामों से संबोधित किया जाता है। अनेक श्रेष्ठ और आध्यात्मिक कलाकारों ने इनका अनुभव तथा साक्षात् दर्शन भी किया है।

यहाँ के लिए एक ही मार्ग बच जाता है जो उसे कला की स्तुति की तरफ ले जाता है। कला ही सुख और दुःख अच्छे और बुरे कष्ट और शान्ति से परे

एक अपनी ही दुनिया में ले जाती है। श्री नीहार रंजन राय के अनुसार कला चूंकि प्रकृति, जगत तथा विचारों को मूर्त रूप देती है, इसीलिए वह मानस ये एक ऐसे भाव को जन्म देती है, जिसे निर्वैयक्तिक कहा जा सकता है। यह भाव तब उत्पन्न होता है, जब कलाकृति अपनी उत्कृष्टता की ओर बढ़े और उसमें प्रस्तुत विचार स्थितियां विभावनाएं वास्तविक जीवन के यर्थाथ और अयथार्थ से कोई सम्बन्ध न रखो वह मानव की निष्काम भावनाओं को उभारे और उसे सुख-दुख की अनुभूति न हो। इसी आध्यात्मिक अवस्था को मानव अपने कला में प्रकृति की श्रेष्ठतम् उपलब्धियों के समान व्यक्त करता है।

दर्शन के विभिन्न अंगो में संगीत तत्व -

भारतीय दार्शनिक प्रायः अध्यात्मवादी है। भा0 दर्शन में न्याय वैशेषिक भीमांसा, योग, सांख्य तथा वेदान्त - ये छह प्रमुख दर्शन माने गये हैं। न्याय और वैशेषिक कार्य कारण प्रधान है। मीमांसा में कर्म-काण्ड, योग सांख्य तथा वेदान्त में ज्ञान-तत्व का निरूपण किया गया है। प0 जगदीश नारायण पाठक ने इनका संगीत से सम्बन्ध अत्यधिक सुन्दर शब्दों में व्यक्त किये हैं।

न्याय व वैशेषिक दर्शन तथा संगीत - संगीत शास्त्र का सम्बन्ध सभी भारतीय दर्शनों से माना जाता है। संगीत में षड् दर्शन का समन्वय होता है। न्याय और वैशेषिक कार्य-कारण के कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। संगीत में भी कार्य-कारण सिद्धान्तों का अनुभव किया जा सकता है। संगीत का आधार नाद, नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थार, थार से राग और राग से सम्पूर्ण संगीत की सृष्टि होती है। ऐसी दशा में श्रुति स्वर सप्तक, थार-राग और संगीत रूपी कार्यों के कारण क्रमशः नाद श्रुति स्वर सप्तक थार और राग उत्पन्न होते हैं।

भीमांसा दर्शन और संगीत -

भीमांसा में वेद - विहित कर्मों से धर्म का निरूपण किया गया है, भीमांसा का प्रथम सूत्र है। अथातो धर्म जिज्ञासा। संगीत के माध्यम से हम ईश्वर के गुणों का गान करके धर्म को उपार्जित करते हैं। साम-गान से लेकर सूर, तुलसी, कबीर,

मीरा आदि के भक्तिमय पदों को गाते-गाते संगीत साधक ईश्वर के परम भक्त हो जाते हैं। अर्थात् जो लाभ मीमांसा से प्राप्त होता है जोकि कर्म अर्थात् मानव की कर्म विधा का मापदण्ड है, वही लाभ संगीत से भी प्राप्त होता है।

योग दर्शन तथा संगीत -

दर्शन एवं संगीत में योग दर्शन द्वारा भी सामंजस्य स्थापित किया गया है, ताकि मनोविकारों एवं त्रुटियों को दूर करके तल्लीनता प्राप्त की जा सके। जिस प्रकार योग साधना से हमारा चित्त एवं मन शुद्ध होता है - योगष्चितवृत्ति निरोध- अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। इसी प्रकार संगीत-साधना भी एक प्रकार का योग साधना है। संगीत साधना करते-करते जब साधक उसके भाजुर्य में तल्लीन हो जाता है, तब वह वाह्य जगत को भूल जाता है। वह अपने अन्तःकरण में अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है।[17]

योग की तरह संगीत प्रदर्शन में भी आने वाली बाधाओं को सतत् अभ्यास स्वर साधना एवं गुरू तथा अराध्य देव की उपासना करके दूर किया जा सकता है। जिस प्रकार साधक के चित्त की वृत्तियों का निरोध करने में योग साधना सहायक होती है, उसी प्रकार संगीत साधना भी चित्त वृत्तियों का विरोध करती है।

सांख्य दर्शन तथा संगीत -

सत्कार्यवाद विधि पर आधारित इस दार्शनिक सिद्धान्त का अर्थ है कि कारण में कार्य आरम्भ से ही विद्यमान रहता है, जैसे तिल में तेल विद्यमान होता है। अर्थात् किसी वस्तु का होना अथवा न होना पूर्व निश्चित ही है।

इसी को सत्यकार्यवाद माना गया है। इसके अनुसार वही प्रकट होता है, जो पहले से ही विद्यमान होता है। जैसे- वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष/संगीत में भी सत्कार्यवाद का सिद्धान्त लागू होता है। जैसे- नाद के बिना स्वर सम्भव नहीं है। नाद का सदैव वायुमण्डल में ध्वनित होते रहने का सिद्धान्त इसी तथ्य

1- डा0 सुनीता शर्मा, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 - 179.

का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार यदि किसी गायक, वादक, अथवा नर्तक के अन्त:करण मे गायन, वादन अथवा नर्तक के जन्मजात संस्कार पहले से ही विद्यमान नहीं है तो योग्य से योग्य गुरू से भी शिक्षा ग्रहण करने पर उसे संगीत का ज्ञान नहीं हो सकता।

संगीत में सांख्य दर्शन के उपरोक्त सत्कार्यवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्वामी प्रज्ञानन्द जी ने लिखा है -

The upholders of the Senkhya and Vedanta believe in the Satkaryada Wihia means effect manufested from the cavse that exists eternally. They maintain that everything cames out from that which already existed in a subtle from & involution emplies the nation of going back to the casual stage : Nasah karnalayah from this it is evident that revalution means the manifestation of something in a gradual Proness. The evolution is not therefore an entirely new thing but the emergence of new form out of the ashes of old one with some necessary changes like additions and alterations adjustment sand re-adjustments.

Quated from - A Historical Study of indianmu, P.23

वेदान्त दर्शन तथा संगीत -

वेदान्त दर्शन ज्ञान तत्व पर आधारित भारतीय दर्शन की अमूल्य परम्परा है, जिसका सारांश है कि अच्छी संगीत से मानव बहुत कुछ ग्रहण करता है। वेदान्त के अनुसार श्रवण मनन तथा निदिध्यासन से साधक का अन्त:करण पवित्र होता है।

1- दर्शन शास्त्र की नवीन रूपरेखा, डा0 एस0एन0 गुप्ता, पृ0 - 41, 51.

अन्तःकरण की पवित्रता से अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। ज्ञान का उदय होने से पुरूष सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार भारतीय दर्शन के इस सिद्धान्त के अनुसार निर्दिष्ट सिद्धान्तों का संगीत कला के क्षेत्र में भी सामंजस्य और समन्वय स्थापित किया गया है जोकि वस्तुतः परम्परागत एवं विशुद्ध भारतीय संस्कारों और संस्कृति पर आधारित है।

कला दर्शन -

भा0 संगीत में निहित दार्शनिक तत्वों का अवलोकन कर लेने के बाद हमें कला-दर्शन पर संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए साधारण व्यवहार में हम कला को मनोविनोद अथवा मनोरंजन का साधन मानते हैं, परन्तु जहां तक कला के दार्शनिक अस्तित्व का प्रश्न है तो यही कहा जा सकता है कि कला के माध्यम से मानव-हृदय के उद्गार नवीन चेतनाएं, नए आयाम एवं स्फूर्ति का उदय होता है। कला की अपनी दृष्टि है, अपना एक स्वरूप है, जनसाधारण के लिए कला का अस्तित्व साधारण आकृति ही होगा, क्योंकि शास्त्रीय कलाएं केवल चंद चुनिंदा व्यक्तियों के लिए होता है। दार्शनिक कलाकारों ने कला का प्रयोग भौतिक व्यवसाय के रूप में न करके उसके संतुलित और लयात्मक रूप से सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् का साक्षात्कार किया है। इसी में वे मानव मन की मंगल कामना शिव की साधना और अन्ततः मुक्ति स्वरूप मोक्ष अथवा आनन्द का अनुभव करते हैं। यही कला का दर्शन है, और इसी को कला का अध्यात्म कह सकते हैं।

कला एक ऐसी सुन्दर अभिव्यक्ति है जिससे मन द्रवित हो उठता है - समन्तात द्रवित। जब मन भावों से भर उठता है तो वह एक अद्भुत सौन्दर्य का दर्शन करता है।

भारतीय दर्शन के इतिहास तथा दर्शन - सम्बन्धी शास्त्रों में किसी भी आस्तिक या नास्तिक सम्प्रदाय ने कला एवं उसके सौन्दर्य पर सीधा प्रश्न नहीं उठाया। इन अलग-अलग भारतीय दर्शनों एवं धर्मों ने मोक्ष, निर्वाण कैतत्व को तप या साधना द्वारा

1- वैदिक संस्कृति और दर्शन, डा0 विश्वम्भर दयाल, पृ0 - 176.

अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग, माना है। डॉ0 श्यामला गुप्ता के मतानुसार- दर्शन में ज्ञान के दो प्रकार का मानते हैं, एक है विश्व-सम्बन्धी ज्ञान अर्थात तत्व भिमांसा जिसमें जीव जगत, आत्मा पुरूष - ब्रह्म आदि तत्वों के विषय में जानकारी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, और दूसरा है - प्रमाण शास्त्र जो कि ज्ञान के विविध स्रोत-प्रमाण वैधता आदि पहलुओं पर विचार करती है। कर्म के विषय में मुख्य रूप से भारतीय सम्प्रदाय निष्काम कर्म या अनासक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए उचित मार्ग, मानते हैं। अर्थात भारतीय दर्शन का प्रतिपक्ष विष्व सृष्टि एवं सृष्टि कर्ता, है। जहाँ तक दर्शन एवं कला का सम्बन्ध है न केलव भारतीय बल्कि समस्त विश्व के दार्शनिक प्रकृति में निहित स्वाभाविक सौन्दर्य, रंगबिरंगे पुष्प, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, ध्वनियां, सूर्य, चांद,, जल तथा ग्रहादि से प्रभावित हुए है। अतः उन्होंने जड़-जगत अर्थात् प्रकृति में दिखाई देने वाले स्वाभाविक रूप एवं सौन्दर्य को समझने समझाने की विशेष कोशिश की। यही कोशिश कला का रूप धारण कर विभिन्न प्रकार की भावाभिव्यक्ति करती है। अर्थात् प्रकृति के प्रति सम्मोहन ही कला का उद्गम स्थल माना गया। प्रकृति से प्रभावित होकर प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण करके एवं प्रकृति को अपना आदर्श, मानकर ही मानव कलाकार की श्रेणी में आता है। अतः वह विभिन्न कलाओं की अभिव्यक्ति अपनी रूचि तथा क्षमता के अनुसार करता है। जिस प्रकार झरनो की कलकल ध्वनि, बादलों की गड़गड़ाहट, गर्जन, पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण करते हुए अथवा बांस के जंगलो से आ रही ध्वनियों से प्रभावित होकर मानव को अनुकरण करने की चेष्टा की उसी को बाद में सभ्य मसाज ने 'संगीत' के नाम से संबोधित किया।

दर्शन एवं संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध दर्शन एवं संगीत में प्रत्यक्षतः तो कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु परोक्षतः इनका एक दूसरे से सम्बन्ध होना नितान्त अद्भुत दर्शन को गूढ़ गम्भीर चिन्तन प्रधान एवं नीरस विषय माना जाता है, जबकि संगीत का मूल गुण रंजकता एवं माधुर्य है। दर्शन का सीधा सम्बन्ध मानव मस्तिष्क से है जबकि संगीत मानव हृदय में व्याप्त है। परन्तु यदि पाश्चात्य दार्शनिक ग्रन्थों से भारतीय दर्शन - साहित्य की तुलना की जाए तो निःसन्देह यह कहा जा सकता

है कि भारतीय दर्शन साहित्य संगीत मय है। किसी भी राष्ट्र का दर्शन अपने संगीत एवं साहित्य के प्रति दृष्टिकोण का निर्धारण करने में अत्यन्त प्रभावी सिद्ध होता है। भारतीय दर्शन मूलत आध्यात्मिक होने के कारण विभिन्न कलाओं तथा साहित्य पर उसका प्रभावित रहे है। उदाहरणार्थ, वेद मूलत. दर्शन ग्रन्थ है। परन्तु उनके मन्त्र गये होने के कारण संगीत माप है। स्वरों की वैदिक एवं आधुनिक संज्ञाए यथा-कृष्ट, प्रथम, द्वितीय, षड्ज तथा ऋषभ आदि वेदों की उपशाखाओं-उपनिषदों साहित्यों, शिक्षा ग्रन्थों में प्राप्त होती है। भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण आरम्भ से ही आध्यात्मिक रहा है। विभिन्न धर्मो के साथ-साथ संगीत भी पुष्पित-पल्लवित रहा है। अतः संगीत में दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

हमारे संगीत के इतिहास में यह स्पष्ट उल्लेख है कि अध्यात्म दर्शन में प्रमुख आधरों में एक प्रकार का सामंजस्यतः संगीत केवल मनोविनोद का ही साधन न होकर परम-मंडाल का भी विधायक है। नादद तुम्बरू, निम्बार्काचार्य आदि दार्शनिकों तथा त्यागराज हरिदास, चैतन्य महाप्रभु आदि भक्त गायकों ने और सूर, तुलसी, मीरा, नन्द्रदास, विट्ठलदास आदि पद - रचयिताओं ने संगीत तथा अध्यात्म के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रगाढ़ किया, वस्तुत. भारतीय मनीषा में सत्यान्वेषण की अवधारणा में सौन्दर्य का समन्वय होने के कारण संगीत का दर्शन से और भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है इसलिए वेद-वाङमय उपनिषद महाकाव्य एवं विभिन्न संगीतज्ञ दार्शनिकों की रचनाएं पद्यमय हैं। उनमे धर्म तथा दर्शन के साथ-साथ संगीत सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों का प्रचुर विवरण प्राप्त होता है।

आचार्य उत्तरराम शुक्ल के मतानुसार 'समस्त यौगिक चमत्कारों का प्रदुर्भाव आत्म-ज्ञान के बिना कदापि नहीं हो सकता। प्राचीन आचार्यों ने आत्मा के रसात्मक स्वरूप को ही प्रतिपादित किया है। अत. आत्मा के समय स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर रस नपी स्वर साधना के साथ-साथ पंचतत्वों से बने हुए देह के पांचो तत्वों पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाने के बाद ही चमत्कार पूर्व उपलब्धियों को प्राप्त किया जा सका है। विविध दर्शन शास्त्रों के द्वारा मानव जीवन का चरम ध्येय आत्म शक्ति एवं परमल शक्ति का आभास हो जाना ही माना गया है। अतः समग्र

संसार की उत्पत्ति परम आत्म (परमात्म) शक्ति द्वारा हुई है, जो नाद बिन्दु एवं कलाओं से भी परे मानी गयी है। आत्मशक्ति उसी परमात्म शक्ति का प्रतिबिम्ता है। अत उसे रसात्मक स्वरूप के प्रकार ही स्वर-शक्ति के अन्तर्गत से अथाह भण्डार को प्राप्त किया जा सकता है। आत्म शक्ति को रसात्मक स्वरूप में पा लेने के साथ-साथ देह के पांचो तत्वों पर किन-किन केन्द्रों का प्रभुत्व प्राप्त कर सकते हैं। उन पर योग सिद्ध पुरूषों द्वारा प्रत्यक्ष किए हुए केन्द्रों का विवरण दिया जाता है।

वे आगे लिखते हैं कि देह के अन्तगत सूक्ष्म शरीर म नव विध चक्रों की सिद्धि यौगिक प्रकारों पर अवलम्बित होती है। चाहे भक्ति योग, लय योग, राज योग अथवा गुरू प्रदत्त योग का कोई सा भी प्रकार हो - किसी एक तत्व पर विजय प्राप्त कर लेना साधक की साधना मानी जाती है।[21]

तात्पर्य यह है कि संगीत काव्य एवं अन्य सभी कलाएं सौन्दर्य कल्पनाएं करते हुए जीवन दर्शन में अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के स्तर पर कल्याणकारी हैं। जिनमे अनन्तता के व्यापक मान को दर्शाते हुए अन्त में चरम सीमा की स्थिति म अध्यात्मिक आत्मवाद को ही अनुभव करती है, इसीलिए कला के आत्म तत्व और रूप का समाकलन भी भारतीय सौन्दर्य दर्शन में उसी प्रकार सिद्ध है जिस प्रकार सौन्दर्य तथा अन्य जीवन मूल्यों का।[22] अतः सौन्दर्य परक आनन्द हमारे जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ये मूल्य-जीवन को समृद्ध बनाते हैं, इस भौतिकवादी युग में आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए दौड़-धूप व व्यापार राजीनीते अथवा व्यक्तिगत व्यावसायिक कार्यों से त्रस्त जीवन के लिए संगीत, नाटक, नृत्य और काव्य आदि प्रेरणा के स्रोत हैं। ये त्रस्त मानव को शरण तथा शक्ति प्रदान करते हैं। शायद इसीलिए भारतीय कलाओं की चरमोत्कृष्ट अवस्था अध्यात्मिक पराकाष्ठा की ओर उन्मुख है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक सुन्दर कलाकृति अथवा रचना का एक अन्तिम लक्ष्य नियत होता है। भारत के प्रमुख दर्शन शास्त्रों में ब्रह्मा, ईश्वर, जीव, जगत, माया तथा मोक्ष के साथ-साथ मानव कल्याण हेतु विभिन्न आनन्दवादी एवं कल्याणकारी कलात्मक मूल्यों की भी अवधारणा होती है।[23] इन्हीं मूल्यों में

संगीत कला का स्थान सर्वोपरि है। अनेक पाश्चात्य दार्शनिक भौतिक वादी है, परन्तु भारतीय दार्शनिक प्रायः अध्यात्मवादी होते हैं। भारतीय दर्शन-शास्त्र का मुख्य विषय चेतन तथा अचेत जगत का निरूपण करना है। भारतीय दर्शनों के इतिहास में न्याय वैशेषिक मीमांसा, योग सांख्य वेदान्त ये छः मुख्य दर्शन है।[24]

डा0 रामकीर्ति शुक्ल के मतानुसार "हमारे संगीत में, जो कि ध्वनि-संसार है प्रकृति के विशुद्धतम रूप-रंग को समझने, अनुभव करने एवं व्यक्त करने की व्यापक क्षमता है। जोकि प्रकृति एवं प्राकृतिक वस्तुओं से ही प्रेरित होकर प्रतीक रूप में इसे स्वीकार करता है। प्रकृति में अनेक ध्वनि अनुक्रम होते हैं जिनमें संगीतात्मकता नहीं होती यद्यपि श्रवणेन्द्रियों तक वे ऐसे ही पहुँचते हैं, जैसे कि संगीत की लहर। फिर हम इन इन्द्रिय बोधों के अनुक्रम में संबन्धित होते हैं। अर्थात तरंगो के एक विशाल समूह से, लेकिन इससे भी हम प्रकृति की संगीतात्मकता का कोई प्रतिमान नहीं निकाल सकते। जब पेड़ों के बीच से सरसराती हुई वायु को सुनते हैं, तब हमें किसी प्रकार का अनुभव होता है, जैसे यदि वर्णो की बौछार में फंस जाएं। जब हम कोई वाद्य यंत्र बना लेते हैं, जो रंग मंजूषा का समकक्षी होता है, तभी संगीतात्मक सम्बन्धों को जान सकते हैं, और इन सम्बन्धों से क्षुधाओं के उस अनुक्रम को रच सकते हैं, जिससे हम सौन्दर्य का प्रतिमान निकाल सकते हैं।[25]

अभिप्राय यह है कि प्रकृति के विशुद्ध सौन्दर्य से प्रभावित होकर ही मानव संगीत वाद्य यन्त्रों का निर्माण करता है और उनका अनुकरण करते हुए अभ्यास करते हुए विभिन्न गायकियों की परम्पराओं को स्थापित करता है। इसी से प्रकृति एवं संगीत का तात्विक सम्बन्ध स्थापित होता है और यही कला दर्शन है।

1- दर्शन शास्त्र की नीवन रूपरेखा, डॉ0 एस0एन0 गुप्ता, पृष्ठ 415।

2- वैदिक संस्कृति और दर्शन, डॉ0 विश्वम्भर दयाल, पृष्ठ 176।

3- आचार्य उत्तर राम शुक्ल, भा0 संगीत, पृष्ठ 205

1- आचार्य राम शुक्ल, भारतीय संगीत, पृ0 - 29.

संगीत तथा भारतीय दर्शन का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, इसकी विवेचना से भारतीय धार्मिक-साहित्य ही नहीं वरन् अधिकांश दार्शनिक साहित्य श्री संगीतमय तथा कवित्वपूर्ण है। संगीत भारतीय दर्शन का अलंकार तथा काव्य उसकी आत्मा है। अधिकांश दार्शनिक-साहित्य पद्यमय है, जिसमें काव्य का सौन्दर्य व संगीत का स्वर है। डा0 विजय लक्ष्मी जैन ने अपनी पुस्तक संगीत दर्शन में माना है कि भारतीय दर्शन मूल रूप अध्यात्मिक है, अतः नृत्य संगीत, साहित्य में अध्यात्मिकता की छाप देखी जा सकती है। भौतिकवादी पाश्चात्य संस्कृति के मूल में वहाँ का भौतिकवादी दार्शनिक वृत्ति दिखाई देती है। भारतीय विचारधारा के अनुसार सत्य कोई नीरस व निष्प्राय तत्व नहीं है। सत्य केवल हमारी जिज्ञासा का समाधान ही नहीं है, वरन् वह हमारी भावना का परितोष है, वह सरस है सुन्दर है। भारतीय दृष्टा जानते थे कि बुद्धि सत्य का साक्षात्कार नहीं करा सकती, केवल उसके खण्डों का ज्ञान कराने में ही वह समर्थ है, इसलिए उन्होंने बुद्धि को अनुभूति से गोण स्थान दिया। ज्ञान मार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग को श्रेष्ठ बताया। ब्रह्मा के 'सत् चित् आनन्द' अंशों में से आनन्दांश ही भक्तों, ज्ञानियों तथा योगियों का अन्तिम लक्ष्य रहा और आनन्द का सम्बन्ध संगीत से, भक्ति से है, अतः दर्शन का सम्बन्ध संगीत से हमेशा रहा। संगीत तथा दर्शन का सम्बन्ध एकतरफा नहीं है, वरन् जहाँ दर्शन संगीत से सम्बन्धित है, वहीं संगीत भी दर्शन से प्रभावित है। अतः इनके सम्बन्ध को हम दोनों रूपों में देखेंगे।

भारतीय दर्शन में संगीत का स्थान -

भारतीय दर्शन का आरम्भ आज से हजारों वर्षों पूर्व आर्यवर्त के निवासियों के जीवन व चिंतन में हुआ था। ये लोग कल्पनाशील मन के उल्लास से पूर्ण प्राचीन भारतीय प्रकृति की प्रशस्ति के गीत गाते थे, वेद हमारे विचार व विश्वास के मूल आधार हैं। वेद मूलभूत रूप से दर्शन ग्रन्थ है, परन्तु इसके मंत्र गेय होने के कारण संगीत मय है-

(1) वेदों के मंत्र गेय हैं, चाहे वे एक, दो अथवा तीन स्वर में गाये जाते थे।

(2) विश्व को संचालित करने वाली शक्ति की आराधना वैदिक संगीत का वैशिष्टय है, सामवेद मुख्य रूप से संगीतमय है। साम गायकों को संगीत में निपुण होना आवश्यक था।

(3) ऋग्वेद की ऋचाओं अथवा सामवेद की ऋचाओं पर हमेशा "गान" किया जाता था न कि 'पाठ' का सम्बन्ध संगीत से है।

(4) वेदों में संगीत सम्बन्धी सामग्री-स्वरों का विकास क्रम एक, दो, तीन स्वरों में क्रमश. आर्चिक, गाथिक, सामिक, आदि उपलब्ध है। उदात् अनुदात स्वरित से सातों स्वरों की उत्पत्ति वेदों में वर्णित है।

(5) गति तथा उसकी धुन के लिए 'साम' संज्ञा थी। स्वर रचना की दृष्टि से जन संगीत में गायी जाने वाली धुनों को वैदिक ऋचाओं में प्रयोग किया गया। साम के स्वरमय ग्रन्थ को "गान संहिता" या गान ग्रन्थ की संज्ञा दी गई थी।

उपनिषद भारतीय दर्शन के आधार है, परन्तु संगीत सम्बन्धी जानकारी मिलती है। जाबालोपनिषद में स्वरों के षड़ज, कृषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, जैवत व निषाद नाम मिलते हैं उपनिषद में संगीत क्या है, योग संगीत क्या महत्व है, संगीत से मुक्ति सम्भव है या नहीं आदि विचार हुआ है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में कहा गया है कि आत्मलाभ-परम् विद्यते। आत्मा का निर्माण पंचकोषों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय) कोष से हुआ। परमतत्व का साक्षात्कार इस आनन्दमय कोष द्वारा ही होता है। इस सार्वभौम तत्व को पाकर जीव रसप्लाविन होता है संगीत इसी आत्मनंद का माध्यम है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में नाट्य, शब्द, स्वर, उनके उपयोग व परिणाम अच्छी तरह बताए गये हैं, आकार या प्रणव उपासना विशुद्ध नादोपासना है। गीता एक धर्म ग्रन्थ के साथ-साथ दर्शन भी है। गीता की रचना (पद्यमय) श्लोक होने के कारण गेय है। गीता के उपदेश कर्ता श्रीकृष्ण स्वयं संगीत की साक्षात् मूर्ति है। गीता में कृष्ण ने भक्ति मार्ग को ज्ञान योग व कर्म योग से श्रेष्ठ व सरल बताया है और पर सर्वविदित है कि नवद्या भक्ति में संकीर्तन को प्रथम व श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है और संकीर्तन संगीत है।

भा0 दर्शन अध्यात्म प्रधान है तथा मोक्ष को आत्मानुभूति, आत्मबोध और आत्म साक्षात्कार आदि नामों से अभिहित किया है मनुष्य की आत्मा परमात्मा का ही अंश है। भारतीय अध्यात्म अथवा दर्शन में संगीत को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। तपस्या, कर्म, ज्ञान, योग साधना से सरल व श्रेष्ठ मार्ग भक्ति को माना है। नाद की शक्ति को आत्मशक्ति माना है। योग मार्ग में नादानुसंधान तथा लय योग की विशिष्ट साधना को महत्व दिया है। स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म का साक्षात्कार भारतीय दर्शन की विशेषता है। अतः भारतीय दर्शन में संगीत का अपना एक स्थान है। यह सम्बन्ध आज भी मान्य है।

भारतीय संगीत में दर्शन का स्वरूप

चूँकि भारतीय दृष्टिकोण आध्यत्मिक है, अतः संगीत का सम्बन्ध अध्यात्म व दर्शन से रहा। संगीत में दर्शन की छाप व महत्व हम निम्न रूपों में देख सकते हैं। भारत में प्रचलित संगीत एक विकास का परिणाम है, व यह वे दो से प्रारम्भ होता है। एक, दो, तीन फिर सात स्वरों का विकास वेदों में निहित है। उनके नाम, लेखन चिन्ह, 1, 2, 3 आदि नाम क्रुष्ट, प्रथम द्वितीय आदि और षडज रिषभ आदि संज्ञाएं वेदों की उपशाखाओं, उपनिषदों, संहिताओं, शिक्षाओं, शाखाओं में उपलब्ध है। ये सभी हमारे दर्शन के आधार हैं।

(2) नाट्य शास्त्र, विष्णु धर्मोत्तर पुराण व रत्नाकर में सामवेद के ही स्वरों को शुद्ध स्वर माना है। इस प्रकार प्रचलित संगीत पद्धतियों की परम्परा व विकास वेदों से सम्बन्धित है।

(3) नाट्य शास्त्र संगीत का आधार ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में संगीत को दर्शन से सीधा नहीं जोड़ा, परन्तु उस पर दर्शन का प्रभाव है, जैसे महेश्वर की स्तुति से ग्रन्थ का आरम्भ, उसे पंचम वेद के रूप में स्थापित करना आदि। ग्रन्थ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कथा वर्णित है, उसके अनुसार नाट्य वेद के लिए ऋग्वेद से काव्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण किया गया है। अर्थात नाट्य शास्त्र के उत्पत्ति स्रोत वेद है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि जीवन के पुरूषार्थों के साधन का अनेक बार उल्लेख हुआ है।

(4) मतंग के वृहद्देशीय पर योग दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, वृहद्देशीय के आरम्भ में ही ध्वनि, ध्वनि से बिन्दु, बिन्दु से नाद, नाद से द्विविद्ध मात्रा (स्वर व्यंजन, रूप तथा षडज आदि स्वर), इस क्रम में स्वरों की उत्पत्ति बताई है। ध्वनि बिन्दु, नाद मात्रा आदि संज्ञाएं योग दर्शन से ही सम्बन्धित हैं। प्राण ब्रह्मा गन्धि में रहता है, वही ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति वर्द्धन और संहार का कारण है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशनाद रूप है, मतंग के अनुसार -

नादरूपः स्मृतो व्रह्मा, नादरूपो जनार्दन. ।
नादरूपा परा शक्ति, नाद रूपो महेश्वरः ।।

मतंग ने यह भी माना है कि जीवन में चेतन का प्रतीक भी स्पंदन रूप नाद है। नाद की उत्पत्ति, कारण व विलय का आधार शरीर है तथा पुरूषार्थों का साधन भी शरीर है। संगीतादि कलाओं की साधना भी इसी शरीर से सम्भव हुई। अत. संगीत के लोकरंजन रूपों के द्वारा उसे मुक्ति तथा मुक्ति का साधना बताया है। यह संगीत की दार्शनिक विवेचना है।

(5) नरदीप शिक्षा तथा प्रति शख्यों में संगीत सम्बन्धित बातों श्रुति, स्वर, ताल, राग, वाद्य आदि को देवी-देवताओं से जोड़ा गया। भगवान शंकर के डमरू की ध्वनि से समस्त संगीत का प्रादुर्भाव हुआ। संगीत के अध्यात्म से जोड़ा गया है।

(6) शंड्.गदेव लिखित संगीत रत्नाकर पर दार्शनिक प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसके स्वर गत प्रथम अध्याय में पिण्डोत्पति प्रकरण में पिण्ड निरूपण, स्थल भौतिक या वैज्ञानिक आधार पर नहीं है।

ग्रात वीणा में नादोत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि हृदय प्रदेश में वायु का आघात ही ध्वनि का कारण है। श्वास प्रक्रिया में वायु का संचार प्रायः हृदय तक होता है। इसी स्थान में प्राण स्वरूप शिव के साथ आकृष्ट वायु का सम्पर्क होता है। संगीत साधना को योग की तरह स्वीकार है।

(7) इसके अतिरिक्त संगीत स्वरों का सम्बन्ध बीजों से जोड़ने की पद्धत्ति भी वर्णिक मंत्रो में बीज कहने से ली गई है। मंत्रों में किस देवता की उपासना है, यह जानने के लिए वर्णों के आठ वर्ग बताए गये हैं। अ, क, च, ट, त, प, य, श वर्गों में प्रत्येक वर्ग का सम्बन्ध अलग-अलग देवता से स्थापित कर बीज का नाम दिया गया है। संगीत में सा, रे, ग, म, प, ध, नि इन स्वर संज्ञाओं के बीज बताए हैं। सा, ग, म, प और ध अकारोत होने के कारण बीज मंत्रयुक्त है, यानि ये स्वर

विष्णु से सम्बन्धित है। रि तथा नि, इकरांत होने के कारण कामवीजयुक्त है, तथा शक्ति से सम्बन्ध है, जो फल यज्ञों को करने से प्राप्त होते हैं वही फल उन यज्ञ नाम वाली मूर्च्छनाओं से भी प्राप्त हो सकते हैं। ये नाम वृहद्देशीय तथा बाद के ग्रन्थों में उपलब्ध है। यह व्याख्या दर्शन से प्रभावित है।

(8) संगीत में रागाध्याय परम्परा के पीछे भी रागों का दार्शनिक चिंतन व विश्लेषण था। ज्ञान, व्यवहार, उपासना, के लिए एकाग्रता अथवा ध्यान आवश्यक था। उपासना मार्ग में निर्गुणोपसना की कठिनता के कारण सुगणोपासना विहित थी। योग में मन बुद्धि, चित्त, शुद्धि तथा विग्रह के बाद मूर्ति आदि (व्रज, अंकुश, कुशिल, वाश, चारभुजा, चिंह का वाहन आदि प्रतीकात्मक देवी देवता) पर ध्यान केन्द्रित करने की विधि है। उसी प्रकार संगीत में 'राग' ब्रह्मा की भांति अमूर्त व अद्वष्ट तत्व है, उस पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए राग ध्यान बनाये गये। इन ध्यानों में रागों की कल्पना देवी-देवताओं के रूप में करके वही लक्षण दिये जो योगित ग्रन्थों में थे। संगीतराज में देशी रागों के रागध्यानों में यह योग परम्परा स्पष्ट दिखाई देती है। हमारे संगीत शास्त्रकारों का मत है कि राग के इस देवमय रूप पर चित को इस प्रकार समाहित किया जाय कि वह उसके नादमय रूप में उतर आए। इस देवतामय रूप पर ध्यान करने से राग मे शक्ति आ जाती है, इस व्याख्या व परम्परा के पीछे दार्शनिक दृष्टिकोण है।

(9) भारतीय कलाकारों ने संगीत को कभी भी साध्य नहीं माना, वरन् उस एक परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में स्वीकार है। डॉ0 वासुदेव शरण के अनुसार 'जीवन-रूपी संगीत ही नाद ब्रह्मा या वागदेवी की वीणा है, जिसके संपर्क में विश्व के आनन्द की सप्न धाराएँ मूर्त रूप धारण करती हैं। संगीत की सच्ची साधना वही है, जिसके फलस्वरूप मानव का मन उस उच्चतम सूक्ष्म नाद का अनुभव करने के योग्य बन सके"।

अध्यात्म तथा संगीत का गठबन्धन भारतीय परम्परा के मूल में दृढ़ रहा है। संगीत केवल मनो विनोद का साधन न होकर परम मंगल का विधायक है।

नारद तुम्बरू से लेकर रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, बल्लभाचार्य निम्बकाचार्य आदि दर्शनचार्यो ने चैतन्य महाप्रभु, व्यागराज, हरिदास, संतज्ञानेश्वर आदि भक्त गायकों ने तथा सूर, तुलसी, मीरा, नंददास, विट्ठलदास आदि पररचिताओं ने संगीत व अध्यात्म का सम्बन्ध प्रगाढ़ किया। अध्यात्म बिन्दु (आत्मा का साक्षात्कार, ईश्वर मोक्ष) दर्शन के प्रमुख आधार है, अत. संगीत का सम्बन्ध दर्शन से रहा है। संगीत साधना को योग की तरह स्वीकारा है, शङदेव के अनुसार संगीत साधना में शरीर में स्थित चक्रों पर अधिकार करना अपेक्षित है। अनाहत चक्र के ऊपर विशुद्धि चक्र है और इसमें सोलह पत्र है। यही चक्र सरस्वती का निवास स्थान है।

इन सोलह पत्रों पर क्रमश ओंकार, उद्गीथ, होंकार, वणठ, स्वेधा, स्वाहा, ब्रह्मा, आत्मा, षड्ज, रिषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद का नवम् से पन्द्रहवें तक संसार से। प्राणयाम के समान संगीत साधना भी वायु नियंत्रण है। वायु नियंत्रण के कारण ही स्वर का श्रुति पर स्थिर रहना सम्भव है। मंद स्वरों के लिए वायु को मणिपुर चक्र (नाभि) के नीचे उतारना अनिवार्य है। यह समस्त भाषा व नादोत्पत्ति का विश्लेषण दार्शनिक प्रभाव से ओत-प्रोत है।

संगीत में दर्शन की आधुनिक कुछ महत्वपूर्ण, अवधारणायें हैं जो संगीत को बहुत प्रभावित करती है।

आधुनिक संगीत में दर्शन में सृजनात्मक प्रतिभा शक्ति की शास्त्रीय पक्ष विशेष रूप से प्रभावित करती है - प्रसिद्ध साहित्यकार दार्शनिक रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कला का सम्बन्ध केवल चित्रादि से मानकर मनुष्य के समस्त सृजात्मक प्रयत्नों से माना जाता है -

What are literature music of finearts ? They are all media of self expression through the language of the word, the sound, the line

---

1- भारतीय संगीत का इतिहास, अध्यात्म एवं दर्शन, डा0 सुनीता शर्मा, पृ0 - 186.

and the colour, And all of them seek to record but one thing the wonder and joy men's discovery of the true.[I]

वस्तुत. यदि देखा जाय तो मनुष्य की प्रवृत्ति अत्यन्त कल्पनाशील व निमोण सृजन प्रकिया या सुन्दय परकरचना के निर्माण में प्रयत्नशील रहता है, ये आधुनिक युग की देन है कि वह स्वतंत्र विचार करता है, यह सृजनात्मक शक्ति चिरकाल से विद्यामन रहती है। अब तक हम ईश्वर को ही सम्पूर्ण सृष्टा के रूप में माना जाता रहा है, उसकी सृजनात्मक कृति अर्थात् प्रकृति ही सभी कलाओं का प्रोरणा स्रोत रही है इसीलिए उसे प्रजापति, स्वयंभू परिभू-प्रजापति आदि कहकर संबोधित किया गया है।

श्री आनन्द वर्द्धन के अनुसार -

सरस्वती स्वादु तदर्थ वस्तु निष्यन्माना महता कविनाम ।
आलोक समरन्यअभिव्यक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम् ।।

अर्थात् उस स्वादु रस स्वभाव रूप अर्थ वस्तु को प्रवाहित करती हुई महाकवियों की सरस्वती (वीणा अर्थात संगीत द्वारा) अलौकिक परिष्कृत होती हुई प्रतिभा विशेष को अभिव्यक्त करती है।[2]

सृजन प्रक्रिया हमारा हृदय जब अत्यधिक प्रसन्नचित होता और उसे किसी प्रकार से आनन्द की अनुभूति होती है तो वह जागृत हो उठता, कुछ करने के लिए व्याकुल हो उठता है, इसके लिए वह अनेक प्रयास करता है वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा, चित्र, संगीत, मूर्ति आदि को माध्यम बनाता है। प्लेटो की मान्यता है कि "नैसर्गिक भावों को व्यक्त करने के लिए कलाकार की वाणी और मस्तिष्क स्वयं कुछ नहीं करते, अपितु ईश्वर उन्हें प्रेरित करता है।

1- संगीत मासिक पत्रिका, कार्यालय हाथरस, पृ0 - 67.

कहने का अर्थ यह है कि सृजन-प्रकृया स्वाभाविक नहीं, बल्कि ईश्वर प्रदत्त होती है। हिन्दी साहित्य के राजशेखर ने भी इस प्रतिभा की पुष्टि की है।

डा0 निशा अग्रवाल ने इस प्रकार की प्रतिभा के तीन भेद हैं -

1- सहज - पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त.

2- आहार्जा - जन्म शास्त्र एवं काव्य आदि के अभ्यास द्वारा

3- औपदेशिकी- तन्त्र, मन्त्र, देवता, गुरू आदि के वरदान से प्राप्त।[6]

ये तीनो उर्पयुक्त प्रतिभा सम्बन्धी सृजनात्मक गुणों को पूर्णत चरितार्थ करने में सहायक होते हैं।

यदि हम संगीत इतिहास पर नजर डाले तो हम पायेंगे कि जिनके अनुसार संगीत विद्या अथवा ज्ञान जहाँ अनेक व्यक्ति की उपलब्धि है, वहीं कइयों के लिए कठिन है। संगीतज्ञ तानसेन ने संगीत सीखने की क्षमता जन्मजात थी, उनके गुणों को स्वामी हरिदास ने पहचाना इसीलिए उन्होंने तानसेन को अपना शिष्य बना लिया।

दर्शन-विधि के अनुसार मानव का रसिक होना ईश्वर प्रदत्त प्राकृतिक गुण है। जिस प्रकार एक राग-रचना अथवा कलाकृति से सभी श्रोता एवं दर्शक प्रभावित नहीं होते ये रचनाएं केलव रसिक व्यक्ति को ही प्रभावित करती।

डा0 सुनीता शर्मा ने अपनी पुस्तक भारतीय संगीत का इतिहास "दर्शन एव अध्यात्म" में लिखा हे, कि "रसिकत्व जन्मजात प्रवृत्ति है, जो प्रदर्शन के रसात्मक तत्वों को ग्रहण करती है, और रसात्मक चर्वणा से अत्यन्त तृप्ति का अनुभव करती है।"[10]

"मानसोल्लास" के अनुसार "स्वयं के प्रयुक्त स्निग्ध श्रुति आदि से जो अनन्य आनन्द भोगता है, और जिसका सर्वांग पुलकित हो उठता है वह रसिक है।"

1- डा0 सुनीता शर्मा, भारतीय संगीत का इतिहास, दर्शन एवं अध्यात्म, पृ0 - 89.

है - "प्याज की परतों का एक दूसरे से सम्बन्ध जाना जा सकता है। ये सभी परतें अनवरत स्वरानुक्रम की रचना करती हैं। परतों के ऊपर कलाकार की भूमिका एक पर्यवेक्षक की होती है। पहली परत को नीचे वाली परतों पर वह टिप्पडीकार बन जाता है। दूसरी परत के पश्चात् वह एक व्याख्याता बन जाता है। तीसरी पर वह एक कल्पना - बिहारी और अंत मे वह एक सजन बन जाता है, और वह अपने अदृश्य ससार की खोज में आगे बढता जाता है। यह खोज पूरी कर लेने के पश्चात् वह इसके लिए एक चक्षुष प्रतीक की तलाश करता है। वही प्रतीक उसके गुप्त रहस्य का संकेत देता है।"[42]

एक कवि ने ठीक ही कहा है -

त्रिभुवन मानस वशीकरण मधमय आकषर्ण ।
शून्य गगन की रस लहरी का मधुर विकल्प ।।

मात्र सात स्वर अपने आपमें असंख्य झुरमुट ध्वनियो का महासागर समेटे हुए हैं। इनमें हजारो सालों से कलाकार गोते लगाते आ रहे है कल्पना से ही पुराने राग पुन नवीनता प्राप्त करते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव मे सांगीतिक लक्षण इश्वर प्रदत्त होते हैं। सगीतज्ञ अपनी कल्पना द्वारा एक ही राग में अलग-अलग ढग से नवीन व दिश, गत, तान, अलाप, भींड, गमंग, अल्पत्व, बहुत्व तथा लटा की विभिन्न गातियों विलम्बित मध्य वच दत रूपों का यथेष्ट ढंग से प्रयोग करते हैं, जिससे राग से उत्पन्न होने वाले भाव एवं रस दोनों बदल जाते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि जहाँ एक ओर संगीत शास्त्र दर्शन से प्रभावित रहा है और शस्त्र निरूपण की शैली भी दार्शनिक शैली से प्रभावित है, वहीं दूसरी ओर भक्ति उपासना का सांगीतिक (गेय) होने के कारण संगीत का सम्बन्ध अध्यात्मिक की 'चेन' के माध्यम से दर्शन से जुड़ा रहा। सगीत ही आराधना का माध्यम रहा इसीलिए देवालयों में पूजा परिपाटी के अर्न्तगत गीत तथा नृत्य का प्रचलन

"सगीत रत्नाकर" के रचियता शरगदेव के मतानुसार "भाव एवं रस से जो गायक आविष्ट (ओतप्रोत) हो जाए, वह रसिक है। संगीत-समय-सार मे निम्नलिखित श्लोक का निहितार्थ भी यही है -

सुश्रव्य गीतमाकर्ण्य भवेछा पुतकन्वित ।
सानंदो श्रुनिराकीणो रसिको गायक स्मृत ।।

अर्थात् सुश्रव्य गीत को गाते समय जो पुलकित होते हैं और आनन्दातिरके से जो अश्रुप्रवाह करने लगते हैं वे रसिक हैं।"

भारतीय दर्शन के अनुसार अन्त्.करण के चार अक है - मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। इन चारों की परिधियां आपस मे मिलीजुली भी हैं और उनका स्वतंत्र अस्तित्व भी है। मन को न्याय में संकल्प विकल्पात्मक कहा गया है "संकल्पादि कल्पात्मकं मन·" अर्थात सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों का माध्यम हमारा मन है। दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पांच अवस्थाए मानी हैं - परिज्ञान, स्मरण, कलप्ना, विचार और सहजज्ञान। सबसे पहले हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानन्द्रियों द्वारा होता है। जब हम किसी व्यक्ति के सामने जाते हैं तो हमारे नेत्रों द्वारा जो उसका प्रतिविम्ब हमारे मन पर पड़ता है, स प्रकार के ज्ञान को "परिज्ञान" कहते है।

और "स्मरण" तब आ जाता है जब हम उस व्यक्ति को ध्यान से देख लें तो मन की विशेष क्रिया से स्मरण शक्ति द्वारा संचित अनुभवों को विभक्त करके फिर उनमें इच्छानुसार नवीन परिकल्पनाएँ जोडकर उसे एक नवीन रूप भी प्रदान कर सकते हैं। मन की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं। कल्पना मानसिक प्रहस्तन है।

हमारे संगीत में नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर और स्वरों से अनन्त संगीत संसार की संरचना होती है। कलाकार अपनी सृजनात्मक प्रवृत्ति के अनुसार इनकी अवधारणा करता है। इसका दार्शनिक विश्लेषण करते हुए डा0 रामकीर्ति ने लिखा

प्राचीन काल से आज तक बराबर बना है। यह सम्बन्ध चाहे भक्तों के संकीर्तन रूप मे हो या देव-दासियों के रूप में अथवा मोक्ष प्राप्ति या आत्म साक्षात्कार के साधन के रूप में।

अत दर्शन पर संगीत का व संगीत पर दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है। दूसरे शब्दों मे हम यह कह सकते हैं कि हिन्दू दर्शन मे सगीत की महत्वपूर्ण भूमिका है। तथा भारतीय संगीत के प्रति चिंतन का दृष्टिकोण दार्शनिक है तथा दर्शन से प्रभावित है।

प्रणव अक्षर "ओऽम्" से सगीतोत्पत्तिम्

तस्य वाचक· प्रणवः

उस ईश्वर का वाचक = बताने वाला शब्द है - प्रणय, ओंकार'।

(67) तथ्य च ओङ.कारस्य वाच्यः ईश्वरः ।35 ।

और उस 'ओंकार' का वाच्य प्रदार्थ है ईश्वर । अर्थात् "ओ" शब्द ईश्वर को ही कहता है, और किसी को नहीं। ('ओम्' शब्द के अंत में जो 'म्' है, वह कृदन्त का है और अव्यय होने से उसका रूप सभी विभक्तियों में एक सा रहता है।)

(68) किमस्य सङकेत - कृतं वाच्य - वाचकत्वम् ? अथ प्रदीप प्रकाश पद्अवस्थितम् ? स्थितोस्य वाचयस्य वाचकेन (सह) सम्बन्ध । (यदि नित्यः शब्दो यदि वा अनित्यः) सङ्केवस्तु तमेव स्थितं सम्बन्धम् अवज्वलति । सर्गादिष्वति ।37 वाच्य-वचक शक्यपेक्षः (तथैव) सङकेतः (क्रियते)। शब्दार्थयोः सम्प्रतिपत्तिनित्या नान्यथा ।38 इत्यागयिनः प्रतिनजते ।।) 'औं' नाम से ईश्वर का वाचक - वाच्य सम्बन्ध क्या लोगो ने संकेत से वाय कर लिया है, अथवा दीपक और उसके प्रकाश की तरह स्वभाव से ही है ? - इस वाचक औं शब्द का अपने वाच्य ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्वाभाव से ही है, नित्य है । वैसे, शब्द चाहे नित्य हो चाहे अनित्य, जब उससे किसी का संकेत होता है, तब वह भी शब्द और अर्थ के उसी पूर्ण स्थित स्वाभाविक सम्बन्ध को प्रकाशित किया करता है। इसी रूप से नाना सृष्टियों की आदि में जो संकेत किये जाते हैं उन सबको वाच्य-वाचक शक्ति की अपेक्षा होती है। इस सम्बन्ध में वेद शास्त्रज्ञ-विद्वानों का दावा है कि शब्द और उसके अर्थ द्वारा एक-दूसरे की सही-सही अभिष्यक्तिनित्य हे, अनित्य नहीं ।।27।।

(एवम्) अवगत - वाच्य वाचक - सम्बन्धस्य योगिनः परमेश्वर प्रसादनं कथं क्रियते ।।39·

इस प्रकार परमेश्वर और "औ" के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को जानकर योगी उसे कैसे प्रसन्न करे ?

तज्जपस्तदर्थ - भावनम् ।। । । 28 ।।

ओंकार का जप के और उसके

अर्थ 'ईश्वर' की भावना बनाए।

(69) तस्य ईश्वर - वाचकस्व प्रणवस्य अर्थ - चतुर्मात्रास्य त्रिमात्रास्य व जपः, तदर्थस्य च ईश्वरस्य बुद्धो समारोपितस्य भावनम् (कर्तव्यम्) ।40 ददेवम् उभयं कुर्वतो योगिनः ।4। चित्तमेकाग्रं सम्पद्वते । तथा चोक्तम् -

'स्वाध्यायाद् योगमासीत्, योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याय - योग - सम्पत्या, पर आत्मा ।42 प्रकाशते।' इति।।

साढ़े तीन मात्रा वाले 'ओउ्म् या तीन मात्रा वाले 'ओं कार को, जो ईश्वर का वाचक है, और जिसे प्रणव[2] कहा गया है, मन में उपाशु, बिना बोले जपना चाहिए और उसके पदार्थ 'ईश्वर' को बुद्धि में लाकर उसी के ज्ञान की भावना को बनानी चाहिए । इस प्रकार 'जप' और 'ज्ञान भावना' दोनों को करते-करते योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है।

ऐसा ही कहा भी है -

प्रणव के मानस जाप से ध्यान योग का प्रारम्भ करे। इस तरह, जप के साथ अटूट ध्यान लग जाने पर योगी के सामने वह अद्वितीय आत्म-तत्व प्रकाशित हो जाता है ।। 28 ।।

किं चास्य भवति ?

-एकाग्रता के अतिरिक्त[3] अभ्यासी को प्रणव-जप से और क्या मिलता है ?

ततः प्रत्यक - चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।। । । 29 ।।

इस "प्रणव - जल भावना" से

'प्रत्यक् - चेतना' = आत्मा का साक्षात्कार होता है,

और विघ्न बाधाएं दूर हो जाती हैं।

(70) यथैव ईश्वरः पुरूषः शुद्धः प्रसन्न केवलो निरूपसर्गः प्रकृष्ट सत्व-प्रतिसवेदी अयमपि मदीयः पुरूष (शुद्ध प्रसन्नः केवलो निरूपसर्गो) बुद्धे प्रतिसंवेदी इत्वगच्छति। स्वरूपदर्शन चास्या भवति।) ये तावद् अन्तराया व्याधि - प्रभृतय, तेऽपि (चास्य) (तवद्) ईश्वर प्रणिधानाद् न भवन्ति। [143] प्रणव-जपी की बुद्धि में यह तथ्य उतर जाता है कि - 'जैसे वह ईश्वर चेती निर्मल, प्रसाद गुण युक्त या आनन्दरूप, प्रकृति के तीनो गुणों से पृथक 'केवल'[2], तीनो तापों से रहित 'निरूपसर्ग' और प्रकृष्ट-सत्व = ज्ञान द्वारा जाने वाला[3] है, वैसे ही मेरी आत्मा भी चेतन, स्वच्छ, प्रसन्न, केवल और उपसर्ग - रहित है। यह ही बुद्धि द्वारा जनाई बातो को जानने वाली है।[4]" फिर उस जपी को स्वरूप का दर्शन हो जाता है। संगीत के जन्म का उत्स "आउम्"-

कुछ विद्वानों का मत है कि संगीत का जन्म ओउम् शब्द के गर्भ से हुआ। ओउम् शब्द एकाक्षर होकर भी अ, उ, म इन तीनों अक्षरों से निर्मित हुआ है। ये एकाक्षर इस अर्थ में कहा जाता है, कि तीनो अक्षरों के संयोग से इसकी ध्वनि एक ही अक्षर के समान होती है। आउम् के तीनो अक्षर अ, उ, और म तीन शक्तियों के द्योतक हैं। उ उत्पत्ति शक्ति द्योतक सृष्टिकर्ता, वृह्या। उधारक, पालन, रक्षण अर्थात् स्थिति शक्ति द्योतक विष्णु। म महेश शक्ति का प्रतीक है। तीनों शक्तियों का पुंजही निमुर्ति परमेश्वर है।

ओउम् वेद का वीज मन्त्र है। इसके विषय में मनु कहते हैं कि ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद से 'अ' 'उ' 'म' ये तीन अक्षर लेकर प्रणवा ओऽम। बना है ऋति स्मृति के अनुसार ये प्रणव परमात्मा का अनुपम् नाम है।

वेद में संक्षेप से वृह्या पद वरण करते समय ओऽम् रूप से ही उस पद का वर्णन किया गया है, यथा कछोपनिषद में -

"सर्वे वेदा मत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद बदन्ति।"
यदिच्छन्तो वृह्चर्य चरन्ति
तत्रे पदं संग्रहेण व्रबीमि ।"

सकल वेद तथा सम्पूर्ण तपस्या में लक्ष्य रूप से जिद पद का वर्णन है, और जिस पद की इच्छा करके मुमुक्षुगण वृह्यचर्य का अवलम्बन करते हैं उस पद का संक्षिप्त नाम "ओऽम्" हे तत्रो मे वर्णन है।

'अकारो विष्णु रूद्धिष्ट उकारास्तु महेश्वर
मकारेष्येच्यते वृह्य प्रणवेन मयो मत ।

अर्थात अकार विष्णु का वाचक, उकार महेश्वर का वाचक और मकर वृह्य का वाचक है।

महर्षियों ने वेदांग रूपी शिक्षा शास्त्र द्वारा यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि प्रणव में तीनों गुणों की तीनों शक्तियां भरी हुई हैं, इसी कारण ह्रस्व दीर्घ प्लुत तीनों स्वरों की सहायता बिना उच्चारण नहीं किया जाता। पुन गन्धर्व उपवेद सम्बन्धी शिक्षाओं मे भलीभाँति वर्णित है कि षडज आदि सातों स्वर एकमात्र ओंकार के ही अन्तरविभाग है। जिस प्रकार अन्तर राज्य ने रंग सात धातु आदि सप्त विभागों का प्रमाण मिलता है, उसी शैली के अनुसार एक मात्र अद्वितीय शब्द व्रह्या रूपी ओंकार षड्ज आदि सप्त स्वरविभाग में विभक्त होकर नासा शब्द राज्य की सृष्टि किया करता है। इसी कारण शब्द व्रह्या सभी ओंकार सब मन्त्रों का चालक है। तंत्रो में लेख हैं - मंत्रणम प्रणव सेतु' सब मंत्रो का एकमात्र प्रणंव (ओऽम्) ही सेतु है जिस प्रकार बिना सेतु के पथ अवरोधी नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना ओंकार की सहायता के न तो मंत्र समूह पूर्ण बल को प्राप्त होते हैं और न वे बिना लक्ष्य के अनुसार यथावत् काम करने में उपयोगी ही हो सकते हैं। फलत एक मात्र (ओऽम्) ही शब्द मंच साक्षात् शब्द ब्रह्या है, स्वर व्रह्य है। शब्द और स्वर दोनो की उत्पत्ति ओऽम् के गर्भ से हुई है। प्रथम स्वर प्रसूत हुआ और फिर शब्द निकले पहले मनुष्य को स्वर सुनाई दिये मुख से उच्चारण होने योग्य प्रणव यद्यपि अलौकिक प्रणव नाद का प्रति शब्द है।

1- **संगीत रत्नाकर** - 39

2- **श्रीधर पंराजपे** - 104, 107, 198

तथापि वह केवल लौकिक सम्बन्ध से अविष्कृत नहीं हुआ है। तंत्रो मे यह निश्चय करा लिया गया है, कि मुख से उच्चारण होने योग्य ओंकार ध्वनि ही अपूर्व रीति से आधार पद्म से उठकर सहत्रबल स्थिति पुरूष मे लय हुआ है। प्रणव ही संगीत के जन्म का मूल आधार है इससे सत्य को पश्रत्य विद्वान भी मान गये है। मिस्टर एलने फाउलर "प्रक्टिकल योग" में लिखते है।

अर्थात् आजकल आर्य शास्त्र की चर्चा करने वाले पश्चिमी विद्वानो की दृष्टि प्रणव (ओऽम) उच्चारण की और विशेष रूप से पड़ी है। इस शब्द के उच्चारण से जो स्पन्दन उत्पन्न होता है वह इतना तीव्र तथा बलवान है कि लगातार ऐसा स्पन्दन होते रहने पर बड़े-बडे मकान तक गिरा दिये जा सकते हैं, मैने इस स्पन्दन शक्ति की परीक्षा की है और मुझे इस विषय में स्थिर विश्वास है। समान्य रूप से उच्चारण करने पर भी छात्र पर इसका कुछ प्रभाव होता है। किन्तु यथार्थ रीति से यदि ओऽम् का उच्चारण किया जाय तो शरीर के प्रत्येक परमाणु में परिवर्तन हो जाता है। उसमें नवीन स्पन्दन से नवीन स्थिति उत्पन्न हो जाती है और देह स्थिति अनेक निंद्रिय शक्तियां जाग उठती हैं।

मैं एक से बहुत हो जाऊं सृष्टि करूं ये संकल्प होता है कभी ब्रह्मान्ड प्रवृत्ति में कम्पन्न होता है। ये कम्पन्न ही संगीत की प्रथम किरण हैं। और समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृति को कपांकर जो प्रथम स्वर निकालता है वही 'प्रणव नाद' है। ये ध्वनि कैसी है, इस विषय में योगशास्त्र में लिखा है।

'तैलधारभिवच्छिन्नं। दीर्घघन्टानि नाद वत'

अर्थात् ये प्रणव तेलधारा के समान अविच्छन्न' ' एवं दीर्घ घन्टा के स्वर की तरह श्रुति मधुर है एवं उसको तभी ग्रहण किया जा सकता है जबकि सम्यावस्था होकर प्रवृत्ति में मन स्थिर करके साधना कर सके, ये आंकार ध्वनि वाच्य वाचक सम्बन्ध से अनादि व अनन्त है। अतएव संगीत भी आनादि एवं अनन्त हुआ।

1- संगीत सम्यासार आचार्य वृहस्पति.

वास्तव में ओऽम् शब्द ही संगीत के जन्म का उपकरण है। ओऽम् के परे कुछ भी नहीं समस्त कलायें ही ओऽम् के विशाल गर्भ से अविभूर्त हुई है। जो ओऽम् की साधना कर पाते हैं वे ही वास्तव में संगीत का यर्थाथ रूप समझ पाते हैं। इसमें लटा, ताल, स्वर सभी कुछ तो है। क्या नहीं है ओऽम् शब्द की दार्शनिक्ता को गहराई से समझना है तब हमें उसके वास्तविक रूप का ज्ञान होगा।

श्रुति में प्रणव को आत्मोलब्धि के कारण रूप से विवृत करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अरणि में स्थित अग्नि की मूर्ति - स्वरूप की मन्थन से पूर्व दृष्टिगत नहीं किया जा सकता और न उसके लिंग अर्थात सूक्ष्म रूप का नाश ही होता है।

वेद उपनिषदों की प्रणव स्म्बन्धी उपरोक्त व्याख्या से यह सिद्ध है कि 'प्रणव' का ही अर्थ परमात्मा है।

डा0 सम्पूर्णानन्द के अनुसार 'सभी भाषा के सभी शब्द संगीत मे प्रयुक्त सभी स्वर सभी वर्ण मालाओं के सभी अक्षर इसी 'प्रणव' के विलास हैं 'प्रणव' को समस्त संगीत का आदि तथा अन्त समस्त संगीत के स्रोत इन तीनों देवताओं ।। अ, उ, म = ब्रह्मा विष्णु महेश ।। को भारतीय परम्परा द्वारा स्वीकार कर लेने से निश्चय ही महत्वपूर्ण हो जाता है। ब्रह्मा की ' पुत्री सरस्वती विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण तथा नटराज शिवि वास्तव में संगीत के स्रोत हैं। अतः प्रणव अक्षर ओऽम् से ही संगीतोपत्ति हुई।

नाद ब्रह्म ही संगीत के स्वर व प्राण-कुंपीर -

डा0 शरदचन्द्र श्रीधर परांजपे के अनुसार भा0 संस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास में धर्म की द्विविध धारा का प्रचलन प्राचीन काल से रहा है। वाञ्मय ने शब्द ब्रह्म को 'नाद' कहा गया है। वह सृष्टि की सिसृक्षावस्था में अपने मान संकल्प की वाणी रूप प्रदान करता है। अतः नाद से उत्पन्न वाक् (ध्वनि नाद) को नाद कहा

जाता है। नाद की उत्पत्ति का वर्णन करते हुये शार व तिलक में कहा गया है कि सत्, पित आनन्द विभूति त्रयी से सम्पन्न प्रजावति से सर्वप्रथम शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। वह शक्ति नाद को उत्पन्न करती है और नाद से विन्दु की उत्पत्ति होती है। जैन साहित्य में नाद कला का आधार औंधे चन्द्रमा के समान है वह सफेद रंग वाली है बिन्दु काले रंग वाला है। महाभारत में भी स्वयंभू द्वारा अनादिनिधन नित्य वाक् की उत्पत्ति का अभिधान किया गया है जिसका आदि रूप ज्ञानात्मक (वेदात्मक) है और जो संज्ञा की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों में ओत-प्रोत है।

मनुष्य शरीर से अभिहित किया गया है। इस नाभि सरोवर में दिव्य कथन उत्पन्न होता है उस पर ब्रह्मा का आसन परिकल्पित किया गया है। ब्रह्मा का स्वरूप चतुमुर्ख है, उसकी प्रजापति संज्ञा है, वही सृष्टि में सर्वप्रथम छन्दोगामी है। वही ऋति अथवा ऋत का उद्गम करते हैं। यह श्रुत शब्दा व छिन्न है अनादि निधन नित्य है, शतपथ ब्राह्मण में एक प्रवीक कथा है - "त्रयः प्रजापत्या. पस्पधिर" :- देव, मनुष्य और असुर प्रजापति की तीनों सन्तान एक बार प्रजापति से उपदेश ग्रहणार्थ. उनके समीप उपस्थित हुई उन्होंने प्रजापति से निवेदन किया - कृपया हमें उपदेश प्रदान कीजिए। सनुकुम्पा परमात्मा ने उपदेश देते हुए उनके प्रति केवल 'द' अक्षर का उच्चारण किया। हम राजरंग, भोग-विलास, अप्सराओं के नृत्य आदि में मग्न रहकर संयम रहित हो गये हैं। अतः 'द' से भगवान ने हमें "दमन" झ-प्रयानि गृह का उपदेश दिया है, मनुष्य ने विचार किये कि हम धन के अति संचय में लगे रहकर घोर परिग्राही हो गये हैं। एतावता हमें अर्थ नियम परिग्रह परिणाम रखते हुए 'दान' करना उचित है। असुरों ने सोचा हम बहुत क्रूर क्रम और प्रायः संहार की रुचि रखते हैं। प्रजापति ने 'द' का अपर द्वारा 'दया' का उपदेश दिया। इस प्रकार प्रजापति ने 'द' अक्षर व देश को तीनों में तीन विभिन्न अर्थों में ग्रहकिस्रनामि से उत्पन्न कमलासन पर विराजमान चर्तुमुख और एक दिव्य ध्वनि से सम्पूर्ण जीवों को उनके वांछित उपदेश की प्रवक्ता प्रजापति की यह देनिक गाथा भगवान ऋषभ देव की अवधारण को पुष्ट करती प्रतीत होती है।

1- आचार्य सूर्यमणि शास्त्री - संगीत अंक दि0 196/पृष्ठ - 49.

हृदयगत भावों को प्रकाशित करने के लिए मनुष्य जिन अव्यक नादों का आश्रय लेता है वे सार्वभौम एवं सनातन हैं। रोदन चीत्कार करहना अथवा हँसना इत्यादि क्रियाएँ जिन ध्वनियों को जन्म देती हैं उनका निर्वाघ निरपवाद एवं अव्यभिचरित प्रयोग सदा से एक जैसा रहा है। विभिन्न भावों को प्रकाशित करने वाली ये ध्वनियां ही संगीत के स्वरों की जननी हैं। (संगीत - चितामणि)

संगीत विशारदों का कथन है कि नाद की उत्पत्ति ब्रह्म ग्रन्थि से होती है भगवान शंकर नाद तनु हैं नाद के प्रवक्ता हैं। "संगीतोपनिबन्द्धता सरोद्धार" में वर्णत है कि "नाभि से एक कूर्मचक्र है उसके कन्द पर पद्मनी है। उसकी नाल में एक पत्र है, एक कमल है। उसमें अग्नि - प्राण की स्थिति है, उससे वायु की उत्पत्ति होती है। उस अग्नि वायु के संयोग से सिद्ध ध्वनि उत्पन्न होती है। उस सिद्ध ध्वनि के योग नाद की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर - तीनो देव नादात्मा है। इसलिए विशुद्ध नाद की उपासना पराशक्ति परब्रह्म त्रिदेव और ओंकार की उपासना है।

नाद के इन व्याख्याकारों से प्रति पाछ आशय वह है कि नाद की उपासना ब्रह्मा की उपासना है। क्योंकि वह तन्मयता उत्पन्न करते हुए आत्मस्थ होने की वृत्ति को लक्ष्य करता है।

1- ब्रह्मग्रन्थि जमारूतानुगतिना चित्तेन द्धत पंकजे
सुरीणामनुंर श्रुतिवंद मोऽय स्वय राजते।
यस्माद ग्रामविभाग वर्ण, स्वआलंकार जतिक्रमो
वान्दे नादतनुं तमुन्द्धुरजगदंगीतम् मुपे शंकरम् ।। संगीत रत्नाम् ।।

2- नाभोयत् कूर्मचक्रं स्यात्तस्य कन्दे तू पदमिनी।
तास्यानाले तु यत् पत्रं तस्मिेश्च कमल स्थितम्।।
तत्र च ज्वलनो भूतो वायोस्तस्माच्च संभवः।
ततः सिद्धध्वनेयोगादेश नादस्तु जायते।।
नादा त्मान्न स्त्रयो देवा ब्रह्म विष्णु महेश्वराः।
परं ब्रह्म पराशक्ति रोंकारो नादसंभवः।। संगीतोपनिष्त सारेद्धार।।

उपनिषदों में प्रणव का अर्थ परमात्मा से लिया गया है। श्री राधाकृष्णन् के शब्द मे 'अक्षर ओऽम्' साधारणत ब्रह्म की प्रकृति का दिग्दर्शन करने के हेतु प्रयुक्त किया जाता है, अपना प्रत्यक्ष गुण दिखता है। यह परमात्मा का प्रतीक है, जो सर्वश्रेष्ठ है, सबसे महान है। 'अ ऽम' प्रत्यक्षा तथा पूर्णता का चिह्न है। यह उस परमात्मा के तीन गुणों का सूचक है जिन्हें पीछे से ब्रह्मा विष्णु तथा शिव कहा गया। 'आ' इस जगत का सृष्टा ब्रह्मा 'उ' सृष्टिवाचक विष्णु है तथा 'म' सहारकर्ता शिव है। प्रणव को समस्त सगीत का आदि तथा अन्त मानना समस्त संगीत के क्षेत्र इन तीनों देवताओं की भारतीय परम्परा द्वारा स्वीकार कर लेने से निश्चय ही महत्वपूर्ण हो जाता है। अ अथवा ओंकार को नाद ब्रह्म का सर्वोच्च उदमान माना गया है। भा0 वाङमय मे यह विलक्षण शब्द है। इसे परमात्मा का वाचक पद ।स्वर। माना गया है। 'तस्य वाचक प्रणव 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' प्रववरछन्द-साम हम' ओऽम का अर्थ है - जिससे परमात्मा की स्तुति की जाये - प्रणुयते स्तुयते परमात्मा येन स प्रणव 'अवतीति ओम - रक्षा करता है, अत ओम सज्ञक ।परमात्मा। है, नादानुसन्धान करते-करते अन्त मे ओम नाद की सिद्ध होती है। यह ओंकार विन्दुसयुक्त है। विन्दु सृष्टि का परम रहस्य है। योगी इस बिन्दु संयुक्त ओंकार का नित्यमेव ध्यान करते हैं। काम और मोक्ष दोनों की प्राप्ति ओंकार से ही संभव है - ऐसा प्राचीन आचार्यो का अभिभूत है।

अध्यात्मिक कल्याण हेतु धारणा के विभिन्न साधनों में नादानुसंधान अर्थात सुरति शब्द योग सर्वोत्तम है। चित्त के एकाग्रता के लिए एक ऐसा मार्ग हो जो राज मार्ग की तरह सबके लिए खुला हो, और सत्य ही हठ योग की भाँति कटाकीर्ण और श्रामसाध्य भी न हो। ऐसा एक ही मात्र है जिसके प्राचीन पुस्तकों में नादानुसंधान (नाद का अनुसन्धान) कहा गया है, और जिसे सन्तमत के आचार्यो ने सुरति शब्द मार्ग कहकर पुकारा है।

सुरति संस्कृति के त्वरित का अपभ्रंश है। यह चित्त की एकाग्राभिमुखी, एक एकाग्र प्राग्भारा अर्थात एकाग्रता की ओर झुकी हुई वृत्ति को कहते हैं। शब्द

से तात्पर्य उस आदि शब्द प्रणव से है जिसकी चर्चा पहले कई बार आ चुकी है। यही परावाक् है, यह परावाक् जो शरीर में परमात्मा की पराशक्ति का स्वरूप है, जिसके सम्बन्ध मे ऋगवेद कहता है।

वत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुब्राह्मण ये मनीषिण ।
गुहात्रीणि निहिता नेगयन्ति चतुर्थ वाच मनुष्य बदन्ति।।

वाक के चार स्थान है जिनको मनीषी ब्राह्मण ही जानते है। इनमे से तीन छिपे हुये है उनको लोग नहीं जानते। चौथे वाक् को मनुष्य आदि सब लोग बोलते हैं।

वाक के चार स्थान है ब्राह्मण, बैखरी, मध्यमा, पश्यान्ति तथा परा है। बैखरी वाणी का वह सप है जो प्राणियों के मुख से उच्चारित होता है। मध्यमा पश्यान्ति और परा सुक्ष्म है। इनमे से परा सबसे सुक्ष्म है, और वही प्रणव है। जब बाधक साधक का अभ्यास दृढ़ होता है तो वह प्रणव रूपी महानाद का अनुसरण करता है और उसकी सुषुप्त वाक् शक्ति भी जागृत होती है।

संगीत का स्वरूप नाद का सूक्ष्म रूप है और यह नाद की अपनी शक्ति द्वारा प्राणिमात्र को अकृष्ट करता है। नाद के दो भेद हैं। (1) प्रवृत नाद। सूक्ष्म नाद। (2) विकृत नाद - स्थल नाद अन्त.करण में स्थित नाद को सूधुल नाद कहते हैं। सुक्ष्म नाद नित्य एकरस विकार रहित अन्त.करण में नित्य प्रतिध्वनित होता रहता है। भुर्वहरि ने इस सूक्ष्म नाद की तीन अवस्थाए मानी हैं - (1) परा (2) पश्यन्ति (3) मध्यमा। परा का स्थान नाभिकमल पश्यन्ति का स्थान उससे उर्ध्व प्रदेश तथा मध्यमा का स्थान हृदय प्रदेश है।

स्थूल नाद को बैखरी नाद कहते हैं। बैखरी नाद स्थान कर्ण, और प्रयत्न केवल संस्पष्ट होकर वर्ण के उच्चारण को ग्रहण करने वाला होता है। मनुष्य इसी

1- निबन्ध संगीत - संगीत कार्यालय हाथरस लेख डा0 सुभद्रा चौधरी, पष्ठ - 319.

2- डा0 सुभद्रा चौधरी, संगीत निबन्धावली, पृष्ठ - 321.

वाणी को बोलता है। सगीत की सृष्टि का आधार स्वर होते है। जो नाद की परा पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी इन चारों अवस्थाओं के मध्य से होकर क्रमश मूर्छना, ग्राम, वर्ण, अलकार, राग आदि क्रमावशेषी में विकसित होकर वाक्य और स्वरों के मिले सम्बन्ध से मधुमय सगीत की भव्य भूमिका प्रस्तुत करते है। स्वरो को नाद और नाद को स्वर की आवश्यकता होती है। एक-दूसरे के आभाव मे इनकी स्थिति अध और पगु के तुल्य होती है, नाद की तीव्रता और मन्द्रता के अभाव मे स्वरों मे वह वैशिष्ट नहीं आ पाता जिससे वह रागो की उत्पत्ति कर सके। अत वैयाकरणो की दृष्टि मे सगीत स्वरो की आधार भूमि बैखरी न होकर मध्यम है।

सूक्ष्म और स्थूल नाद को आहत और अनाहत नाम से भी अभिहित किया जाता है। आहत का अर्थ है अघात के द्वारा नाद उत्पन्न करना। जैसे कण्ड स्वर वन्त्रियों द्वारा आहत वेशी। वायु द्वारा। मृदंग परगवण तबला आदि। अनाहत नाद वह है, जो बिना किसी आघात के निरन्तर स्वभावत· प्रतिध्वनित हो। अनाहत नाद ही आहत नाद का उपादान कारण है। जिस प्रकार वाह्य जगत मे वायु की सत्ता होने पर ही वायु के प्रवाह की अनुभूति होती है, उसी प्रकार अन्त करण में सूक्ष्म नाद की सत्ता होने पर ही आघात मूल प्रयत्नों द्वारा हम स्थूलनाद उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि स्थूल नाद की उपस्थिति इस तथ्य का सूचक है कि अन्त करण में सूक्ष्म नाद की सत्ता विद्यमान है। अत हमे यह भी ज्ञात है कि वाह्य जगत मे भी उसी तत्व की उपस्थित रहने की सम्भावना रहती है, जिसकी सत्ता कहीं न कही विद्यमान हो असत् वस्तु की उत्पत्ति का विनाश कभी नहीं होता है। अत सूक्ष्म नाद की सत्व से ही स्थूल नाद की उत्पत्ति होती है।

अत: सूक्ष्म नाद की सत्ता से ही स्थूल नाद की उत्पत्ति होती है। अन्त करण में स्थित सूक्ष्म नाद ही गायन-वादन और नृत्य का निमित्त है। जिस प्रकार सूत में वस्त्र और स्वर्ण में आभूषण निर्माण की योग्यता होती है, उसी प्रकार नाद में संगीत के तीनों उपादान का समाविष्ट है।

जब भावना का उभार होता है तो बोधवृत्ति गौण पड जाती है और रागात्मक वृत्ति प्रधान हो जाती है। पर सगीत की सतत् प्रवाहमान धारा में यह रागात्मक वृत्ति उज्ज्वल होकर विराजता की तरागता मे परिणत हो जाती है। जब बोधवृत्ति रागात्मक वृत्ति के समान स्तर पर क्षण भर रहकर पुन उसमें लीन हो जाती है तो बोध वृत्ति तक गोचर होती हुई तनय और सषर्षो की पर्यवसित कर देती है। कुण्ठाएँ गठित हो जाती है और नैविक अनुभूति अपने स्वतत्र व्यक्तित्व के साथ पर्दापण करती है। फलत ध्वनि और लाल से निष्पन्न रागवीतरागता का प्रतीक बन जाता है।

अनुभूति की तीन स्थितिया है। प्रथमावस्था मे वह अपने विशुद्ध रूप में रहती है। इस स्थिति मे बोधवृत्ति सुप्त रहने के कारण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। द्वितीयावस्था मे सवेदो के प्रथम आघात से उत्पन्न कुण्ठा में शैशिय आने लगता है और प्रसुप्त बोध वृत्ति मे स्पन्दा होता है जिससे अभिव्यक्ति की मानसिक शारीरिक चेष्टाएं प्रकट होने लगती हैं। तृतीयावस्था में वैयक्तिक प्रतिक्रिया के विचार उत्पन्न होते हैं जो आगे चलकर रागात्मक वृत्ति का आधार बनते हैं। जो कलाकार अपने अन्तस् मे रागों, वृत्तियों, तमो, तालो की अनुभूति में डूब जाता है वह अब अमृत का प्रवाह संचारित करता है। काव्य की स्थिति में जिसे अनतक्षोम कहा जाता है, संगीत की स्थिति में वही रस धरा उज्ज्वलता को उत्पन्न कर देती है।

वैज्ञानिक तथ्य साक्ष्य है कि स्केप के टूटने से उत्पन्न हुए अनुओं में अपरिमित उर्जा रहती है। यह उर्जा राग और विराग की स्थिति से भिन्न मानी जाती है। तथा इसमे अपरिमेय शक्ति समाहित पायी जाती है। शब्द भी नाव के माध्यम से टूटकर स्वर लहरियों में प्रवाहित होने लगता है। फलस्वरूप गेयता के आधारभूत शब्द-अर्थ चेतना और रसात्मकता सभी उज्ज्वल और सूक्ष्म स्थिति में व्याप्त हो जाते हैं। शब्दों का महत्व उनके द्वारा प्रस्तुत मानसिक चित्र और ज्ञापित वस्तु के सामंजस्य में है। जिस वस्तु को चर्मचक्षु से नहीं देखा है उसका भी कल्पना मानस चक्षुओं के समक्ष ऐसा चित्र प्रस्तुत होता है जो अपने सौन्दर्य के निर्झर में

मानव के अन्तस को डुबा देता है, पर संगीत मे जब नाद की भावात्मकता सौन्दर्य की लहरियों में परिणित होने लगती हैं, तो मानव की अन्तरात्मा उसके भीतर डूब जाती है, सल्लीन हो जाती है और तीव्र मद स्वरो का अनुबंध हट जाता है। कण्ठ, मूर्धा और नाभि से नि सृत होने वाले स्वर माधुर्य और सौन्दर्य में परिवर्तित हो वीवरागता को जागृत करते हैं।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है अनाहत नाद उस नाद को कहते हैं जो बिना दो भौतिक वस्तुओ के टकराए स्वत विश्व मे गूजता रहता है। कबीर ने एक स्थान पर कहा है -

'तत्व झकार ब्रह्मांड माहि'

इसका तात्पर्य यह हुआ कि महाभूतों के परमाणु जिनसे यह जग्तष ना है निरन्तर गतिशील है, कम्पनशील है। उनमे आर्कषण और विकर्षण भी होता रहता है। एक-दूसरे के पास अति है, एक-दूसरे से हटते है। फलत उनके सानिध्य मे आकाश भी निरन्तर क्षुब्ध रहता है। प्रत्येक परमाणु क प्रकम्पन से जो ध्वनि निकलती है वह अति सूक्ष्म होती है परन्तु इन ध्वनियों का समुच्य नाद का वह विशाल समुद्र है जिसकी उत्तात तरगे समूचे विश्व मे व्याप्त है। चित्त का वाह्य विषयों की ओर से खीचने पर अगत्या नाद का यह भण्डार श्रणणेन्द्रिय के लिए गोचर हो जाती है। यहां एक बात ध्यातव्य है, पहले एकान्त में बैठने के बाद झीनी सी ध्वनि सुन पडती है। यह अनाहत नहीं है। परन्तु बहुत लोग उसे अनाहत समझ बैठते हैं। हमारा शरीर जो कि अखिल ब्रहमण्ड का एक सूक्ष्म रूप है, इसके भीतर शिराओं और धमनियों से निरन्तर रक्त संचार हो रहा है और भी विविध प्रकार की रासायनिक तथा दूसरी क्रियाए हो रही हैं। इस सबके फलस्वरूप भी कुवस्यन् उत्पन्न होता है। यह अनाहत नहीं आहत है परन्तु उसको सुनने का हमारा अभ्यास नहीं है। हमारे लिए नया है इसलिए हम उसे अनाहत समझ बैठते हैं। उसको सुनने में कार्य हानि नहीं है। थोड़ा सा चित्त एकाग्र होने पर यह आहत ध्वनि अनाहत के लिए प्रवेश द्वारा बन जाता है।

ज्यों-ज्यों चित्त की एकाग्रता बढती है और धारणा दृढ होती है, त्यों-त्यों दूसरी अनुभूतिया भी होती हैं। परन्तु वे हमारे काम नहीं आते। इसलिए हम उनकी ओर ध्यान नहीं देते। मनुष्य प्रकृति से उतना ही लेता है जितना उसकी वासनाओं की तृप्ति के लिए पर्याप्त होता है। परन्तु जब वासनाओं को दबाकर उनकी ओर से मुह मोड कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं तो इन्द्रियों के विषय अगत्या बिना प्रयास के हमारे आ जाते हैं। ज्यो-ज्यों हमें अनाहत नाद का अनुभव होता है, त्यों-त्यों दूसरी इन्द्रियों के विषय भी साथ-साथ अनुभव मे आ जाते हैं। नाद बिन्दु उपनिषद में अनाहत के सम्बन्ध में यह श्लोक आये हैं-

1- श्रुयते प्रथमाभ्यासे, नादो नाना विधो महान्।
वर्धमानस्तयाभ्यास , श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मत ।।

2- आदों जलधिजी मूत मेरी निर्झर सभव ।
मध्ये मर्दल शब्दाभो घंटाकाहलजस्तया ।।

3- अन्ते तु किकिवीवशयीण भ्रमर निस्वनः ।
इति नानाविधा नादा श्रृयन्ते सूक्ष्यम सूक्ष्मता. ।।

4- महपि श्रृयमाणे तु, महाभेयदिक ध्वनो ।
तत्र सूक्ष्म सूक्ष्मतंर, नाद भेदं परामृषेव ।।

5- धनभुत्सृज्य या सूक्ष्मे सुक्ष्मुत्सूज्य वा धने ।
रक्षमाणमपि क्षिप्तं, मनो नान्यत्र चलायेत ।।

जब पहले यह अभ्यास किया जाता है तो यह नाद कई तरह का होता है और बड़े जोर-जारे से सुनाई देता है, परन्तु अभ्यास बाद जाने पर वह नाद धीमे से धीमा होता जाता है। प्रारम्भ में इस नाद ध्वनि समुद्र बादल, झरना, भेरी की तरह होता है, परन्तु बाद में भ्रमर वीवा, वंशी तथा किकषी की तरह मधुर होती है। इस तरह ध्वनि धीमी से धीमी होती हुई कई तरह की सुनाई देती है।

1- संगीत रत्नाकर - शरंगदेव 1/3/3-9/.

इस अवस्था में जैसे अनुभव होते हैं उनका कुछ अनुमान सन्तों की रचनाओ मे दिये गये अवतरणों से होता है -

चुअत अभी रस भरत ताल जहा सबद उठे असमानी हो
बाजे बजै सितार बासुरी ररेकात मृदु बानी हो (कबीर)

एके नाम अधारा मे एकै ना आधारा हो
गगन मण्डल मे नौबति बाजै आठ पहर एक तारा हो (गुलाब साहब)

बंसी बाजी गगन मे मगन भया मन मोर
निर्वाण निर्गुण नाम है जाप लात्र अनहद तानको। (पलटू साहब)

दाहिने घंटा शेख बाजे बाए किगरी सरंगी,
मधुर मुरलि बाजै ज्योति एक बिराजवी। (जगजीवन)

विमल विमल ध्वनि उठि गगन सुनि स्वय हृदय रस उमगि अगावा।।
(बाबा राम लाल)

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आकाश में या मनुष्य के शरीर में सारंगी वंशी घंटा या शेख जैसी वस्तु नही है। इन शब्दों का व्यवहार तो केवल अन्तर्मुख होने पर जो अनुभव होता है उसको थोड़ा बहुत समझाने के लिए हुआ है। भारतीय संगीत दर्शन के अध्यात्म विचार से नाद का स्थान अत्यन्त विवादित माना गया है। वाणी शक्ति का वाहन है। शब्द के बिना विचार का कोई भी अस्तित्व नहीं है। सस्कृत की प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्य प्रदीप' में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि लोक में कोई प्रत्यय (आन) ऐसा नहीं है, जो शब्द के बिना प्राप्य हो, प्रत्येक आन शब्द से अनुबन्धित होता है। शब्द इस लोक एवं परलोक का आधार है, यदि संसार को ईश्व की विचार शक्ति का एक दृश्य स्वरूप मान लिया जाय तो इस दिव्य-कल्पना के स्पन्दन-रूप को संसार के प्रादुर्भाव का कारण मानना युक्ति संगत है -

न सोऽस्ति प्रत्यंयलोकं यः शब्दानुग माहतो।
अनुविन्द्धमिव आनं सर्व शब्देन भासते।।

इस प्रकार वावू से समस्त (विश्व) भूवन उत्पन्न हुए। वाक् से अमृत एवं मर्त्य संसार का प्रादुभार्व हुआ यथा -

वागेवविश्या भुवननिषज्ञे वाच इत्।
स सर्वममृत्त यद्यमर्त्यमिति श्रुति ।।

यह सत्य है कि अनादि परम्परा से ही ससार शब्द का ही परिणाम है। वे शब्द दो प्रकार के हैं - एक वर्ण रूप शब्द दूसरा गीतसप शब्द। दोनो रूप भिन्न होते हुए भी इनका आधार एक ही है। दोनो में ही विचार एव भावों को प्रकट करने का माध्यम ध्वनि है। संगीत भवोन्मेष - सरिता का वह स्रोत है जिसकी अविच्छिन्न परम्परा धरा दोनों के अन्तस्तव के मूर्त में निरन्तर अतिशयेन होती रहती है। दोनो के शास्त्रकार प्राय· एक ही है। आधुनिक विद्वानों ने प्राय· शब्द नाद और ध्वनि आदि के विषय में गम्भीरता से विचार नहीं किया। शब्द के रहस्य को समझे बिना ही वे प्राचीन आचार्यो के मत को कपोल कल्पना मानते हैं और स्वर वर्ण आदि के देवता जन्मभूमि, रंग आदि के रहस्य पर विचार करना आवश्यक व निरर्थक समझते हैं। नाद को आधार स्वरूप एवं कार्य को समझने में विचार करना अनावश्यक निरर्थक समझते है। नाद के आधार स्वरूप एवं कार्य को समझाने से विचार शक्ति के लिए गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता होती है। स्थान और प्रयत्न के भेद से विभिन्न रूप होते हैं जिसको श्रुटि कहते हैं। संगीत के स्वरों का आधार जैसा कि हम पूर्व में बता आए है, मध्यमा वाक् है। मध्यमा वाक् नाद रूप होने से श्रोतेन्द्रिय से ग्राह्य है। स्फोट रूप में वाणी के चार भेद हैं- (1) परा (2) पश्यन्ति (3) मध्यमा तथा (4) बैखरी। इनका संक्षिप्त विवरण सन्दर्भानुसार पूर्व में प्रस्तुत किया जा चुका है। -

परावाऽ मूलचक्रस्था पश्यन्तिनाभि संस्यिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया बैखरी कण्ठ देशामा· ।।
वैश्वमां हि कृतो नाद पर श्रवण गोचरः ।
मध्यमया कृतो नादः स्फोट व्यंजक उच्चतेः ।।

1- डा0 सम्पूर्णानन्द दर्शन, पृष्ठ - 151.

इस प्रकार स्फोटात्मक व्यजक शब्द समूह की प्रक्रिया ही संगीत है। शब्द ब्रह्म रूप में नित्य है इसलिए सगीत भी सर्वथा नित्य है। एतरेह ब्रह्मण के अनुसार वेद के शब्दों का उच्चारण मध्यमावाक् से करना चाहिए अर्थात गाना चाहिए वेद के शब्दों का सस्वर पाठ करने से बुद्धि संस्कृत हो जाती है यथा - 'साम्ध्यमया वाचा शंसत्यात्माननेवतत्संकुचते।'

इस प्रकार प्राचीन शास्त्रकारों ने गायन क्रिया पर विशेष बल दिया और प्राचीन ग्रन्थों के पक्ष मे रचे होने का भी यही कारण है। गद्य की अपेक्षा पक्ष पक्ष में अभिघा लक्षणा और व्यंजना शक्ति का तत्विक समावेश है। संग्रक्त गायन के आधार शिला पर सगीत आधारित है। सगीतज्ञो की हृदय तन्त्रियां तब तक झंकृत नहीं होती जब तक उनपर नादो के आघत नहीं होती। स्थान विशेष के भेद से प्रयत्न के दो रूप होते हैं - एक अभ्योतर और दूसरा वाह्य व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान पाणिनी ने लिखा है कि 'यत्नो द्विविधा आभ्यन्तरोषाहृयश्च' इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप नाद अन्तर्निहित है। आश्यन्त प्रयत्न में चार नाद होते हैं (1) स्पृष्ट (2) ईष्ट पृष्ठ (3) विहित और (4) संवृत, इन नादों के द्वारा संगीत के स्वरों में कम्पन्न होता है जिसके स्पर्श से शब्दों में व्यतिरेक उत्पन्न होते हैं -

स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानां स्वराणाय'।

वाह्य प्रयत्न के एकादश भेद होते हैं - विवार· संवार·, श्वासो, नादो, जोवो, अघोषो, अल्पप्राणि, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इन सब तथ्यों के आधार पर संगीत के यथावत् ज्ञान को समझना नाद के बिना संभव नहीं है। संगीत के मर्म को समझने के लिए नाद के शास्त्रीय विकास की पूर्ण जान्कारी परम अपेक्षित है।

मंत्रण के 'वृहददेशीय' में योम दर्शन का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है, जहां शास्त्र-निरूपण आरम्भ करने से पूर्व 'नाद' तत्व की विवेचना की गई

है। वृहद्देशी के आरम्भ मे ही 'ध्वनि' ध्वनि से बिन्दु 'विन्दु' से 'नाद' से द्विविध मात्र (स्वर व्यंजनरूपा) तथा शडजादि स्वर - इस क्रम में स्वरों की उत्पत्ति बताई गई है। ध्वनि बिन्दु नाद मात्र आदि सभी साए सीधे योग दर्शन से ली गई हैं। देशी - उत्पत्ति - प्रकरण में ध्वनि को 'पराचोनि' मूल कारण बताते हुए स्थावर सगम सम्पूर्ण जगत् को ध्वनि से आक्रान्त बताया है। यथा -

न नादेन बिना गीत न नादेन बिना स्वरा ।
न नादेन बिना नृत्य न तस्मान्नादत्मक जगत् ।।
नाद रूप स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दन ।।
नाद रूप परा शविल नार्द रूपो महेश्वर· ।
यदुक्तं ब्रह्मणः स्थाने ब्रह्मत्रुन्थिश्च यः स्मृत ।।
तनमध्ये संस्थित प्राणः प्रणापू वहिसमुद्रगम· ।
वाहि मारूतसयोगान्नाद समुपाणीयते ।।
नादादुत्पक्षते विंदुर्नाक्षत् सर्व च वाङमयम् ।
कन्दस्थानसमुत्यो हि, सच पंचणियो भवेत ।।
सूक्ष्मश्चैवति सूक्ष्मश्च समीर बचरन्नधः ।
ऊर्ध्व च कुरूते सर्वा नद पद्धति मुद्धताम् ।।
नंकारः प्राण इत्याहुर्दकारश्चानत्रो मतः ।
नादस्य द्विपदार्थोऽय समीचीनो मयोदिव ।।
नादो यं नादवेर्धातो स च पचविधोभवेत् ।
सूक्ष्मश्चैववति सूक्ष्मश्च व्यक्तो व्यक्तश्च कृत्रिम ।।
सूक्ष्म नादो गुहावासी हृदये चाति सूक्ष्मक. ।
कंठमध्ये स्थितो व्यक्त· अव्यक्तस्तातुदेशके ।।
कृत्रिमो सुखदेशे तु ज्ञेयः पंचविधो बुधै ।।

संगीत का मौलिक उपकरण 'स्वर' है जो आहत नाद से उत्पन्न होता है। नाद की उत्पत्ति 'प्राण' और 'अग्नि' के संयोग से होती है। 'प्राण' ब्रह्म ग्रंथि

1- महाभारत (नाद की प्रकाशिका विणा वाले में) मे श्री स्पष्ट रूप से कहते हैं

में रहता है। वह ब्रह्म इस सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति वर्धन और संहार का कारण है। महेश्वर नाद रूप है उनकी पराशक्ति जिसे योग 'चित्-शक्ति' आदि भी कहा है। नाद रूप है। ब्रह्मा, विष्णु-महेश भी नाद रूप है। नाद के बिना न स्वर है न गीत है न नाद है और न नृत्य है यहां तक की जगत् सम्पूर्ण व्यवहार ही नाद पर अवालम्बित है, इसलिए नाद के बिना कुछ नहीं है और नाद से ही सबकुछ है जीवन मे चेतना का प्रतीक भी स्पन्द रूप 'नाद' है, सम्पूर्ण सृष्टि ही 'नादत्मक' है। डा0 सुभद्रा चौधरी के अनुसार - नाद की उत्पत्ति धारण और विलय का आधार शरीर है। पुरूषार्थों का साधन भी यही देह है, सूक्ष्म शरीर में जन्म-जन्मान्तरों से संचित संस्कारों के भोग का उपाय भी यह मानव-शरीर है। सच्चिदानन्द स्वयं ज्योति ज्योति निरंजन निराकार निर्विकार, अज, अनश्वर, विभु अद्वितीय सर्वशक्तिमान परब्रह्म के अंश-जीव का विकास भी इसी बरतन में है तथा संगीतवादि कलाओं की साधना भी इसी शरीर से संभव है। शरीर की इस महत्ता के कारण गर्भ में आने से लेकर जन्म होने तक की सब अवस्थाओं का पचप्राण धातु गुहा अस्थि स्नायु रक्त-प्रवाहिका, शिरा-धमनी षटचक्र ब्रह्मग्रंथि आदि का निरूपण करके इस प्रकार की देह से 'मुक्ति-मुक्ति' का साधन, ध्यान, एकाग्रता आदि उपाय· उपयों की पुष्कारता- अनाहत नाद सुख का साधन देते हुए भी शक्ति विहीनता अत आहत नाद के श्रुति-स्वर आदि सुकर लोक रंजन भवभंजक उपाय के द्वारा मुक्ति-मुक्ति का एकाग्र साधन बताया।[2] संगीत रत्नाकर में 'नाद-स्थान' आदि के प्रसंग से नादोत्पत्ति की विधि 'नदि' शब्द की व्युत्पत्ति, नाद भेद नादों के स्थान श्रुति संख्या बाईस होने का कारण आदि का निरूपण किया गया है।

यथा- आत्मा विवक्षभाणो य मनः प्रेरयते मन. ।
देहस्थं ब्रहिनमाहन्ति स· प्रेरयति मास्तम् ।।
व्रहमग्रंथिस्थिता सोऽथ क्रमादूर्ध्वं पथेचरन् ।
नामि हत कंठ मूर्धा स्येष्वादिभोवयति ध्वनिम् ।।
नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्चपुष्टश्च् कृत्रिमः ।
इतिं पंचत्रिधाघत्ते पंचस्थार्नास्थित. क्रमात् ।।

निबन्ध संगीत - संगीत कार्यलय हाथरस लेख डा0 सुभद्रा चौधरी पृ0 3/9-

डा0 सुभद्रा चौधरी संगीतं निबन्धावली, पृष्ठ 321.

नकारं प्राणनामान दकारमनलं विप ।
जति· प्राणग्नि संयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ।।
व्यवहरित्वसौ त्रेधा हृदि मन्दोऽभिजीयते ।
कण्ठेमध्यो त्रुध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तर ।।
तस्य द्वाविशातिर्भेदा श्रवणाच्छुतयो मत ।
हृत्दयूर्ध्वनाडीसंलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्मता ।।
तिर्यश्चयस्तासु तावस्थ श्रुतयो मारूताहते ।
उच्चोच्चरतयुक्त प्रभाक्त्युत्तरोतरम् ।।

आत्मा मे मै ध्वनि उत्पन्न करणं' यह इच्छा होने पर परब्रह्मन को प्रेरित करती है, मन देह मे स्थित अग्नि पर आघात करता है, जो मारूत (वायु) को प्रेरित करता है तथा ब्रहमंगन्थ्रि में स्थित वायु क्रम से ऊपर उठती है और नाभि हृदय कंठ मूर्घा और मुख में ध्वनि का अर्विभाव करती है। यह ध्वनि अथवा नाद पांच प्रकार का होता है - अति सूक्ष्म, सूक्ष्म अपुष्ट, पुष्ट और कृत्रिम - जो क्रमशः पांच स्थानों में स्थित होता है। ये स्थान हैं - सूक्ष्म नाभि में सूक्ष्म हृदय में अपुष्ट तालु में, पुष्ट कंठ में और कृत्रिम मुख है। नाद में दो पर्ण हैं - ⁅।⁆ न और ⁅2⁆ 'दं' । 'न' प्राणवायु का और 'द' अग्नि का द्योतक है। इन दोनों के यानि प्राणवायु और अग्नि के संयोग से बना होने के कारण इसकी नाद संज्ञा सार्थक होती (न + द अण = नादः) संगीत के व्यवहार मे इसके तीन प्रकार हैं - हृदयगत नाद नाद को मन्द्र' कंठस्थित क। मध्य' और मूर्धा में स्थित नाद को 'तार' कहा जाता है जो क्रमशः दुगने - दुगेने उंचे हैं। इस नाद के बाईस भेद हैं, जो सुने जाने के कारण 'श्रुतिः' कहलाते हैं, हृदय और 'उर्ध्व बाड़ी' (सुषुम्ना) से सलग्न बाइस नाडियां हैं, जो तिरछी हैं और उपर की ओर बढ़ते हुए जिनकी लम्बाई क्रमशः घटती जाती है। उनके भीतर आकाश में वायु आघात होने पर श्रुतियां उत्पन्न होती हैं।

1- **संगीत रत्नाकर - प्रथम अध्याय प्रथम पद.**

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय संगीत-शास्त्र में बाईस ही श्रुतियों की मान्यता का आधार कितना वैज्ञानिक तथा स्थुल न होकर अत्यन्त सूक्ष्म है जिसे कि हमारे भारतीय मनीषियों ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व ही अन्त प्रेरणा से सिद्ध करके दिखा दिया था।

श्रुतियों की संज्ञाये उनकी सार्थकता, उनकी जातियां, उनका निरूपण मंत्रत के पश्चात् अनेकों ग्रन्थों में किया गा है जो कि योग दर्शन से प्रभावित हैं। स्वरों के ब्राहमणदि तथा श्वेत-पीतादि वस्त्र, ऋषि, देवादि, कुल, ब्रह्मादि देवता, नारदादि ऋषि बताना वैदिक परम्परायुक्त है, जिसमे मन्त्रोच्चारण से पूर्व प्रयोग-विधि जानने के लिए उनके ऋषि देवतादि का ज्ञान आवश्यक था। किस मंत्र का दर्शन किस देवता की उपासना में किया यही बताना ही ऋषि-देवता आदि कहने का प्रयोजन है। स्वर-ब्रह्म की उपासना में भी उसी विधि का प्रयोजन करके संगीत में भी स्वरों के ऋणि देववादि का निरूपण किया गया।

उपरोक्त अध्ययनोपरान्त सार स्वरूप कहा जा सकता है कि नाद-ब्रह्मही संगीत का स्वर एवं प्राण है। शक्ति का विकास होते ही स्वन्दन उत्पन्न होता है। हमारी इन्द्रियों में कर्णेन्द्रिय ही इस स्पन्दन को शब्द-रूप में ग्रहण करती है, इसलिए शास्त्र का शब्द-ब्रह्म कहा गया है।

संगीत रत्नाकर - शारंगदेव 1/3/3-5।

कुंडलिनी -

यह शरीर जिसे पिंड भी कहते हैं ब्रह्माण्ड का छोटे आकार का चित है ब्रह्माण्ड जो विभिन्न लोक है उन सबको एक प्रकार का नक्शा शरीर में खिंचा हुआ है। प्रत्येक चक्र बाहर से किसी न किसी विशेष से संबद्ध है और प्रत्येक चक्र मे वह देवता स्थित है जो उस बाहर के लोक का अभिमानी है। जैसे उदाहरण के तौर पर दूसरे चक्र अर्थात् स्वधिष्ठान का स्वामी ब्रह्मा तीसरे मणिपूरक का स्वामी विष्णु और चौथे अनाहत का स्वामी रूद्र है ज्यो-ज्यों प्राण इन चक्रों तक पहुचता है, त्यों-त्यों साधक को तत् का चक्र के स्वामी का दर्शन होता है और उसकी तत् तत् लोक में गति होती है, दो चक्रों के बीच सुषुम्ना का जो अंश पड़ता है उसमे प्राण ज्यो-ज्यों आरोहण करता है त्यों-त्यों साधक के बीच लोको से सम्बन्ध होता है। यह हो ही नहीं सकता प्राण अभ्यास करे और उसको इस प्रकार की अनुभूति न हो ।

यह एक ऐसा शब्द है जो योग सम्बन्धी वेदिक वाडमय मैं कही नहीं मिले जो योग सम्बन्धी वैदिक ब्राह्मण -2 कुडलिनि चर्चा प्राचीन वोद्धवाऽमय में भी नहीं है बुद्ध देव ने भी इसका कभी नाम नही लिया । 4 । तंजति और उनके भाष्यकार व्यास ने भी इस शब्द का व्यवहार नहीं किया है परन्तु तन्त्र ग्रन्थों में कुंडलिनी की चर्चा विशद् रूप से की गई है और अजका कुछ ऐसी मान्यता हो गई जो कुंडलिनी को जग नहीं उसकी योगाभ्यास की भूमिकाओं में कोई गति नहीं है ऐसी मान्यता है कि कुंडलिनी शक्ति पराशक्ति का रूप है। यह नागिन के आकार की है और शरीर में सादे वीन लपेटे मारकर पुछ मुंह में दबाए हुए नाभि में रहती है जब योगी प्राणायाम का अभ्यास करता है तो प्राण के अघात से निद्रा टूटती है और वह पूंछ को मुह से निकालकर ऊपर की ओर चक्र में चढ़ती है अंत में सहस्रत तक पहुंचती है। वह शिव शक्ति से मिलन ही है और योगी की मोक्ष मिलता है। यथा-

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डलीपिरदेवत
शयिधा मुणंगाडऽकरा सार्द्ध जि वलयाडवित ।

1- "जनरल ऑफ दी इण्डियन म्युजिकोलॉजी सोसाइटी" वाल्यूम (111) लेख विमल मुसलंगावकर घुन 1986.

कुण्डली का निवास कहां है और क्या काम करती है इसके सम्बन्ध में श्री शंकराचार्य के सौन्दर्य लहरी में श्लोक है -

सुधा धारा सरैच्चरण युगलांत छिगलितैः
प्रपंचं सिर्चंति पुनरपि पराभ्नायम हता ।
अवत्य स्वा भूमि भुजगनि ममध्यष्टलयं
स्वामामानं कृत्व स्वपिणि कुलकुण्डे कुहारिणी ।

इसका अर्थ यह है कि दोनो चरणो केषी विगलित होते हुए अमृत के धारा बिन्दुओं से प्रपच को सींचती हुई परमात्मा के ज्ञान को लोक में वितरित करती हुई अपने स्थान को प्राप्त करके अपने सर्पाकार बनाता है गर्त में रहने वाली आप कुलकंड में सोती हैं। इस श्लोक में कई शब्द ऐसे जिनका व्यवहार समधि भाषा में हुआ है दोनों चरणों में इंड़ा और जिंगला से है उनके मध्य में सुषम्ना है। योगाभ्यास करते समय प्राण सुषुम्ना में उर्ध्व गामी हो जाता है तो ब्रह्मरन्ध्र से अमृत की वर्षा होती है। प्रपंच से तात्पर्य शरीर से है। साधक शरीर को कुन्डलिनी के प्रवास ब्रह्मरन्दा से टपटपाते हुए अमृत के बिन्दु प्लावित करते हैं कुण्डलिनी पराशक्ति है वह मोक्ष की प्राप्ति का जो परमार्ग है उस मार्ग का मूर्ति मणिज्ञान है कुलकुण्डे का तात्पर्य नाभि से है। इस नाभिकुण्ड में निवास करने के कारण उसका कुहरिणी अर्थात गर्त्त में रहने वाली कहा गया है, वह सोती रहती है। साधक अपने अभ्यास के बल से उसको जगाता है, ज्यो-ज्यों वह सिधी होकर ऊपर चढ़ती है, शक्ति, ज्ञान और आनन्द का अनुभव होता है।

कुण्डलिनी का 'प्राण' काही नमानन्तर माना जाता है। प्राण शक्ति की प्रेरणा से ही शरीर भौतिक और बौद्धिक स्तर पर सारे कार्य होते हैं। प्राण शरीर में पराशक्ति और उससे अभिन्न परमात्मा का प्रतीक और प्रतिनिधि है। उसी प्राण का जो शरीर में पराशक्ति और उससे अभिन्न परमात्मा के प्रतीक और प्रतिनिधि हैं, उसी प्राण का जो आध्यात्मिक स्तर पर काम करता है और जिसका अनुभव प्रणायाम की अवस्था में साधक होता है, उसी का नाम कुडंलिनी है। साधारण

मनुष्य में यह सुसुप्तावस्था में रहती है, परन्तु जो मुमुक्ष होकर अध्यात्मिक जगत में प्रवेश करता है, और यम आदि के द्वारा अपने शरीर और चित्त को शुद्ध करके प्राणायाम की क्रिया पर आरूढ़ होता है। तो वह सोई हुई शक्ति का हठात जगाता है। कुंडलिनि को नागिन कहा गया है। नागिन का पर्याय सर्पिणी और सृप धातु का अर्थ है - रेंगना । जिस प्रकार सर्पिणी रेंगती है उसी प्रकार प्राण-शक्ति रेंगती हुई ऊपर चढती है। ज्यों-ज्यों वह उर्ध्वगामी होती है त्यों-त्यो साधक अपने स्वरूप के निकट आता जाता है और उसे ज्ञान शक्ति और आनन्द की अधिक से अधिक अनुभूति होती जाती है। सहस्रार मे पहुच कर यात्रा समृप होती है। जीव शिव हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा का कल्पित भेद मिट जाता है। इसी को शिवशक्ति का मिलन कहते हैं।

जैसा कि बहुत सी पुस्तकों में लिखा है, यदि पुस्तकों को पढकर कोई यह समझता है कि शरीर में साढ़े तीन लपेटे मारकर और अपनी पूंछ को अपने मुंह मे दबाकर कोई नागिन किसी जगह बैठी है तो यह उसका भविविभ्रम जब कोई ऐसी नागिन है ही नहीं तो सुषुग्ना के साथ उसके सहस्रार जाने की प्रश्न ही नहीं उठता यह ध्यातव्य है कि सहस्रार मस्तिष्क का ऊपरी भाग है। कुंडलिनी का नागिन कहना केवल अलंकारिक भाषा है। उसमें एक विशेष प्रकार की प्रविष्ट से काम लिया गया है। प्रतीकों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है इस पृथ्वीधारक नाग को शेषनाग कहा जाता है, नाग की आयु बहुत लम्बी मानी जाती है। कुंडलिनी रूप में प्राण शरीर का धारक है। इसीलिए कुंडलिनी को नाग शरीरधारी कहा गया है। प्रतीकों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पूँछ को अपने मुह में लिए हुये साप इस बात का प्रतीक माना जाता है कि जो आदि है वह अन्त है। शिव की पराशक्ति जगत् की कत्री भी है और सहत्री भी है। स्वयं अपने में से इस जगत रूपी प्रपंच को निकालती है। स्वयं उसको निगल जाता है, इसीलिए वह ऐसी नागन बताई गई है, जो अपने मुंह में अपने पूँछ को डाले रहती है। सत्य तो यह है कि कुंडलिनी 'वाक' का ही दूसरा नाम है। शरीर में वाक् ही पराशक्ति है। इसको पश्यन्त्री, मध्यमा या बैखरी ती और रूप भी है परन्तु इसका

सबसे सूक्ष्म रूप यह है जिसको 'परा' कहते है। यह परावाक ओंकार स्वरूप है। ओकार की तीन मात्राएं ऐसी हैं जिनका उच्चारण हो सकता है तथा आधी मात्रा वह है।

युनुच्चार्या विशेषतः ।

जो विशेष रूप से अनुच्चार्य है। इस प्रकार उकार की साढे तीन मात्राए हैं। कुडलिनि अर्थात् प्राण शक्ति यह पराशक्ति का दूसरा नाम है। इसीलिए इस नागिन को साढ़े तीन बालयुक्त कह सकते है। इसलिए इस नागिन शब्द का अर्थ अन्यथा न लिए जायं।

मनुष्य शरीर में नाभि स्थान को नाभि सरोवर ब्रह्म ग्रंथिन नभिहद आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। संगीत विशारदों का कथन है कि नाद की उत्पत्ति ब्रह्म ग्रन्थि से होती है ऊँ अथवा ओंकार को नाद ब्रह्म का सर्वोच्च उदगान माना गया है। ओंकार के दिव्यनाद का बलाघात मूलमंत्र कुंडलिनी शक्ति पर और चूल में शीर्षस्थ सहस्रार पर होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द कुंडलिनी का प्रबोध वैतालिक है उसे प्रबुद्ध करने वाला अति सक्षम शब्द है। इस मधुर मन्द छन्द शीर्ष को सुनकर बोध समाज्य को ऊर्धाश्वरी कुंडलिनी निद्रा का परित्याग कर देती है। एतावता ओंकार सुघुम्णा पथ के अवरोध का दूरयिता है और शिव के साथ शक्ति का, आत्मा के साथ परमात्मा का सम्बन्ध स्थापक है।

मानव में वृहस्पतित्व का उद्बोधन कुड नादः -

शास्त्रों की मान्यता के अनुसार जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही सब कुछ पिण्ड में है "यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे" जैसे ब्रह्माण्ड में इस दृष्टि का संचालन अग्नि वरूण सोम इन्द्र हरि नारायण रूद्र व वृहस्पति आदि देवता कर रहे हैं उसी प्रकार इस मानव पिण्ड में सूक्ष्म रूप में स्थित होकर ये देवता इस पिण्ड का संचालन कर रहे हैं। अथर्ववेद - 11/8 - सूक्त में मानव शरीर का वर्णन

हुआ है वहां अतः है कि रेत कत्याज्यं देव पुरूष भविशत् अर्थात देवता रेतस् (वीर्य) के आज्य (श्रृत) बनाकर पुरूष के अन्दर प्रविष्ट हो गए।

मस्माद् वे विद्वान पुरूषमिदं ब्रहमेति मन्यते।
सर्वा हयस्मिद देवता गावा गोष्ट इवास्ते।।

अर्थववेद 1/8/32

विद्वान लोग इसी कारण पुरूष को भी ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि इसमें से देवताओं का वास है। और ये सब देवता शरीर मे इस रूप मे स्थित हैं जिस प्रकार गौशाला में गाएं।

इस प्रकार इस शरीर मे वृहस्पति सहित सब देवता विद्यमान हैं। इन देवताओं के उद्बोधन व आविर्भाव के जहां जब तप व ध्यान आदि साधन बताए गए हैं, वहाँ ध्वनि व नाद भी एक साधन हैं। यह 'कुण्ड' ध्वनि क्रौन्च पक्षी की मानी जाती है। वेदों में जहां सब देवताओं के पशु व पक्षी आदि का वर्णन है वहां वृहस्पति का पक्षी क्रौन्च माना गया है वृहस्पति देवों का गुरू है। ज्ञान-विज्ञान व वेद-वाणी का अधिपति माना गया है। इस वृहस्पति देवता का मानव में कुंड ध्वनि से उद्बोधन होता है। अब हम इसी पंक्षी विषय पर संक्षेप में विचार करेंगे।

वैदिक साहित्य में क्रौन्च पक्षी का सम्बन्ध अंगिरस वृहस्पति से बताया गया है। वहां कुड, कुच तथा कोञ्च नामों से इसका उल्लेख हुआ है। वेदोत्तरकालीन कविजन हेस में नीरक्षीर की शक्ति को मान्यता देते आये हैं। वैदिक युग में इस शक्ति का वास क्रौच पक्षी माना जाता था इन दोनो यात्रि क्रौन्च और हंस के वर्णन में पर्थ वक्षय विवेचक शक्ति का होना दर्शाया गया है। क्रौन्च जल में मिश्रित क्षीर को पृथक करता है तो हंस सोम को अर्थात् कुज व क्रौन्च ने क्षीर को क्रोच वृहस्पतेः छन्दोग्योपनिषद[2] । 22 ।'

1- लेख जे0सी0 नारायण राजस्थान पत्रिका पृष्ठ 14 (शरीर वीणा सूक्ष्म केन्द्र बिन्दु) वाले में.

जल से पृथक कर पान किया तो हंस ने सोम की। मन्त्रो के आधार पर हम कह सकते हैं क्रुंड और हंस दोनो में जल मिश्रित क्षीर और सोम को पृथक करने की शक्ति विद्यमान होती है। परन्तु इन मन्त्रों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है। मन्त्रो का अन्तिम लक्ष्य केवल पक्षी की ही शक्ति का निर्देश करना नही है वरन् पार्थञ्य करने की शक्ति जिस व्यक्ति मे होता है वह क्रुंड और हंस नाम से व्यवहृत होता है। यह पार्थवय शक्ति साधना द्वारा आगिरंस वृहस्पति तथा हंस नाम व्यक्तियों में उत्पन्न हो जाती है। मन्त्रो का वास्तविक तात्पर्य यही है। मन्त्रों के आधार पर यह कहा जात सकता है कि वृहस्पति धी 'बुद्धि' द्वारा क्षीर सृष्टि तत्व सोम का पान करता है तो हंस नामक योगी छन्द = सुदम = प्राणशक्ति द्वारा पान करता है। इस दृष्टि से मन्त्रो यजर्विद 19/73/74 आंगिरस प्रबल प्राण शक्ति सम्पन्न वृहस्पति क्रुंड ध्वनि द्वारा सर्वत्र अभिव्याप्त जल तत्व में से बुद्धि बल से क्षीर रूपी सारतथ को खींच लेता है और (अन्धास) सोम रूप अन्न से उत्पन्न हुए शुक्र जो कि इन्द्र और इन्द्रियों का विशेष देव है तथा जो सत्य अमृत तथा मधुर है इस कृतशक्ति से प्राप्त करता है।

यह मन्त्रो का सामान्य अर्थ है यह सोमन द्युलोक का रस है। दिव पीयूष दिवः कवि । जो कि सूर्परश्मिय। चन्द्र रश्मियों तथा अन्तरिक्ष थआपस्तत्व द्वारा पृथ्वी पर आता है और औधिकी वनस्पतियां को परिपुष्ट करता है।[3] इस भौतिक अन्न के भक्षण से यह सोम तत्व रस रक्त आदि रूप में परिणित होता हुआ अन्त में वुज्र (वीर्य) तथा ओज रूप को धारण करता है।

1- अदभ्य. क्षीरं व्यपिबत् क्रुड अंगिरसीधिपा। वहतेन सत्य मिश्रियं यं विषानं शुक्रमन्धसु इन्द्रस्यंन्द्रियमिष पयोऽमृत मधु।

2- समदभ्यो व्यापिबत छन्दसाहषः सुचिलता। तृप वेन सत्यमिन्द्रिय (यजुर्ववेद) 31/- 38

यही अन्तिम शुक्ररूप तत्व जो कि ऊपर मन्त्र में आता है, वेद के शब्दों में क्षीर है क्षीपद क्षरणशील क्षए धातु से निश्फन्न होता है। अन्नादि में रसरूप में क्षरित होता है अत इसे क्षीर कहा जाता है। चरक में कहा है, ओज सोमात्मक स्निग्धं अर्थात् वीर्य से समुत्यफन्न ओज सोम है। इन्द्रिय द्वय मस्तिष्क' द्रव ये सब द्रव सोम रूप है, ये ही मनुष्य मे सामान्य चेतन या दिव्य चेतना के जनक हैं। अन्न से रस रक्त आदि क्रमिक रूप से परिणत शुक्र को तो सामान्य व्यक्ति भी किसी अंश में जो बुद्धि द्वारा पान करते ही है। पर आगरस वृहस्पति क्रुडध्वनि द्वारा सीधा धुलोकस्य व अन्तरिक्षस्य आपस्तत्व से लेता है। भन्त्र के अनुसार भी -

सोममन्यते पथिवाम् यत् सम्पिश्नत्येबांधिम्

सोमयं ब्रह्मणो विदुर्नतस्यानान्तिदर्थिवः ।।

अर्थात साधारण जन औषधियां घोटते पीसते और पानकर यह समझते है कि हमने पार्थिव भोगों में रमने वाला व्यक्ति भक्षण नहीं कर सकता।

ब्रह्मवेत्ता लोग सोम का पान करते हैं वह दिव्य सोम है छुलोक का अमृत तत्व है। इस सोम रूपी अमृत का पान वृहस्पति बुद्धि द्वारा करता है और इसमे क्रुड ध्वनि क्रोन्च-साम सहायक होती है जिस प्रकार वीणा वस्तिर आदि की तारे झंकृत होकर मजुत ध्वनि को उत्फन्न कर भाव के मन बुद्धि पर प्रभाव डालती है। उसी प्रकार तदनुकृति में मुख से क्रुड ध्वनि मस्तिष्क वीणा की तारो को झंकृत करती रहती है। इसमें मस्तिष्क की नस नडियां सक्रिय व गतिशील रहती हैं, बुद्धि में प्रखरता आती है, विद्या ब्रह्मवर्चस, तेज आदि मनुष्य में प्रादुर्भाव होती है। इस दृष्टि से हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने विद्य की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के हाथ में वीणा पकड़ाई।

क्रोन्च साम और वृहस्पति -

वैदिक युग में राग रागनी शब्दों के स्थान पर 'साम' शब्द का प्रयोग होता था भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शक्तियों उद्भावन रोग निवारण तथा शत्रु

विनाश आदि के लिए नाना प्रकार की सामों का गायन किया जाता था। इन सब सामो का वर्णन सामवेदीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। क्रौन्च सामवृहस्पति का साम है क्रौन्च शब्द अनुकृति जन्य है। अमरकोष के टीकाकार क्षीर स्वामी ने लिखा है -

कवाक - इन तीनों शक्तियो का परस्परिक में ही सच्चा संगीत है। उसी की संज्ञा परिपूर्ण मानव जीवन है। जीवन रूपी संगीत ही नाद ब्रह्म या वागदेवी की वीणा है जिसके सप्तक में विश्व के आनन्द की सप्त धाराए मूर्त्तरूप ग्रहण करती हैं। संगीत की सच्ची साधना वही है, जिसके फलस्वरूप मानव का मन उसे उच्चतर सूक्ष्म नाद का अनुभव करने के योग्य बन सके। वेदों में कहा है कि यह पृथ्वी गायत्री छंद हे, इसका अहोरात्र एवं स्वत्सर का परिभ्रमण छन्दयुक्त है। उसी छन्द से वृक्ष-वस्पति, पशु-पक्षी एव मानव के जीवन या प्राण का नियमित स्पन्दन जन्म ले रहा है। 'गायन्त-त्रापते' - जो गान करने वाले की रक्षा करती है वह गायत्री है। मानव जीवन प्रकृति के मधुर सूक्ष्म संगीत का प्रकट-रूप है। वह गायत्री छन्द के त्रिकात्मक स्पन्द से बनहि। 'गायतो मुखादुदपतदिति हवाहुमणं-जो गान करता है उसके मुख से गायत्री का जन्म होता है। इस कथन का गूढ अर्थ समझना चाहिए। संगीत केवल वाणी का सौन्दर्य नहीं। यह तो मन प्राण और भौतिक शरीर - इन तीनों का समन्वित साधना है। वाक या वाणी पंचभूतो का प्रतीक है। पंच-भूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है। आकाश को वन्मात्रा या गुण शब्द या वाक् है। शब्द गुणक आकाश शब्द से ही शेष तन्मात्राओं की रचना होती है। इस द्रृष्टि से वाक या नाद ही पंचभूतात्मक द्रृष्टि है। वह अपरा वाक् है। परवाक वह है, जिसे अक्षर-ब्रह्म कहते हैं, जो विश्व का अव्यक्त मूल है। ये ही नाद के रूप है, अनाहत और आहत। आहत से कहीं सूक्ष्म व्यापक और प्रभावशाली अव्यक्त अनाहत नाद या परावक है। उसे ही अनन्त सहस्त्राक्षश वाक् भी कहते हैं। योगस्थ मन से उसी परम संगीत का दर्शन प्राप्त होता है -

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातम।

प्रत्यक्ष संगीत और परोक्ष आनन्द का अनुभव इन दोनो का समन्यव करना ही नाद की सफलता है।

(डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल) संगीत 1960 पृष्ठ

जिस व्यक्ति में वह अग्नि जागृत है कि मुझे ब्रह्म वचेस्व की प्राप्ति करनी है, वही व्यक्ति सफल हो सकता है। इसलिए मंत्र में अग्नि को संबोधित किया गया है। यह अग्नि संकल्पाग्नि है। यही तथ्य निम्न मन्त्र से भी उजागर हो रहा है, वह पिवस्पृष्ठ मधिपिष्ठन्ति चेतना ऋ0 6/83/2 अर्थात चित्र के द्वारा छुलोक के पृष्ठ पर अधिष्ठित होते है। यह स्थिति तभी संभव है जबकि मन अत्यन्त एकाग्र हो। तानपूरा आदि वादो की ध्वनि तथा तत्वबन्धित क्रुंड के अतिरिक्त अन्य कोई भी वाह्य ध्वनि कान में न पडे। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने पर साधक मे ब्रह्म तेज का उदय हो जाता है।

चेतना प्रवाह का द्युलोक की और ऊर्ध्वारोहण इस लिए है कि दिव्य ज्ञान व दिव्य शक्ति आदि का मनुष्य में अवतरण द्युलोक से ही होता है। द्वादशाह पद भी इसी तथ्य को प्रकट कर रहा है। द्वादशाह पद के स्पष्टीकरण के लिए संक्षिप्त टिप्पणी इस प्रकार है -

यह द्वादशह कर्मकाण्ड सम्बन्धी एक पारिभाषिक शब्द है। ब्राह्मण ग्रन्थो में इसे देवो का निवास संस्थान द्युलोक बताया गया है। यथा ओ कोवै देवना द्वादश हो यथा वै मनुष्या इमं लोकमाविष्टा एव देवता द्वादशाहमविष्टा गुहा वे देवानां द्वादशांह ।

अर्थात द्वादशाह देवो का ग्रह है। जिस प्रकार यह पृथ्वी लोक मनुष्यों का निवास स्थान है, उसी प्रकार द्वादशाह देवों की निवासी भुमि है। ब्रह्माण्ड में यह द्वादशाह द्युलोक है तो पिण्ड में वह हमारा मस्तिष्क भी द्वादशाह कहा गया है। क्योंकि सब देवता भी अपने अंश रूप में विद्यमान हे। द्वादशाह अहन द्वलोकस्थज्योति तथा मस्तिष्क ज्योति के 12 विभागों की ओर संकेत है। अहत पद ज्योति विभाग का सूचक है। द्वादिशाहदिव्या इसी भांति बुद्धि-सूर्य के भी 12 विभाग दिये जाते हैं। द्युलोक की वाक् को भी द्वादशाह कहते हैं। तै0सं0 7/3/1/3 में कहा है कि वाग व एषा वितता पद द्वादशाह में कुड ध्वनि का मेल होता है, जिससे कि मस्तिष्क का वाक् सक्रिय होकर दिव्य ज्ञन का आविर्भाव होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों

मे इस द्वादशाह अहन् को एष्य (एषणीपम्) (साचदाचार्य) कहा है। एष्य का अर्थ प्रापणीय है अर्थात् क्योकि वह स्वर्ग है। सभी व्यक्ति स्वग जाना चाहते हैं इस स्वर्ग प्राप्ति मे जहां अन्य साधन हैं वहां कुड ध्वनि भी एक साजन है कहा भी है-

कुड श्यामहरविन्दत् एष्यभिवर्वषष्ठमेहर्वते, विददन्ति - ता0प्र0 13/6/11/

यहा तक की बात का स्पष्टीकरण अथवा समाधान करना उचित होगा कि बाण्ड्यब्राह्मण से क्रोंच साम षष्ट अहन् (छु-मस्तिष्क) से सम्बन्ध रखता है। ऐसा निर्देश किया है और जे0प्र0 3/32 मे यह क्रैनवं साम् द्वितीय अहन मे बताया गया है। अब प्रश्न है कि कौन सा कथन ठीक है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो ही ठीक है। ताण्डव ब्रह्मण मे पृथ्वी से लेकर द्वलोक तक तथा पिण्ड से नीचे जाघ से लेकर सिर वनक छविभाग चित्ति (अग्निकथन) की दृष्टि से किये गये हैं। पर जैमिनीय ब्रह्मण मे वृहत्त और रथन्तर की दृष्टि से ही दो विभाग किये हैं। इसी प्रकार मानव पिंड म भी समझना चाहिए। अत: मध्यम स्वर मे गठित क्रौन्च सामक मान मे मस्तिष्क की वाक् का उदबोध होता है, जिससे किदिव्य शक्तिया व दिव्य ज्ञान प्रस्फुटित होता है। वहस्पति बनने के इच्छुक व्यक्ति को यह क्रौन्च साम अत्यन्त सहायक हैं।

ता0प्र0 13/6/17 में क्रौन्च साम को रज्जु भी कहा है। रज्जु कौच्चम (रज्जु) कहने का प्रयोजन यह है कि देवों द्वारा (प्रत्यागौ) को यह बांधे रखता है। प्रत्ता गौ एन्द्रियिक दिव्य शक्तियां है जो कि वह आवश्यक नाहि उत्पन्न होकर सदैव विद्यमान रहे। वह क्रौन्च साम उनको मस्तिष्क में बांधे रखता है। क्रौन्च साम जिन ऋचाओं पर गाया जाता है वे पृच रूप में कई है। विस्तार भय से उन्हें दर्शाना उचित नहीं है। इस प्रकार जहां संक्षेप में क्रौच्च पक्षी की कुड ध्वनि की अनुभूति निर्मित में क्रौन्च साम से ब्रह्मवर्चसहिव का प्रादुर्भाव तथा स्वर्ग प्राप्ति होता है - वह दर्शाया गया है।

जो वाणी प्रकट हो रही है, उसे तो हम सब जानते हैं, परन्तु उसके जो तीन आभ्यान्तर रूप हैं, उन्हें सब नहीं मनीषी ब्राह्मण ही जान पाते हैं 'त्रीणी पदा

मे इस द्वादशाह अहन् को एष्य (एषणीपम्) (साचदाचार्य) कहा है। एष्य का अर्थ प्रापणीय है अर्थात् क्योकि वह स्वर्ग है। सभी व्यक्ति स्वग जाना चाहते हैं इस स्वर्ग प्राप्ति मे जहा अन्य साधन हैं वहां क्रुड ध्वनि भी एक साजन है कहा भी है-

क्रुड श्यामहरविन्दत् एष्यभिवर्वषष्ठमेहरर्वते, विददन्ति - ता0प्र0 13/6/11/

यहां तक की बात का स्पष्टीकरण अथवा समाधान करना उचित होगा कि बाण्ड्यब्राह्मण से क्रोंच साम षष्ट अहन् (छु-मस्तिष्क) से सम्बन्ध रखता है। ऐसा निर्देश किया है और जे0ब्र0 3/32 मे यह क्रैनव साम् द्वितीय अहन मे बताया गया है। अब प्रश्न है कि कौन सा कथन ठीक है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो ही ठीक है। ताण्डव ब्रह्मण मे पृथ्वी से लेकर द्रलोक तक तथा पिण्ड से नीचे जाघ से लेकर सिर वनक छविभाग चित्ति (अग्निकथन) की दृष्टि से किये गये हैं। पर जैमिनीय ब्रह्मण म वृहत्त और रथन्तर की दृष्टि से ही दो विभाग किये हैं। इसी प्रकार मानव पिड म भी समझना चाहिए। अत. मध्यम स्वर मे गठित क्रौन्च सामक मान मे मस्तिष्क की वाक् का उदबोध होता है, जिससे किदिव्य शक्तियां व दिव्य ज्ञान प्रस्फुटित होता है। वहस्पति बनने के इच्छुक व्यक्ति को यह क्रोन्च साम अत्यन्त सहायक हैं।

ता0प्र0 13/6/17 में क्रोन्च साम को रज्जु भी कहा है। रज्जु कौच्चम (रज्जु) कहने का प्रयोजन यह है कि देवों द्वारा (प्रत्यागौ) को यह बांधे रखता है। प्रत्ता गौ एन्द्रियिक दिव्य शक्तियां है जो कि वह आवश्यक नाहि उत्पन्न होकर सदैव विद्यमान रहे। वह क्रौन्च साम उनको मस्तिष्क में बांधे रखता है। क्रोन्च साम जिन ऋचाओं पर गाया जाता है वे पृच रूप में कई है। विस्तार भय से उन्हें दर्शाना उचित नहीं है। इस प्रकार जहां संक्षेप में क्रौच्च पक्षी की क्रुड ध्वनि की अनुभूति निर्मित में क्रौन्च साम से ब्रह्मवर्चसहिव का प्रादुर्भाव तथा स्वर्ग प्राप्ति होता है - वह दर्शाया गया है।

जो वाणी प्रकट हो रही है, उसे तो हम सब जानते हैं, परन्तु उसके जो तीन आभ्यान्तर रूप हैं, उन्हें सब नहीं मनीषी ब्राह्मण ही जान पाते हैं त्रोणी पदा

निहिता नेगयन्ति' - वाणी के तीन पद भीतर छिपे हैं इंगित नहीं हो रहे हैं। 'तुरीयं वाचो मनुष्या वाचो मनुष्या वदन्ति' वाणी का चतुर्थ रूप ही व्याकरण का विषय बनता है।

प्राचीनकाल की वाणी अव्याकत थी। देवों ने इन्द्र से कहा - हमारी इस वाणी को व्याकृत कर दो। इन्द्र ने कहा - 'अच्छा' मेरे लिए और वायु के लिए यह साथ-साथ ग्राह्य बनेगी। इसीलिए इन्द्र और वायु सम्बन्धी वाक् एक साथ ग्रहण की जाती है। इन्द्र ने उस वाणी को बीच से चीरकर या क्रम-विच्छेद करके व्याकृत कर दिया। इस हेतु यह व्याकृत वाणी बोली जाती है।

इन शब्दो के द्वारा तैत्तरीय संहिताकार इन्द्र को प्रथम वैयाकरण मानता है। महर्षि शकरापत्र गृकतन्त्र में ब्रह्मा को सर्वप्रथम व्याकरण मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्मा ने इस शास्त्र का ज्ञान वृहस्पति को दिया। वृहस्पति ने इन्द्र को को इन्द्र से भारद्वाज को भारद्वाज से ऋषियों को और ऋषियों से ब्रह्मा को प्राप्त हुआ। पतजलि ने अपने महाभाष्य में इसी तथ्य का समर्थन किया है। ब्रह्मा को उन्होंने छोड़ दिया है और लिखा है - वृहस्पतिश्चवक्ता। इन्द्रश्च अध्येता दिव्यं वर्षमहस्त्रम अध्ययन कालः । अन्तम च न जगाम। पश्यशहूनिक। वृहस्पति वक्ता थे। इन्द्र विद्यार्थी थे। सहस्त्र दिव्य वर्षों तक अध्ययन का क्रम चला परन्तु व्याकरण शास्त्र का अन्त न मिला।[2]

संगीत कला विहार नवम्बर 1977 भवदत्र वेदालंकार वेद मलण्ड 'वाग व पराची अव्याकृता 'अवदत्'। ते दवा इन्द्रमब्रदन इमां नो वार्चण्यियाकुरूइति। सो ब्रीवीत नरं वृण। महयं चैवेष वापवे च सहग्रहयत. इति। तस्याम् एन्द्रवायवः सहग्रहयते। तामिन्द्रो मण्यतो अवक्रम्य व्याकरोत् तहमादियं व्याकृता वागुजते।'

तैत्तिरीय संहिता, डॉ0 मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ - 332.

वैदिक संस्कृत एवं सभ्यता डा0 मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ - 352.

शंकरायन ब्रह्मा को मूल वैयाकरण मानते हैं तो एक साम्प्रदायिक किवदन्ती महेश्वर को यह गौरव प्रदान करती है। पाणिनी के प्रत्याहार सूत्र महादेव की डमरू की ध्वनि मात्र है। महेश्वर ने भी वृहस्पति को ही व्याकरण की शिक्षा दी थी और वृहस्पति ने इन्द्र को मूल से निसृत होकर व्याकरण अपनी गुरूता में कम होता है। महेश्वर (या ब्रह्म) व्याकरण समुद्र या तो वृहस्पति का व्याकरण-ज्ञान अर्थकुम्भ-भारित जल के समान रह गया। उसका भी रातांश भागएन्द्र व्याकरण बना और पाणिनी के पास तो कुशाग्र बिन्दु ही रह गए।

वृहस्पति को ज्ञान और वाणी का स्वामी माना गया है, परन्तु वेद शास्त्रों तथा पुराणों आदि में इसके वृहद रूप हैं वेसें वृहस्पति कष्ट या आपदाओं निवारण गरने वाले देवता हैं तथा मंगलकर्ता हैं। इसका दूसरा नाम वृहस्पति भी है। यह स्वर्ण वर्ण तीक्ष्णश्रांग और कृष्ण पृष्ठ वाला है। इसके हाथ में धनुष वाण और परशु रहता है। इसके रथ के घोड़े रक्तवर्ण के हैं। यह मन्त्रों का प्रेरक है। अतः इसके बिना यज्ञ सफल नहीं हो सकता। वैयक्ति प्रभाव के अतिरिक्त परिस्थितियां भी जीवन को कभी-कभी बुरी तरह झकझोर देती है। ऐसी अवस्था में व्यक्तित्व में असन्तुलन अथवा अस्वास्थ का आ जाना स्वाभाविक है। व्यक्तित्व में असन्तुलन अथवा अस्वास्थ का आ जाना स्वाभाविक है। व्यक्तित्व में इस अस्वास्थ्य के कारण विधि के स्थान पर निशेध और भावात्मकता के स्थान पर आभावात्मकता का अनुभव होने लगता है। जीवन के इस निषेध-परक पक्ष का जब निरसन नहीं हो जाता, तब तक उसमें चारूता का सन्निवेश नहीं हो सकेगा। निम्नांकित मंत्र में प्रार्थना की गई है कि प्रभु (वृहस्पति) मेरे इस जीवन की न्यूनता को आभावात्मकता को दूर करे -

---

ऋग्वेद में इसके ।। सूत्र हैं और अन्य दो सूक्तों में इसका इन्द्र के साथ वर्णन मिलता है (मा0 4 सूक्त 50 पृका)। कुछ विद्वान इसे यज्ञ का प्रकार होने के बाद का देवता मानते हैं। उनके मतानुसार यह पहले प्रार्थना का देवता था परन्तु बाद में बलिदान का देवता हो गया।

ऋगवेद पर एक दृष्टि महामहोपध्याप पं0 विश्वेश्वरनाथ रेउन प्र0 सन 1967.

मोती लाल बनारसी दास दिल्ली, पर-।। वाराणसी

"थम्भे छिन्द्र चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृणम।
वृहस्पतिर्मे तदर्दधातु शन्नो भवतु भुवनस्यपस्पति।।

अर्थात् वृहस्पति वृहत्त लोको का पति है अथवा सबसे बडा रक्षक है जो अनेक सौर परिवारों का पालन कर रहा है, जो किसी भी ब्रहमाण्ड के तन्त्र को विच्छिन्न नहीं होने देता, जो ताने-बाने के रूप में विश्व रूपी वस्त्र का वपन करके उसे सुरक्षित रखता है, यदि कहीं तागा टूटता है तो तुरन्त उसे जोड़ देता है, जहां धनात्मक शकित की न्यूनता होने लगती है वहीं अपने अपार प्राणधन में से शक्ति भेजकर न्यूनता को दूर करता रहता है, ऐसा वृहस्पति मेरी न्यूनताओं को भी दूर करे।

नाद के स्पन्दन की भिन्न अवस्थायें ही वर्णो और स्वर के रूप में जीवन ब्रह्म की अभिव्यक्ति के निम्त्ति कारण बनी। गंधर्व वेद का लक्ष्य इस गूढ़ रहस्य का उद्घाटन है। प्रणव की उपासक और आहत नाद की साधना, दोनो उसी मूल तत्व के साक्षात्कार का प्रयत्न है। स्थिति प्रज्ञ की स्थिति में महर्षियों ने उसके अनहत रूप का आस्वादन किया है। अनाहत की असम्प्रज्ञात स्थिति में पहुंचने के लिए सम्प्रज्ञात आहत ही एक मात्र सहज तथा लोक रंजक अवलम्ब है, इसलिए जगत में गायन-वादन की महत्ता अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक है। चित्तवृत्तियों को समाविष्ट कर संगीत के द्वारा जो अनुष्टा भाव-समाधि प्राप्त करेगा। उसके समक्ष नाद का स्वरूप निःसंदेह प्रगट होगा और उसे परब्रह्म की प्राप्ति होगी। इसीलिए 'यज्ञवल्क्य स्मृति' में कहा गया है -

वीणा-वादन तत्वज्ञः श्रुति जाति विशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्ष मार्ग निगच्छंते ।

अर्थात् जो वीणा वादन का तत्व और श्रवियों की जाति तथा ताल जानते हैं, वे बिना प्रयास के ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

संगीत के उद्गम या मूल स्त्रोम के विषय में श्री भाजावी, श्री अरविन्द आश्रम के विचार बड़े अध्यात्मिक एवं मनन करने योग्य है, उनका कहना है कि-

'क्योंकि संगीत का मूल गुण तो आता है उस प्रदेश से जहां उसका मूल तत्व है। उद्गम या मूल स्त्रोम का अर्थ है वह वस्तु जिसके बिना किसी चीज का अस्तित्व ही न रहे कोई भी चीज स्थूल रूप में तब तक प्रकट नहीं हो सकती पृथ्वी पर जब तक कि उस पर मूल सिकी उच्चतर सत्य में न हो। इस तरह स्थूल सत्ता का उद्गम और अपनी प्रेरणा प्राण लोक में होती है, फिर प्राणमय लोका उद्गम और प्रेरणा उसके पीछे मनोमन लोक में मनोमय लोक का मानसोत्तरलोक में।'

उपरोक्त क्रम में ही श्रीमाता जी सेगी की मोहनी शक्ति के कुंडलिनी स्थान से सम्बद्ध करते हुए कहती हैं कि -

संगीत के मूल में एक क्रम धारा है। उदाहरणार्थ, संगीत की दूरी - ऐसी है जो उच्चतर प्राण लोक से आती है, वह बड़ी मोहनी शक्ति है, शायद कुछ महीन भी होती है, कुछ ऐसी चीज है जो तुम्हारे स्नायुओं के चारों तरफ मानो लिपट जाती है और उन्हें ऐंठ देती है, वह तुम्हारी कमर के आसपास नभिकेन्द्र (कुण्डलिनी स्थान) में तुम्हें पकड़ती है और एक तरह से तुम्हें अभिभूत कर डालती है।[2]

कुंडलिनी जगाने के संदर्भ में कुछ इस प्रकार के विचार डा0 सम्पूर्णानन्द ने अपने योग दर्शन में प्रस्तुत किये हैं।

डॉ0 सम्पूर्णानन्द के अनुसार -

यदि साधक आसन पर स्थिरता से बैठा और अपने चित्त में एकाग्रता ला सके है तो उसको वह अनुभूति होनी चाहिए जिसको कुंडलिनी जगाना कहते हैं, या प्राण का आयाम कहा जाता है। शरीर स्तब्ध हो जाएगा। ऐसा स्पष्ट मालूम होगा कि नीचे की तरफ से कोई चीज ऊपर की ओर बढ़ रही है, पीठ की ओर से रंगती हुई ऊपर जा रही है सीने पर एक प्रकार का तनाव प्रतीत होगा। कंठ कुछ अवरूद्ध सा हो जाएगा। एक प्रकार से डर छा लेगा और संभव है कि कोई डराक्नी वस्तु भी दिख पड़े। इसके साथ ही कुछ और भी अनुभव होंगे। यदि इस प्रकार का अनुभव हो तो यह साधक का बड़ा भाग्य है। कदापि डरना नहीं चाहिए।

यदि डर हुआ कि शायद मेरी मृत्यु न हो जाय या किसी अन्य प्रकार का विचलन हुआ तो फिर यह अनुभव क्षण भर मे समाप्त हो जाएगा। प्राण फिर नीचे चला जाएगा। कुंडलिनी जहां से उठी थी वहीं जाकर फिर सो जाएगी।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुंडलिनी 'वाक' का ही दूसरा नाम है। वाक् अथवा वाणी के स्वामी वृहस्पति हैं। शरीर में वाक् ही पराशक्ति है। उसके तीन रूप और भी यथा पश्यन्ती वाणी, मध्यमा वाणी तथा बैखरी वाणी. परन्तु उसका सबसे सूक्ष्म रूप वह है जिसे धरा0 कहते हैं। यह परावाक् ओंकार स्वरूप है। वाक् रूपी यह कुण्डलिनी नाभिकुण्ड मे निवास करती है। साधक अपने अभ्यास के बल से उसको जगाता है फिर ज्यों-ज्यों वह सीधी होकर ऊपर चढती है (सहस्रार की ओर) शक्ति ज्ञान और आनन्द का अनुभव करता है।

विश्व के मूल में निहित समष्टिगत आनन्द का मानव के लिए अभिव्यक्त रूप संगीलत या नाद है। उस मनुभार आनन्द की कुर्मिया संगीत के तरंगित स्वरों की वहरिया है। वेद विद्या के अनुसार छन्दोमपी अनुभूति ही सृष्टि है। यह समस्त विश्व छन्द की शक्ति मे जन्म लेता है और छन्द से ही प्राणवन्त है। छन्दो का विस्तार ही साम संगीत है। मन, प्राण और वाक् इन तीनों शक्तियों का पारस्परिक मेल ही सच्चा संगीत है।

1- भारतीय संगीत का इतिहास, श्रीधर परांजपे, पृ0- 212.
2- संगीत निबन्ध कार्यालय हाथरस, डा0 सुभद्रा चौधरी, पृष्ठ - 34.
3- शरीर लक्षणं विनयका: पार्श्वदेकृता श्लोका सिंह भूपालेन.
4- संगीत समयासार - अनु0 आचार्य वृहस्पति - 30.
5- श्लोक पार्श्वदेव कृत सगीत समयासार में उद्धृत है अन0 आचार्य वृहस्पति, पृष्ठ 31-32.

नाद की प्रकाशिका वीणा

वीणा वेदकालीन वाद वाद्य है, इसकी मधुर झंकार में प्रकृति की प्रत्येक कला ताल के साथ नृत्य करती है। ज्ञान, ध्यान और आनन्द की अधिष्ठात्री, भगवती सरस्वती अरू स्थान पर बैठाकर अंगुलियों से इसके तन्तुओं को बजाती है। इसलिए उसको वीणा, पुस्तक-धारिणी सब कहते हैं।

वेदों में संगीत वाद्यों के अन्तर्गत 'वाण' नाम के एक वाद्य का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है यथा, 'को वाणं को नृतो दधौ, अथर्ववेद - 20/2/27/ धर्मतो वाणं' (1-8-10) महर्षि कत्यायन ने 'वाण' शब्द को सौ तपों से युक्त बताया है, यथा "वाणेन शतन्तुना" अर्थात शततन्त्री वाणं या वीणा। वैदिक वाङमय के अध्ययन से पता चलता है कि यह "वाण" नामक वाद्य अतिप्राचीन वाद्य है तथा "वीणा" का जनक है। इसी वाद्य के आधार पर बाद में सारे तन्तु वाद्यों का निर्माण हुआ। इस सम्बन्ध में स्वामी प्रज्ञानन्द के अनुसार -

The word veena seems to have derived from its farerunner veena which means to sound (van-to sound or to move + Ghan Max Muller translated vana as the 'human voice' The term vana (वाण) has been derived from the root "van" वन which means 'sound' (शब्द) or speed (गति) Panini Said 'वर्णशब्दे' भा0: ro: or वण गतो । अ. ग / घ / 3:3:81-1 that is 'वाण शब्द: गतिर्वा. अस्य अस्तिअर्थे अर्श. आदित्य-निबन्धन अब The term veena (वीणा) has been derived as व्यति जायते स्वरो उस्थान The वीगत्यदिषु - 'बीं' घु + रास्नसान्सा इत्यादिना' (3. 3115) नन्दिक न प्रत्यय. निपातने सिद्ध 'न' स्थाने 'ण'+स्त्री-आपं। That is'Vana' (वण) धातु: Vana canveyas the idea of fath sound (शब्द) and musical tone (स्वर)

and at some time 'speed' (गतिः) and vyeti (व्योति) of veena canveys the idea of sound (शब्द· स्वरवी) involved in it the 'speed' or motion (गति) as the particles of sound and those of speed or motion have their origin in the vifrations of Atonas and electrons the taitreya sankita (6.1W) stated "वदति या (वाक्) वीणायाम" and the Aitreya Arakyaka mentioned reyarding veena 'यथा ह्येवेंय शब्दवती तदूर्मवती एवम् सौ शब्दवती तदर्भवती।

Thus we find that fath the words vana and veena express the idea of 'sound' that pernades exerts influenca upon the minds of men, and it is most proble that the term veena has been derived fram 'vana'.

वीणा सब तन्तु वाद्यों की सृष्टा है। इसके दोनों तूम्बने में भूगोल और खगोल का समावेश होता है। दया के दण्ड पर गुणौ रूपी तन्तु चमक रहे है उसके सुरम्य मधुर नाद में सारा विश्व अपनी सुधबुध खोकर अनेक प्रकार के आनन्द मना रहा है। नाद समुद्र में श्रुति और स्वर की तरंगे गति हो रही है।

श्रुति और स्वर नाद कहलाता है। जिस प्रकार वस्तु के आभाव के विषय समझ में नहीं आ सकता उसी प्रकार नाद को समझने के लिए वीणा की आवश्यकता होती है। पूर्वाचार्यों ने इसका स्वरूप बनाया। इसमें से अनेक प्रकार की खोज हुई थी। ग्रन्थों के आधार पर एक वीणा में से अनेक वीणाओं की उत्पत्ति होती रहती है। वीणा की मधुमय तन्त्री से जिस आनन्द एवं विस्मय का स्कुरण होता है तथा जो मार्मिक अनुभूतियां अभिव्यक्त होती है, वे आध्यात्मिक जीवन का संरक्षण ही नहीं करती सम्वर्धन भी करती हैं।

तन्तु वाद्यों के इतिहास मे वीणा अति प्राचीन कालीन (पुरातत्व) वाद्य है। वैदिक युग में वीणा को धार्मिक (मार्गी) तथा समाजिक देशीजन+साधारणतः संगीत मे बड़ा उच्च एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वीणा के इतने उच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित होने का कारण उस समय में प्रचलित एक किंवदन्ती के इनुसार इस प्रकार है -

वाक देवी एक बार देवताओं को छोड़कर चली गई। यद्यपि इसका कोई कारण वर्णित नहीं है, तथापि माना जा सकता है कि वह देवताओ की किसी बात पर उनसे रुष्ट होकर उन्हें छोड़कर चली गई और वनस्पति (पेड-पौधे) में प्रवेश कर गई ताकि देवताओं का उसके बिना आहुति (यज्ञों के अन्तर्गत आहति एव बलि) कार्य सम्पन्न न हो सके। रुष्ट वाक् देवी को मनाकर वापस लाने के हेतु देवताओं ने तनस्पति से बने हुए अर्थात लकडी से निर्मित संगीत वाद्यों (वीणा, तूणव, दुंदुभी) का वादन प्रारंभ कर दिया। अतः इस प्रकार इन वाद्यों के माध्यम से वाक् देवी नाद रूप में व्यक्त हुई। तब से वीणा को वाक् देवी का साकार रूप माना जाने लगा।

उक्त किंवदन्ती से स्पष्ट हो जाता है कि वीणा सरस्वती का ही रूप है।

सरस्वती को वाक् की देवी भी कहा जाता है अतः वाक् और वीणा का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। वाक् और वीणा के इस घनिष्ठ सम्बन्ध ने ही बाद में समागान के साथ संगीतवाद्य के रूप में वीणा को प्रतिष्ठित किया। शतपथ ब्राह्मण में वीणा को 'श्री' का साकार रूप मान्य हुआ जिसकी चर्चा अश्वमेघ यज्ञ, जो कि एक पूरे वर्ष चलता था हुई है। श्री को राजा के वैभव की द्योतक माना गया है। इस अश्वमेघ या में ब्राह्मण लोग पूरे वर्ष वीणा वादन करते थे जिससे श्री उत्पन्न होती थी।

वेदों में श्रम अथवा तपरूप अग्नि से ही श्री की उत्पत्ति मानी गई है। शतपथ ब्राह्मण में भी उपाख्यान आता है कि प्रजापति ने तय किया। उस रूप अग्नि

1- Indian Music, Swami Prajanand Historical Development.

से 'श्री' की उत्पत्ति हुई। वेदों, पुराणों आदि में श्री को लक्ष्मी का पर्याय बताया गया है। कही कीर्ति को भी श्री कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर जल का श्री से सम्बन्ध बताया गया है, एक स्थान पर उसे क्षीर-श्री कहा गया है। इस प्रकार श्री कहीं श्रेष्ठव की प्रतीक है तो कहीं समृद्धि की स्फूर्ति, उत्साह एवं उमंग हमारे शरीर की श्रेष्ठता को व्यक्त करने वाले तत्व हैं। अत. ये श्री कहे गये हैं। ऋग्वेद में वर्णित है कि सोमपान से उत्साहित होकर इन्द्र तथा अग्नि ने असुरो को मार गिराया। सोम, दूध तथा जल को पेय कहा है। ये आनन्दमयी पेय हैं, इसकी आनन्दमयी मूर्ति ही 'श्री' है। इनेक स्थानों पर पशुओं को श्री कहा गया है। वेदों में पृथ्वी को भी 'श्री' कहा गया है, इस प्रकार वैदिक काल मे 'श्री' का व्यापक अर्थ सा था परन्तु अधिकतर इसका प्रयोग वैभव तथा समृद्धि के प्रतीक के रूप में हुआ है।

श्री जे0सी0 नारायण ने अपने एक खोजपूर्ण लेख में 'वीणा' रूप 'श्री' पर प्रकाश डाला है -

संगीत सृष्टि का मूल है। सात सुरों की बांसुरी पर संसार नृत्य कर रहा है। व्यक्ति जब आनन्दातिरेक में होता है तो नाचने लगता है। शतपथ में भी कहा गया है कि जब पुरूष वैभव एवं समृद्धि को प्राप्त कर लेता था तब वीणा-वादन करता था अश्वमेघ योग में क्षत्रिय तथा ब्राह्मण साल भर वीणा पर गाते थे जिससे श्री उत्पन्न होती थी जो राजा के वैभव की द्योतक थी । इसी आधार पर पुराणों में वर्णित है कि समुद्र मंथन के प्रसंग में लक्ष्मी के उत्पत्ति के अवसर पर ऋताचि अप्सराएं नृत्य करने लगी तथा ऋषि और देवगण श्री सुक्त का गान करने लगे।

इस नृत्व एवं संगीत के मूल में स्वर है। मनोगत योग को व्यक्त करने का माध्यम भाषा का मूल भी स्वर है, अतः शतपथ में स्वर को श्री कहा गया है, जोकि दो प्रकार का होता है - (1) अन्तश्री (2) वहिश्री

1- महाभारत में श्री स्पष्ट रूप में कहती है कि वह लक्ष्मी के नाम से विख्यात है। 12-1225-8.

वाणी का उल्लेख भी श्री के रूप में किया गया है। आत्मीय उद्गारों को स्पष्टतापूर्वक दूसरे के पहुचाने का माध्यम भाषा है जिसे वाणी से व्यक्त किया जाता है। वेदों में वाणी के चार प्रकार बताए गए हैं, जिनमें चतुर्थ प्रकार की वाणी वैखरी मुनष्यों द्वारा बोली जाती थी। अत. शतपथ ब्राह्मण में वाणी को प्राणों को श्री कहा गया है।"

इस प्रकार अलौकिक साहित्य (पूज्य, पवित्र) में वीणा को ज्ञान और राजसी वैभव के प्रातीक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वीणा के नाद की प्रकाशिनी कहकर सम्बोधित किया गया है। संगीत साहित्य में नाद शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है। एक अर्थ में इसे परानाद कहा गया है दूसरे में साधारण नाद तथा तीसरे अर्थ में सांगीतिक नाद अथवा ध्वनि कहा गया है। इस प्रकार के अर्थों से थोड़ा भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि जब शारंगदेव अपने संगीत रत्नाकर में नाद ब्रह्म को श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए नाद शब्द को सर्वोच्च मानते हुए इसे 'परा' की सज्ञा देते हैं और तभी वे शिव को नाद तनु कहते हुए नाद शब्द को सांगीतिक ध्वनि के रूप में लिखे हैं। यह परस्पर विरोधी बात है क्योंकि सांगीतिक नाद (आहत) अनाहत नाद नहीं कही जा सकती अर्थात् परा के रूप में इसको मान्य नहीं कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि कठोर साधना के द्वारा ऐकाग्रचित्तात से साजक आहत को अनाहत तक पहुंचा सकता है। शरंगदेव पुनः कहते हैं कि गीत या गान तथ वाद्य अथवा संगीत वाद्यों की प्रकृति नाद अर्थात् सांगीतिक ध्वनि नाद की होती है। और तभी वे ऐसा भी कहते हैं कि अक्षरों से युक्त शब्द भी नाद होता है।

वीणा के सन्दर्भ में नाद को मुक्ति का मार्ग बताया गया है -

"मूला धारात्सुश्रुषा च षिततुनिभाशुभा।।
अमूर्तो वत्तेव नादो वीणा दण्डसमुत्थित. ।[2]

तथा- "अन्ते तु किकंणी-वशं-वीणा भ्रमण निस्वन ।
नाना विद्या नादाः श्रुयन्ते सूक्ष्म सूक्ष्मतः ।।

नाद विन्दु पनिषद पृ0 221-228.

1- संगीत रत्नाकर, प्रथम अध्याय, 94.

2- जनरल आफ द इण्डियन म्युजिक कोलॉजिकल सोसाइटी वाल्यूम, 111.

एक योगी सिद्धान्त पर वैष्णवी मुद्रा में जब बैठता है तो उसे इस प्रकार की वीणा जैसी सूक्ष्म नाद का अनुभव होता है, यह नाद मुक्तिदायनी होती है।

मान्यता की दृष्टि से विभिन्न संगीत वाद्यों के अपने देवी-देवता होते हैं। उदाहरणार्थ परम्परा से निम्न क्रमानुसार संगीत वाद्य तथा उनके ईष्ट देवी-देवता हैं:-

1- ब्रह्मा - सामगान

2- सरस्वती - वीणा

3- विष्णु - शख

4- कृष्ण - वेनु

5- शिव - डमरू

6- गणेश - मृदंग

इस सन्दर्भ में अपने खोज पूर्ण लेख में डॉ0 प्रेमलता शर्मा का कहना है -

Voice and vinc are the two important instruments for manifestation of Mepody, their association with Brahma and Saraswati is Significant because fath of then are very closely related similarly Vishnu and Krishna both are associated with aerophones (Sushire and Shiva-Ganesh) have drums as their instruments have asateric significance. If is not jast accidental or arbitary. The point that is relevant here is that the respective instrument sare part of the Dhyana of different Gods. Hence they are directly related to upasana"!

1- लेख जे0सी0 नारायण, राजस्थान पत्रिका, पृ0 - 14, नवम्बर - 10, 1994.

इस प्रकार हम देखने हैं कि संगीतोपयोगी नाद का प्रकाशन कंठ तथा वीणा द्वारा होता है। कण्ठगत स्वर का यथार्थ अनुकरण दारवी वीणा पर होता है, अत. वीणा को नाद की प्रकाशिका कहा गया है। साहित्यिक भाषा में भी वीणा का अर्थ है वि+नाद अर्थात जिससे नाद की उथ्पत्ति होती है।

' विशुद्ध संगीत चूंकि अव्याकृत वाणी '
जिसे भारतीयों ने नादात्मिका वाक् कहा है, पर आधारित है इसलिए यह निश्चित भाव या करने में असमर्थ है। निश्चितता अर्थ में निहित होती है और अर्थ पद में रहता है। "ऑटोनोमस" Autonomous. विचारधारा के अनुसार पद रहित संगीत ही विशुद्ध संगीत है। इसलिए वाद्य संगीत ही उनका आदर्श है।

वाद्य में "पद" यानि शब्दों का आभाव रहता है, इसलिए निश्चित अर्थ भी नहीं रहता और अर्थ न रहने से नियत चित्त-वृत्ति का बोध यानि निश्चित भाव की अनुभूति भी संगीत के द्वारा नहीं हो सकती। परन्तु भारतीय विचारधारा के अनुसार विशुद्ध संगीत के द्वारा भले ही निश्चित वृत्ति का बोध न हो परन्तु भावानुभूति तो अवश्य होती है।

संगीत रत्नाकर के वाद्याध्याय में शरंगदेव ने वीणा की महत्ता पर बल देते हुए कहा है कि गीत वाद्य से उत्पन्न होता है। इसका अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है कि श्रुति ग्राम मूर्च्छना आदि इस सबके निर्माण के लिए तत वाद्यो को ही प्रमाण माना जाता है। भरत ने शरंगदेव ने तथा पश्चातकालीन शास्त्रवेत्ताओं ने वीणा की सहायता से स्वरों तथा श्रुति प्रमाणों का निर्धारण किया है। वाद्यों में तन्त्री-वाद्य कंठ की संगीत के लिए सबसे उपयुक्त माने जाते हैं, क्योंकि उनका स्वर स्थिर होता है, और छेड़ने के भदे से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता, इसलिए कहा गया है कि तन्त्री-वीणा के साथ गाने से बेसुरा कंठ भी सुरीला हो जाता है।

1- संगीत निबन्ध, कार्यालय हाथरस, डा0 सुभद्रा चौधरी, पृ0 - 42.

शरीर वीणा - सूक्ष्म नाद का केन्द्र बिन्दु

संगीत का सीधा सम्बन्ध शरीर से है जिससे यह निसृत होता है अर्थात बाहर निकलता है। भरत ने भी इसी प्रकार के विचार का प्रतिपादन करते हुए मानव शरीर की 'शरीर वीणा' कहकर सम्बोधित किया है। स्वरों की उत्पत्ति सर्वप्रथम शरीर से होती है, जिसका अनुकरण तत् सुषिर अवनद्ध एवं घन वाद्यों (संगीत वाद) से होता है। नाट्य शास्त्र के निम्नलिखित श्लोकों में भरत ने बड़े स्पष्ट शब्दों में स्वरों का उद्गम स्थल मानव शरीर को बताया है -

शारीपामेव वीणयां स्वरा. सन्त प्रकीर्तितता. ।
तेम्यो विनि. सृताश्चैवमातोद्येषु द्विजोत्त्मा ।।
पूर्व शरीरादुदभूतास्तो गच्छन्ति दारणीम् ।
ततः पुष्करजै चेव मुनयान्ति घनं (ध्वनि) पुन.युतः।।

योगियों ने भी मनुष्य शरीर को अध्यात्मिक साधना की एक प्रयोगशाला बनाकर शरीर के अन्दर ही ज्ञान स्थली को ढूंढने का प्रयास किया है। अपने इस प्रयास के परिणाम स्वरूप उन्हें बहुत से अनजाने तथ्यों का अनुभव हुआ। अपने इस आत्मिक अनुभवों को उन्होंने समाज को दिया ताकि लोगों का जीवन आनन्दमय हो सके। जो उपहार इन योगियों ने समाज को दिये वे 'नाद' तथा 'स्वर' हैं। अपने गम्भीर आत्मिक अनुभव से योगियों ने नाद तत्व की प्रकृति और शक्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया।

भरत के अनुसार स्वरों की उत्पत्ति सर्वप्रथम गात्र वीणा (कंठ वीणा) में हुई तथा बाद में 'दारवी' वीणा में। इसका अभिप्राय यही हुआ कि शरीरी वीणा - कण्ठगत स्वर रचना का यथार्थ अनुकरण दारवी वीणा तथा अवनद्ध वाद्यो पर होता है। ऋग्वेद

1- नाoशाoअo - 34, 810, 2 ऐतरेय ब्राह्मण 325, भारतीय संगीत का इतिहास श्रीधर परांजपे, पृo - 212

के एतरेय आरण्यक में देवी तथा मानुषी वीणा का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया गया है। एतरेय आरण्यक का यह अंश इस प्रकार है -

"अथ खाल्वयं दैवी वीणा भवति तदनुकृतिरसौ मानुषी भवति यथास्या शिर एव मनुष्या शिरः यथाऽस्था उदरमेव मनुष्या अम्मणम् यथाडस्यै जिहवै व मनुष्यै वादनम् यथा डस्यास्तत्रम एव मनुष्या अंगुत्रयः यथाः डस्या. स्वरा. यथाडस्या स्वर्षा एवमुष्या स्पर्शा यथा हयैवेयं लोभशेत्र वर्मणाडापेहित भवत्येवमेवासौ लोमेशन चर्मणा विहिता। लोमशन हस्म पुरा वीणा आपेदधाते।"

तात्पर्य यह है कि दैवी वीणा अर्थात् शरीर वीणा के जिस प्रकार शि उदर तन्त्रियां स्वर, स्पर्श, शब्द तथा चर्म आदि अंगी पांग हैं। ठीक वैसे ही मानव निर्मित काष्ठमयी वीणा के हैं। वीणा के शिर से अभिप्राय तुम्बा फल है। काष्ठ की खोह इसका उदर है, जो ध्वनि में गुंजन उत्पन्न करता है, वीणा की जिह्वा उसकी वादन क्रिया है : शरीरी वीणा अर्थात् कंठ की ध्वनि जैसे ध्वन्युत्पादक स्थानों में अभ्यन्तर स्पर्श में होती है, वैसे ही वीणा के स्वर-स्थानों के स्पर्श से ध्वनि का निष्पादन होता है। शारीरिक वीणा का निर्माण जैसे धमनियों से हुआ है, वैसे ही दाखी वीणा भी अनेक तन्त्रियों से निबद्ध है। मनुष्य के देह को आच्छादित करने वाले चर्म की भाँति यह वीणा भी चर्म से आच्छादित की जाती है।

अब हम शरीर (शरीरी वीणा) के लक्षणों का संक्षेप में वर्णन करेंगे। आचार्य पार्श्वदेव ने अपने 'संगीत समपासार में शरीर' के लक्षणों का जो वर्णन किया है, वह इस प्रकार है -

अन्तरेण यदभ्यासं राग व्यक्ति निबन्धनम्।
शरीरेण सहोत्पन्न शरीरं परिकीर्तितम्।।32।।

अर्थात् जा अभ्यास के बिना ही राग व्यक्ति में समर्थ हो वह शरीर के साथ (सहज रूप से) ही उत्पन्न ध्वनि 'शरीर' कहलाती है। शरीर के भेदी का वर्णन इस प्रकार किया

1- संगीत निबन्ध, डा0 सुभद्रा चौधरी, कार्यालय हाथरस.

गया है -

चुतुर्विधं भवेतच्च कडालं मधुरं तथ ।।
पेशलं बहुमंगीति तेषा लक्ष्णमुच्यते ।।33।।

भरत्कोषोदघा पार्श्वदेन।

वह "शरीर" कटाल (करारा) मधुर पेशल और बहुभेगी इन चार प्रकार का है। उन प्रकारों को लक्षण कहा जा रहा है।

स्थानात्रेऽपि काठेनं कडालं पारेकीतिर्तम।
मन्दे मध्ये च माधुर्याच्छरीरे मधुरेस्मृतमृ ।।34।।

तीन स्थानों में काठेन (बलवान-करारी) ध्वनि "कडाल" है जो मन्द्र और मध्य स्थल में "मीठी" रह वह "मधुर" है।

शरीरं पेशले तारे यत्र प्रकाशकम्।
तच्छरीरं गुणा. मिश्रा: यत्र तद्बहुमांगेकम् ।। 5 ।।

भा0को0 पृ0 38।

तार स्थान मे राग का प्रकाश करने वाला शरीर "मैरील" है। इन तीनो प्रकारों के गुण जिसमें मिश्रित हो वह बहुभांगे है।

कडाल मधुरंणैव तवो मधुरपेशलम्।
डाल पेशत्रचैव शरीरीं त्रयामेश्रकम् ।।37।।

बहुभोगे के चार प्रकार कंडाल मधुर, मधुर पेशल, कडाल पेशल और कडाल मधुर पेशल है।

1- शरीर लक्षणं, विनायका· पार्शवदेव कृता:
श्लोक सिंह भुपाल, संगीत समयासार, आचार्य वृहस्पति - 30.

एवंचतु विधांज्ञेयं शरीरं बहुभोगेकम्।

प्राथमट प्रथगष्टाविधो भेदस्तस्य कण्ठ गुणा गुणैः ।37।

कंण्ड के (पांच) गुणों और (तीन) अवगुणों के कारण वह शरीर (पुपोक्त भेदोसे) प्रथक आठ प्रकार का है -

माधुरंग श्रवकत्य च स्निग्धत्वं धनता तथा।

स्थानकत्रय च पंच कण्ठगुणा मताः ।।38।।

माधुर्य, श्रवक्त्व स्निग्धत्व, धनता और तीनों स्थानों में शोभा ये पाच कण्ठ के गुण हैं।

खोटे. खोणे भग्न शब्द कण्ठ दोषा अभी त्रयः।

माधुर्य गुण से युक्ते कण्ठे स्यमजुरो ध्वाने ।39।।

खोटे, खोणे और भग्न शब्द ये तीन कण्ठ दोष है। माधुर्य गुण से सम्पन्न ध्वाने 'मधुर' है।

श्रवकाख्यी भवेत कण्ठे दूरस्थ श्रवको ध्वाने.।

स्निग्धकण्ठोऽध्वाने स्वारोऽण्यरूक्षस्सरसो भवेत् ।।40।।

जो दूर से सुनाई दे वह कण्ठ ध्वाने श्रवक है। तार स्थान में भी अरूक्ष और सरस ध्वाने स्नेग्ध है।

सुस्वरश्चैव सान्दृश्व घनः कण्ठे भवेद ध्वानेः ।

कण्ठे त्रिस्थान शोभी स्यात् त्रिस्थाने गधुरो ध्वानेः ।।41।।

1-श्लोक पर्श्वि देव कृत - संगीत समयासार मे उद्धृत - अनु0 आचार्य व्रहस्पति, प्रष्ठ 31, 32.

कण्ठ में उत्पन्न होने वाली सुस्वर और सान्द्र (गाढी, ध्वनि 'घन' है, तीनों स्थानों में शोभित होने वाली मधुर ध्वनि त्रिस्थान शोभी है।)

कोटि. कठे ध्वनि. स्थानत्रयस्पर्शी गुणोज्झित. ।
स्थानस्य पूरक: कृच्छात्कोणे कंठे ध्वनि. भवेत् ।।42।।

तीनों स्थानों का स्पर्श करने वाली गुणहीन कण्ठ ध्वनि 'कोटि' है। कठिनता से स्थान का पूरण काने वाली ध्वनि कोणे है।

वानरोष्ट्र खरैस्तुल्यो भग्न: कण्ठे भवेद् ध्वनि: ।
एतेभदो परिज्ञेया: शारीरेऽपि विपक्षणै. ।।43।।

वारन, ऊंट और गधे की ध्वनि के समान फटी या फूटी ध्वनि 'भग्न' है। विद्वानों को 'शरीर' में ये भेद समझने चाहिए।

भरत के नाट्य शास्त्र में भी 'गान्धर्व' विषयान्त गर्व गन्धर्वा के तीन गुणो-स्वर ताल और पद का संग्रह इस प्रकार हैं -

स्वर विधि - दो अधिष्ठान् शरीर वीणा व दाखी वीणा। दाखी वीणा में स्वर ग्राम - मूर्च्छना जाति, तम स्थान, वृत्ति, (वीणा-वादन की) शुष्क (निर्गीत) (बहिगीत) साधारण विधि, वर्ण अलंकार धातु (वीणा-वादन की तकनीक-सम्बन्धी) श्रुति, पाति (लय परिवर्तन से बनने वाले लय सन्निवेष। इनमें से स्वर, ग्राम, अलंकार, वर्ण, स्थान, जाति और साधारण-शरीरा वीणा से भी सम्बन्ध रखते हैं।

भरत ने कंठ के छट गुण बतलाए हैं -

(1) श्रावक: स्वर उदात्त रूप में दूर तक सुनाई दे तो 'श्रावक' या 'श्रावण' है, कंठ का औदात्य 'श्रावक' है।

(2) घन: श्राव ध्वनि ही सुस्वर एवं अविच्छिन्न रूप में रहे तो 'घन' है।

(3) स्निग्धः अरूक्ष यानि अपरूष (लालित्य युक्त) ध्वनि से युक्त कंठ 'स्निग्ध' है।

(4) मधुर. मनको प्रहलादित कर देने वाला या रंजक ध्वनियुक्त कंठ "मधुर" है।

(5) अवधानवान· स्वर में आधिक्य एवं न्यूनता को पहचानना 'अवधान' है।

(6) त्रिस्थानशोभित. तीनो स्थानों जिनकी उत्पत्ति उर, कंठ एवं शिर से है, मधुरता से उसमें प्रयोग की क्षमतायुक्त कंठ त्रिस्थान शोभित है।

शार्दगदेव ने दस शारीर-गुण कहे हैं। शरीर से उत्पन्न होने के कारण कंठ को 'शरीर' कहा जाता है, अथवा जो ध्वनि अनभ्यास से भी राग की अभिव्यक्ति करने में समर्थ है, वह शरीर कही जाती है। इसे ही शरीर-वीणा भी कहा जाता है। यथा -

(1) तारः तार स्वर तक कंठ की व्याप्ति (भरत का त्रिस्थान शोभि) उल्लेखनीय।

(2) अनुध्वनि. कंठ अनुरणनयुक्त हो।

(3) माधुर्य. कंठ में माधुरता या रमणीयता का होना (भरत वर्णित) 'मधुर'

(4) रक्तिः रंजकता का होना।

(5) गाम्भीर्यः गम्भीरता का होना (अगाधता - गहनता - गाम्भीर्य)।

(6) मार्दवः सुकुमार कंठ का होना जो मसृण एवं कोमल ध्वनि - संयोग से संभव हो।

(7) घनता. दूर से श्रवण युक्त एव अंतः सार युक्त ध्वनि।

(8,9,10) स्निग्धताः कांति - प्राचुर्य - रूक्षताहीन स्वर एवं शरीर का होना है। इसकी प्राचुरता से जिनके अन्दर प्राप्ति हो, वह शरीर प्राचुर्य है।

इसी प्रकार शास्त्रकारों ने शरीर के अवगुणों का भी वर्णन किया है। अब हम थोड़ा संगीत की अध्यात्मिक वैज्ञानिक पर प्रकाश डालते हुए यह जानने का प्रयास करेंगे कि यह शरीर वीणा ही सूक्ष्म नाद का केन्द्रबिन्दु है।

शरीर में मेरूदण्ड के भीतर जो नाड़ी रज्जू है, उसे सुषुम्ना कहते हैं। उसमें स्थान-स्थान पर नाड़ी कोष है, जिनमें से नाड़ी तन्तु निकलते हुए हैं। इनमें से कुछ तो शाखा प्रशाखा में बंटकर शरीर के बर्हिभाग में फैले हुए हैं और कुछ ऊपर कंठ की ओर जाते हैं। इसी प्रकार शिर के भीतर मस्तिष्क है जो नाड़ी कोशो और तन्तुओं का गुच्छा है। मस्तिष्क और सुषुम्ना का जहां मेल होता है उस स्थान को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। सुषुम्ना तो वहीं समाप्त हो जाती है, परन्तु उसमें स्थित नाड़ी कोष्ठों से आए हुए तन्तु मस्तिष्क मे जाते हैं। वहा उनका विशेष केन्द्रों से सम्बन्ध होता है। आँख, कान, नाक और जिहवा से आए हुए तन्तुओं का मस्तिष्क से सीधा सम्बन्ध है। वाह्य विषयों के आघात से नाडी तन्तु प्रकम्पित होते है। यह प्रकम्पन उनके मूल नाडी कोष्ठक तक पहुँचता है।

जिन जगहों मे बहुत सी नाड़िया मिलती है, उसे चक्र कहते हैं। चक्र तो शरीर में बहुत है, परन्तु कई कारणो से योगाभ्यास की दृष्टि से इनमें छ का विशेष महत्व है। यह सीवन मे लिग मूल मे, नाभि मे, हृदय में, कठ मे और भ्रमध्य मे स्थित है, और क्रमश उनको मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा कहते हैं। योग के आचार्यो का कथन है कि प्रत्येक चक्र में से विशेष ध्वनिया निकलती रहती है, जिनकी समता वर्णमाला के विशेष अक्षरों से होती है। सबसे ऊपर मस्तिष्क के ऊपरी भाग मे सातवा चक्र है जिसे "सहस्रार" कहते है।

श्रुतियाँ 22 (बाईस) ही क्यो मानी गई है ? हमारे हृदय प्रदेश मे बाईस स्नायु है, जिनका सम्बन्ध कण्ठ मस्तिष्क और कान से है, ये स्नायु एक से एक ऊँचे है। हृदय से मन्द्र, कठ से मध्य, और सिर से तार नाद उत्पन्न होता है। इसी आधार पर सप्तकों का निर्माण हुआ है, हम आज तक मात्र कठ अवयव के अस्तित्व को मानते चले आए हैं, किन्तु इस अवयव (कठ) का नियमन विशुद्ध चक्र (सर्विक्ल रीजन) जिसमें आकाश तत्व है, से होता है। कठ के द्वारा छ. चक्रों का सम्मिलित स्वर षडज कहलाता है। एक ही तानपूरे के बीच के दो तार ठीक से एक ही स्वर मे मिला लेने पर एक को बजाने से दूसरा अपने आप झकृत होगी। इसी वैज्ञनिक सिद्धान्त

के आधार पर अन्तर नाद को साध कर निकाला जाए तो शरीर मे स्थित अन्य सूक्ष्म नाद भी जागृत हो उठेगे इस अन्तर्नाद की झंकृति अनभ्यस्त व्यक्ति नही सहन कर पाएगा। अत वह उस अनुभूति मे मूर्छित सा हो जाता है। यही योग है। इसी का साधक योगी है। और इसलिए सगीत एक यौगिक कला है।

ज्यों-ज्यों इन चक्रों की शक्ति पर साधना द्वारा संयम प्राप्त किया जाता है, त्यों-त्यों शक्ति (पराशक्ति-कुंडलिनी) नीचे के केन्द्र से उठकर ऊपर के केन्द्र में चढ़ जाती है, यहां तक कि षट चक्र भेद करने पर शिव और शक्ति का मेल हो जाता है। इसे समझने के लिए मेरूदण्ड, सुषुम्ना या पार्वती का ज्ञान आवश्यक है। मेरूदण्ड के विषय में भारतीय योग शास्त्र के मत से आधुनिक विज्ञान भी सहमत है।

विशुद्धि चक्र (सर्विकल रीजन) में सात पर्व हैं। यहां आकाश तत्व हैं, जिससे कंठ (शरीर) का निपमन होता है। इन पाच चक्रों तक 33 पर्व पूरे हो जाते है और पंचभूत भी समाप्त हो जाते हैं। इससे ऊपर छटे-सातवें चक्र अभौतिक शक्ति से प्रेरित होते हैं। जिस योगी ने साधना के द्वारा पांचो चक्रों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है, उसे फिर काम बाधा नहीं सता सकती।

हमारा संगीत (हमारी नाद उपासना) यही संयम उक्त छठों चक्रों को भेदने की वही प्राण शक्ति (समधि-स्थिरता) तल्लीनता तथा शान्ति प्रदान करने में हो तो हमारा अवलम्बन है। नाद के द्वारा अपने स्नायु मण्डल, मूलाधार एवं प्राण शक्ति को तादात्म्य करने के प्रयास एवं प्रयोग किये जाए तो संगीत में एक आश्चर्य जनक क्रान्ति पैदा हो सकती है, इसमें दो मत नहीं।

1- कु0 नीलम, परिख शोध ग्रन्थ.

भा0 सगीत का मूल ग्वाजने के लिए वेदकाल से उसकी पार्श्व भूमि देखना आवश्यक है। आर्यो के वेद - यह विश्व का अद्यवांग मय होकर लेखन कला के अभाव मे उसकी रक्षा पीढी से दूर पीढी हो इसलिए उसका कठस्थ करने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं था और "सामवेद" संज्ञा से परिचित सार्मो का कहना अर्थात वैदिक ऋचाओं का गान रूप और थोडा झुका हुआ पठन यही भारतीय सगीत का उद्‌गम स्थान है। इससे स्पष्ट है कि सगीत का बीजारोपण वैदकि युग में ही हुआ था। साम सगीत के समय गायन वादन एव नृत्य इन तीर्नो अन्योन्याश्रित कलाओं का उचित प्रकार से प्रचार हुआ यह अनेक प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है।

वेद में गान है संगीत है। सामवेद तो सहस्रवत्र्मा संगीर्तो का कोष ही है। संगीत जिन सप्त स्वरों के आरोह अवरोह पर अवलम्बित है, उनके तथा उनके आधार पर बने छन्दों के नाद वेद मे पृथक मत्र के ऊपर आज तक लिखे चले आते हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के ऊपर लिखा है - परमेष्ठि प्रजापति ऋषि, सविता देवता। स्वराह वृहती छन्द मध्यम स्वर स्वर सात है - षडज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद। इसके आधार पर तीन मुख्य द्वार बनते है - गायत्री, त्रिष्टुप, जागती। यजुर्वेद - 4-24, 8-47, 12-5, 13-53 आदि स्थानों पर छन्दों के नाम आए है। यथा -

उपयामगृहीतो त्वा गायत्रच्छन्दसं गृहणामि। इन्द्राय त्वा त्रिष्डपद्यन्त सगृहणानिविश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं। अनुष्टुपतेऽपि गर ।

विष्णो क्रमोऽसिसपलहा गायत्रं छन्द आरोह पृथ्वीमनु
विक्रमस्व विष्णो क्रमो स्यामिर्भातिहा त्रै ष्टुभं छन्द अरो -
हान्तरिक्षमुन विक्रमस्व विष्णो क्रमोऽस्यरातीयतो
हन्ता जागतं छन्द आरोहादियमनु विक्रमस्व
विष्णो क्रमोऽसिशुत्रुयतां ध्नतानुष्टुमछन्द यजुर्वेद 8-47
आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ।।

1- डा0 सुनीता शर्मा, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 - 37.

इन मन्त्र मे उपर्युक्त तीन छन्दों के अतिरिक्त अनुष्टुप छन्द का नाम भी आया है। इसके पूर्व चतुर्थ मन्त्र में त्रिवृत, गायत्र, वृहत, स्थन्तर, स्त्रोम, छन्दान्सि, वामदेव, साम, यज्ञायज्ञिय, तथा धृष्य आदि नाम आये हैं जो विविध प्रकार के गानों के द्योतक है। तथा 18 मे मा प्रमा पंक्ति उष्णिक वृहत्ती अनुष्टुप विराट गायत्री त्रिष्टुप जगती आदि छन्दों के नाम आदि हैं। आगे मंत्र चार और पांच में विविध प्रकार के छन्दों के नाम आये है। यथा परिव शम्भू परिभू सिन्धू समुद्र शरीर कुकुप काव्य अंकुप अक्षर पंक्ति, पद पंक्ति विष्टा, पंक्ति निकाय, विविध संयत, नियत आच्छत प्रच्छत गिर· भ्रज संस्तुप अनुष्टुप वयस्कृत विष्पर्धी विशाल छपि दूरोहण तन्द्र अकांक आदि।

इन छन्दों का लोगो के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। जैसे- वरिव· का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है और शम्भू का सम्बन्ध द्यौ से है। यजुर्वेद 9-32 गायत्री के अष्टरक्षर पद वाली तथा 9-33 मे त्रिष्टुप को एकादश और जगती को द्वादशाक्षर का छन्द माना गया है। यजुर्वेद अध्याय 21 के मन्त्र 12 से 22 तक छन्दों के नाम तथा उनका सम्बन्ध पशुओं के साथ स्थापित किया गया है। इन छन्दों में द्विपदा तथा आतिच्छन्दा भी है। मन्त्रों का ग्रम. गायत्री अणिठहा अनुष्टुप व्रहत्ति पंक्ति त्रिष्टुप लगती अनुष्टुप पंक्ति वृहणी उष्णिक और अन्त में कुकुप छन्द का उल्लेख है। पंजु 23-34 में द्विपदा चतुष्पदा त्रिपदा, षटपक्ष, विच्छन्दा और सच्छन्दा नाम आये हैं जो सुचित करते है कि कुछ मन्त्र विच्छन्दा अर्थात् छन्द रहित भी है। अतिछन्दा तो है ही। छन्दों में धृति अष्टि शक्वखी और जगती में आतिशब्द के प्रारम्भ में जुडने पर अतिधृति अत्यष्टि अतिशक्वरी और अविजगती छंद बन जाते हैं, जिनमें मूल छंदों से चार-चार अक्षर अधिक होते हैं। आगे मंत्र 23 से 28 तक स्थन्तर वृहत वैस्प वैराज शक्वरी तथा रेवती सामो का सम्बन्ध क्रमश· वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद हेमन्त और शिशिर ऋतुओं त्रिवृत पंचदश सतदश एकविंश त्रिवप और त्रदस्त्रिशं स्तोभो वसु रूद्र आदित्य ऋतु मरूत और अमृत देवी तथा तेज यशओज श्री सहा: और क्षत्र शक्तियों के साथ स्थापित किया गया है। यह सब अद्भुद विज्ञान है, और अनुसंधान योग्य है। संगीत में नृत्य वाद्य और गान की प्रमुखता है। यर्जुवेद अध्याय 30 के मन्त्र 19-20 में भी इस प्रकार है।

महसे वीणावादम् त्रणतध्य अठरस परायशंखध्यम् ।।9।।

महसे वीणावादम् पणिध्य तूणवध्यम तान् नृत्ताम् आनन्दाप तलवम् ।।

इन मन्त्रों में वीणावादन ढोल, ढक्का या तुरही बजाना, शंख बजाना, हाथों तुणव आदि बजाना, तलब अर्थात करताही बजाना और नृत्य के लिए सूत और गीत के लिए शैलुष के नाम आया है। बाल्मीकि रामायण में कुश और लव को संगीत सिखाने का उल्लेख किया है। इन दोनों के नाम पर गाने वालों की संज्ञा कुशीलय पड़ गई है। शैलुष नटों का एक भेद है। गाने-बजाने का काम अब भी ये किया गरते हैं। सूत पौराणिक योग में ऐतिहासिक तथा कथा-वाचक के रूप में दिशाएं देते हैं। सम्भव है प्राचीन काल में उनका सम्बन्ध नृत्य कला के साथ रहा हो, वर्तमान समय में कथक या कत्थक यही कार्य करते हैं। किसी-किसी कोषाकार ने सूत का अर्थ कथक किया भी है।

यजुर्वेद में संगीत के अनेक तत्व उपलब्ध होते हैं इनमे साम विशेषों का नामोल्लेख तो आता ही है साथ ही विशिष्ट गान और स्तोम संख्या का भी उल्लेख आया है यर्जुवेद का संकेत। यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड की सुविधा के लिए हुआ है। इसमें विभिन्न यज्ञों की विधियों का वर्णन आया है। सोम यज्ञों के सन्दर्भ में सवन साम एवं लौकिक संगीत का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। सोम यज्ञ में वृन्द गान और व्यक्तिगत गान भी प्रचलित थे। सोम के निम्नलिखित पचखण्ड बतलाए हैं-

(1) प्रस्ताव, (2) उद्गीम, (3) प्रतिहार, (4) उपद्रव और (5) निधन

सामान्यत प्रस्तावें नामक प्रारम्भिक भाग का गायन प्रस्तोत का कार्य है और यह कार्य उद्गाता के प्रमुख सहायक के रूप में किया जाता है। दक्षिणिया तथा धर्म नामक साधारण हवन कार्यों में सामगान का सम्पूर्ण दायित्व अवश्य इस पर सौंप दिया जाता था। साम के "प्रतिहार" नामक विभ्रिप खेण का गान स्वतंत्र रूप से जिस गायक के रूप मे किया जाता था उसको प्रतिहर्ता कहते थे। इन तीनों गायकों के अतिरिक्त कुछ अन्य गायकों की आवश्यकता सामगान में रहती थी जिसका कार्य केवल स्वर भरर्ण अथवा स्वर से संगीत देना होता था। इनकी संख्या उपगाता थी, इस प्रकार सामयोगों में संगीत का प्रयोग प्रर्याप्त होता था।

शुक्ल यर्जुवेद वाजसनेई सहित में सूत, शैलुष नर्तक गायक वीणावादक बंशीवादक काहलवादक एवं दुदुंभिवादक आदि का उल्लेख आया है।

तत्तप सुत गीताय शैलुषम् ।

महसे वीणावादम् क्रोशपतूणवादमम्

अवरस्तरापं शंखषम् । आनन्ददाय तबहीम् । 2

वाणा वादकं गणकं गीतप । 3

इस वेद में वीणा वाणतूणव - दुन्दुभि भूमि दुन्दुभि शंख और तलब आदि वाद्यों का भी निर्देश आया है वाजपेय यज्ञ में महावेदी के चारों कोणों पर ।7 दुन्दुभि वाद्य स्थापित किये जाते थे वीणा वूणव और दुन्दुभि के सम्बन्ध में तैत्रितरेप संहिता में बताया

( ){ ।){ वाजसनेई उ0कं0 6

तैत्तिरेय ब्रह्मण ।5 3।5 ।।3 शुक्ल युक संहित)

वाग्वे देवेभ्ये पाक्रामछज्ञादतिष्ठमाना सा वनस्पतीन प्राविशन् सशैवाम्वनस्पतिषु वदति या दुन्दुभो या तूणवे या वीणायाम्" अर्थात वाकृदेवी देवताओं से किसी कारण अप्रसन्न होकर वनस्पति में प्रविष्ट हुई। यही वाणी दुन्दुभि तुणव तथा वीणादि काष्ट निर्मित वाद्यों से ध्वनित होती है।

"वावः शतुतन्तुभेविवि शतायु पुरूष· शार्तोन्द्रिय अपुष्पेन्द्रिये प्रतिष्ठन्ति ।

अर्थत् वाक् देवी दुदुन्दुभि तुणव, वीणा आदि वाद्यों द्वारा ध्वनित होती है, तन्त्री वाद्यों में वाण का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी रचना औदुम्बर काष्ठ द्वारा होती थी। वीणा दण्ड के अधोभात्र में छोटे-छोटे ।0 छिद्र बनाये जाते हैं, तथा प्रत्येक छिद्र में से मोजा दश तन्तु पिरोये जाते थे। इस प्रकार शततन्त्री वाले वाण वाद्य का निर्माण होता था। इसके 33 तार अहण्युं के द्वारा समन्त्र पिराए जाते थे। तैतीस होता के द्वारा तथा तैतीस ही उद्गाता के द्वारा पिरोये जाते थे। शेष एक तार ग्रहपति द्वारा निषद्ध होता था। इसके वादन के लिए तीन पर्वों से युक्त वेतु काण्ड अथवा काण्ड का प्रयोग किया जाता था वाण-वादक उद्गाता आसन्दी के उच्च आसन पर बैठता था तथा अन्य उपगातागण उध्वर्यु और यजमान स्त्रियां पार्श्वस्त्व दरभासन

पर आसीन होती थीं।

इस प्रकार यर्जुवेद में सगीत के प्रमुख तत्व विद्यमान हैं। उस काल में महिलाओं को भी गान वाद्य की शिक्षा दी जाती थी। ये भी संगीत में भाग लेती थीं। आपस्तम्भ सुत्र में अलातु वीणा काण्ड वीणा गोधा विणा स्तम्बल वीणा तालुक वीणा आदि कई वीणाओं का निर्वेश आया है।

ऋगवेद मे गीता के लिए गीर गातु, गाता गायत्र गीति तथा समशब्दों का प्रयोग पाया जाता है। ऋग्वेद की ऋचाये स्वरावलियो में निविद्ध होने पर 'स्तोत्र' कहलाती थी।

अत· स्पष्ट है कि ऋगवेद में भी संगीत का महत्व स्वीकृत है। गीत प्रबन्धों का उल्लेख ऋग्वेद में गीति गाथा गायन तथा साम संज्ञाओं से पाया जाता है। 'गाथा' एक विशिष्ट तथा परम्परा गत गीत का प्रकार है जिसका गायन ब्रह्मण तथा क्षत्रिय गायकों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ऋग्वेद के मन्त्र में आया है-

' स न· स्तवान आभर गायत्रेण नीप्नवीपसा।'3

स्पष्ट है कि इस मन्त्र मे गायक को "गायत्रिन" कहा गया है। साम गान का उल्लेख भी ऋग्वेद में पाया जाता है। इससे परिलक्षित होता है कि ऋग्वेद के संकलन के पूर्व ही सामगान का प्रचार बहुलता से था। एक अन्य मंत्र में आया है कि सामगान उसी विद्वान को प्राप्त हो सकता है, जो अध्यव्यवसायी और जागरण शी हैं। यथा -

' यो तं जागाश्ऋच कामयन्ते यो जागारतमु सामनिपिन्त "

ऋग्वेद के युग मे सामों के अविष्कर्ता अगीरम भारद्वाज व विशिष्ठ आदि नाम भी प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में 9-51-1 में वाण नामक तंन्त्री वाद्य की गम्भीर ध्वनि का उल्लेख आया है। इस मंत्र में सोमरस से प्रार्थना की गई है कि परजन्य धाण के समान पात्र में तैल धरावत गिरते हुये वाण की भांति गूँजा हुआ स्वर उत्पन्न करे।

प्रहंसासः स्तृपलं पणमानं सखायो दुर्भयि साकं प्रवदन्ति वाणमो उपरोक्त ऋक में आए "वाण" शब्द से अर्थ वीणा से है, विणादि वाद्यों की उत्पत्ति का आधार "वाण" नमवाद्य ही है। जिसकी चर्चा हम वीणा अध्याय वाले मे कर आए हैं। ऋग वेद में मारूत गणों को भी सगीत प्रिय बताया गया है।

" कव्वाय क्षोणस्य क्षोण शब्दकरिणीवविशेष महामहता क्षोणस्यश्रण शब्दं अध्यद्यत्रम उषसोविज्ञानथं अधिकम कुरूतम् ।।"

नाषी का नालिका वाद का भी उल्लेख मिलता है, जो सुषिर वाद्यन्तगीत था। एतरेय आख्यक मे देवी और मानुषी वीणा का सुन्दर सामजस्य प्रस्तुत किया गया है - अथ खल्विय देवी वीणा . .... वीणा अपदिधति।

यद्यपि वेद केवल भारत की नहीं अपितु सम्पूर्ण आर्य जीव की प्राचीनतम कृतियाँ है, इसका अर्थ यह नहीं कि वे आर्यों के प्राचीनतम् धार्मिक विश्वासों के प्रतिविम्ब है। ब्लूम फील्ड ने ठीक ही लिखा है कि "भारत का धार्मिक इतिहास उसकी प्राचीनतम कृतियों (वेदों) से नहीं अपितु बहुत पहले से प्रारम्भ होता है। भारती धर्म का प्रदुर्भाव भारत मे आने से पूर्व ही हो चुका था।[1]

संगीत का प्रभाव मानव-जगत् पर ही नहीं, प्रकृति के कण-कण में देखा जा सकता है। विश्व की विभिन्न मानव-जातियों के विविध धर्मानुष्ठान, पुणनिवधान संगीत के माध्यम से प्रस्तुत होते हैं। संगीत का रस-मार्धुय अनुष्ठान और क्रियाकाड़ो को कई गुना शक्तिशाली बना देता है। अतः इसकी स्वर-लहरी जन्म-मरण की परम्परा से व्यक्ति को ऊँचा उठाती है। वीणा की मधुमय तप्ती से जिस आनंद एवं विस्मय का स्फुरण होता है, तथा जो मार्मिक अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होती है। वे अध्यात्मिक जीवन का संरक्षण ही नहीं करती, संवर्द्धन भी करती है।

ऋग्वेद में गीत तथा वाद्य के साथ नृत्य कला का प्रचुर अस्तित्व पाया जाता है। नवोदित ऊषा की सवर्णिम आभा को देखकर वैदिक ऋषि को सुसज्जित नर्तकी के विनम्र को स्मरण हो जाता है - 'अधि पेशासि पक्ते नृतुरिवा' ।[3]

1- ब्लूड फील्ड रिलिजन ऑफ दी वेदान्त, पृ0 316.

यर्जुवेद में यज्ञ संस्था के उत्पकर्ष का प्रतीक है। यज्ञों के विस्तृत कार्य के सम्पादन में श्रम विभाजन तत्व को लेकर चार स्वतन्त्र ऋत्विर्णों की आवश्यकता मानी गयी है। यही चार क्रमश· होत, अहवर्यु, उद्धगाता तथा ब्रह्मा कहलाते हैं। यज्ञ कार्यों का संचालकत्व अध्वर्यु नाम ऋत्विज के द्वारा किया जाता है।

ऋग्भिः युजुभि सामभिदेन ऋग्भिः शंसन्ति युकमिर्यजन्ति सामभि स्तुवन्ति'।[4] सामयोगों में ऋक, यजु तथा साम तीनों प्रकार के मन्त्रों का अनिवार्य स्थान है।

यद्यपि भी यजुर्वेद मे संगीत के विकास की दृष्टि से कुछ खास महत्व नहीं तथा प्राचीन संगीत विषयक परिस्थिति जानने के लिए कम नहीं है यर्जुवेद तथा ब्रह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्र ग्रन्थों के आधार पर संगीत विषयक तथ्यों का संकलन यहाँ उल्लेख है।

यजुर्वेद शुक्ल तथा कृष्ण उभय शाखाओं में सामवेद का प्रभूत प्रशस्ति-गान हुआ है। तैतरिप संहिता में ऋक् तथा यजु की अपेक्षा साम संगीत को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है -

देवा वै नचि न यजुष्यश्रयन्त तो सामन्नेवाश्रयंते[1] अर्थात् देवताओं का वास्तविक आश्रय-स्थान साम है।

तैतरिय संहितं में साम संगीत के महत्व को दर्शाते हुये कहा गया है कि 'अयज्ञोः वा एष·। योऽसामा।[3] अर्थात जिस यज्ञ में साम गान नहीं वह यह अभिधान के लिए पात्र नहीं। शतपथ ब्रह्मण के अनुसार ऋग्वेद अग्नि से यजु वायु से तथा सामवेद आदित्य से उद्‌भूत हुआ है।

शा0ब्र0 में निम्नलिखित मत्र -

'तस्यै प्रजाजेषु तायमानेषु ब्राहम्णो वीणा गायी दक्षिणत उतरमन्द्रामुदाहनं स्वयं स्मृता गथा गायति ।'[1]

जिससे प्रमाणित होता है कि यज्ञ में नियुक्त गायक अच्छे गायक वादक के आनुसार उत्कृष्ट प्रबन्धकार भी थे।

1- ऋग्वेद 5/44/5, डा0 गया चरण त्रिपाठी.

2- वैदिक देवता उद्‌भव.

भारत वर्ष के बहुत उर्वर प्रदेश शामिल हैं, सिन्ध गंगा का मैदान जो बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से बना है, इस प्रदेश के महत्वपूर्ण भाग 'मध्य देश जिसका विवरण हमें हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों में प्राप्त होता है यह प्राचीन ऋषि, मुनियों, सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी क्षत्रियों देवताओं तथा रामायण महाभारत सभी युग को संगीत का अपना प्रभाव रहा है। वेदों में संगीत की इतनी उपयोगिता बताई गई है संगीत उन्होंनें ईश्वर प्राप्ति का मुख्य और सर्वोत्कृष्ट साधन माना है उनका ऐसा विश्वास है कि ईश्वर के साक्षात् दर्शन संगीत के अभूतपूर्व माध्यम से ही हो सकते हैं। संगीत में सौन्दर्यात्मक भावों की विकास की और विशेष ध्यान दिया गया है। ईश्वर आराधना का संगीत तुख्य साधन बन गया है। संगीत पृथ्वी और स्वर्ग का स्वर्णिम मार्ग है। संगीत को धार्मिक रूप प्रदान किया सुप्रसिद्ध विद्वान ओगोन सरास्क ने (दि हिस्ट्री आर्फ दी इन्डियन म्युजिक) में लिखा है "गंगा-यमुना की दोआबा की भूमि वास्तव में शास्त्रीय संगीत का विकास से प्रकाश स्तम्भ है। इस उर्वर भा0 के निवासियों को प्राकृतिक सुषमा का अलभ्य उपहार मिला हुआ है, इस लिए यहाँ का संगीत श्रेष्ठ बन सका।

वैदिक युग में अनेक ऐसी धार्मिक मन्डलियाँ भी बन गई थीं जिनमें संगीत के अध्यात्मिक रूप का विकास किया है, जिनका कार्य क्षेत्र संगीत के शास्त्रीय एवं अध्यात्मिक स्तर को विकास पूर्ण बनाना था इन्होंने संगीत को आत्मिक स्तर ऊँचा किया।

श्रवणच्छ तिर्वेदो मन्त्रश्च श्रुतयः ।। 39 ।।

सुने जाने से वेदों को श्रुति तथा मन्त्रों को श्रुतियां कहते हैं।

वेद के पश्चात् वेदों का सर्वाधिक प्रचलित नाम श्रुति ही है। स्वयं वेद में वेदानुकूल आचरण की प्रेरणा करते हुए कहा - सं श्रुतेन गमेमहि हम श्रुति (वेद अथवा श्रुतियों = मन्त्रों के अनुकूल आचरण करे ।। 39 ।।

1- श्री अरविन्द, वेद रहस्य, पृ0 - 28.

2- शतपथ ब्रह्मण 134/9/8, चौखम्बा प्रकशन.

3- संगीत शती, जया जैन, पृ0 - 26.

वेद अथवा मंत्र संहिता चार है -

ज्ञान कर्मोपासना विज्ञान काण्ड भेदात् संहिताख्याश्चत्वारो वेदाः ।। 40 ।।

ज्ञान, कर्म, उपासना, विज्ञान, विधान होने से संहिता नाम वाले वेदों की संख्या चार है।

ऋग्वेद, यजुवेद, सामवेद, अथर्ववेद में क्रमश· ज्ञान, कर्म, उपासना एवं विज्ञान काण्ड का प्रधान है।

ऋग्वेद वैज्ञानिक सिद्धान्तों और परीक्षकों का निरूपण करता है जबकि उनके साधनों और उपकरणों के तैयार करने की प्रक्रिया यर्जुवेद में पायी जाती है।

यर्जुवेद यज्ञ प्रधान है। किन्तु वहाँ यज्ञ से केवल अग्निहोण अभिप्रेत नहीं है। यत् देवपूजासंगतिकरणादनिषु तथा यज्ञों से श्रेष्ठतं कर्म के अनुसार यज्ञ शब्द में मनुष्य जीवन के लिए उपयोगी समस्त कर्मों का समावेश है।

ज्ञान और कर्म का पर्यवसान उपास में होता है। चित की वृत्तियों को अर्न्तमुख करके और प्राणों को अर्न्तजीवन की ओर प्रवृत्त करके उपासना के योग्य बनाने के साधनोंपायों का विधान सामवेद में है।

तीनों वेदों में जो विद्यायें हैं उन सबके शेष भाग की पूर्ति का विधान सब विद्याओं की रक्षा और संशय निवृत्ति के लिए अथर्ववेद है।

शाखा भेद से यजुर्वेद संहिता कई रूपों में उपलब्ध है। उनमें यर्जुवेद के नाम से किस संहिता का बोध होना चाहिए।

वाग्ये गायत्री, वाग्वा इंद सर्व भूत गायति लायते च। अर्थात् वाणी ही गायत्री है, क्योंकि वही इस समस्त विश्व का गान करती और उसकी पालना एवं रक्षा करती है। इसलिए शिक्ष को सबसे पहले अंग के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

वेद के स्वर में विज्ञान का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है और वह शिक्षा शास्त्र से ही जाना जाता है। हमारे ऋषियों ने व्याकरण आदि के समान ही स्वर

1- भारतीय संगीत का इतिहास, डा0 सुनीता शर्मा, पृ0 - 37.

को भी वेद के अर्थ और निर्वचन के लिए उपयोगी माना है। स्वर अपने कौशल में किस प्रकार अर्थ को पुष्ट करते हैं, इसे हम एक लौकिक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। एक व्यक्ति के पास एक ही समय में एक भिखारी और महाजन आते हैं। एक उससे भीख मांगता है, जबकि दूसरा अपना ऋण के तौर पर दिया हुआ पैसा वापिस मांगता है। दोनों के मुख से एक जैसा शब्द दीजिए निकलने पर भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक के स्वर में करूणा है तो दूसरे के स्वर में दर्प अथवा क्रोध है। दोनो के स्वरों में अन्तर जानना हो तो सारंगी के स्वरों में निकास पर देखिये। तुरन्त मालूम हो जायेगा कि देने की सरगम भिन्न-भिन्न है। आज कल संगीत लिपि जिसे अंग्रजी में नो टेंशन कहते हैं, सर्वत्र प्रचलित है। वेदमन्त्रों पर अंकित स्वर अपने शब्द का अर्थ निश्चित करने में सहायक होते हैं। संगीत की भाषा में।

उच्चैनिषादगंधारौ नीचैर्ऋषभधैवती।

शैषास्तु स्वारिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमः ।।

- याज्ञवल्क्यशिक्षा।

जो निषाद और गंधार स्वर है, वेद में उदात स्वर ऋषभ और धैवत अनुदात्त और शेष षड्ज, मध्यम और पंचम स्वरित है। अनुदान स्वर का बोध नीचे पड़ी ऐसा होता है, स्वरित का उपर खडी'। 'रेसासे। उदात्त बिना चिन्ह के होता है-

संगीत का अध्यात्मिक स्वरूप जीव और ईश्वर के सम्बन्ध का चिंतन करना दर्शन का मुख्य विषय माना जाता है, अद्वैतदर्श का मुख्य विषय माना जाता है। अद्वैतदर्शन इस संबन्ध में को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ समझा जाता है, क्योंकि अद्धेतवाद का यथार्थज्ञान होना और आत्म ज्ञान होना एक ही बात है। दोनों में कोई भेद या अंतर नहीं है, ब्रह्मा और जीव के मूल स्वरूप का ज्ञान होना मुक्ति या मोक्ष है, जो जीवन के चारों पुरूषार्थों में अन्तिम पुरूषार्थ है, इस ब्रह्मा और जीव के मूल स्वरूप को हम कई प्रकार से समझने की चेष्टा करते हैं, जैसे पुष्प सलिला गंगा।

भारतीय संस्कृति के इतिहास का अवलोकन करने पर विभिन्न विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय संस्कृति की जो परम्परा सदियों से चली

आ रही थी, उसके अनुसार ही समस्त कलाएं पल्लवित हुई। इसको चिंतन धारा अध्यात्मवाद पर आधारित रही। अध्यात्म की चरमोत्कृष्ट परिणति आनन्द है और उसका अन्तिम लक्ष्य परम ब्रह्म की प्राप्ति। हमारे देश में संगीत को केवल मनोरंजन का साधन न मानते हुए उसे भक्ति एवं अध्यात्मिकता के साथ जोड़ा गया है। संगीत को मनोरंजन का माध्यम बनाना मुगल काल से ही आरम्भ हुआ। इससे पूर्ण संगीत पूर्णतः पवित्र तथा धार्मिक था। अनेक धार्मिक क्रान्तियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिवर्तनों के बावजूद संगीत व्यक्ति को मानसिक शांति तथा अलीन्दियों को अलौकिक सुख एवं वैराग्य प्रदान करता है। संगीत एक क्रियात्मक कला है - साहित्य स्वयं शास्त्र भी इस कला का वर्णन करते हैं। अतः संगीत के साहित्य के साथ जुड़ा होने के कारण इसका एक मार्ग धर्म की ओर जाता है, दूसरा दर्शन की ओर, संगीत शिक्षा का एक लक्ष्य इसी व्यापक धार्मिक चेतना तथा अध्यातिमकता का विकास करता है।

संगीत मानव-मन की मलिनताओं तथा विकृतियों को धो डालता है, अर्थात् यदि हम अपनी भूख-प्यास तथा वासना को खा-पी तथा भोगकर तृप्त करते हैं तो भावों की अभिव्यक्ति या मन के उद्‌गार हर्ष, विषाद, शोक, करूणा आदि मर्मस्पर्शी विषय संगीत द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। वस्तुतः संगीत कला तथा आत्मा एक दूसरे में प्रतिविम्बित होते हैं। क्योंकि संगीत कला का मुख्य लक्ष्य जन रंजन ही नहीं भव रंजन करना भी है, जो सांसारिक क्रिया-कलापों में दूर परमात्मा से एकाकार करता है। संगीत को सतोगुणी भी कहा जाता है।

श्री जी0एच0 रानाडे ने भारतीय संस्कृति की वैदिक परम्परा में अध्यात्म और संगीत का वर्णन इन शब्दों में किया है - "भारत सदैव संगीत का उपासक रहा है। सत्य तथा शिव के साथ सुन्दरता से युक्त होने के कारण वैदिक तथा ब्राह्मण युग के मानव ने तदनुरूप समाज की रूपरेखा बनाई। उस युग के यावत कार्य दार्शनिक विचारों से निर्धारित होते थे। इसके विपरीत मनु ने साधारणतः मनुष्य के लिए संगीत को अनुपयोगी बताया। उनका विचार सम्भवतः यह था कि कला की सुन्दरता मानव-समाज के लिए हितकारी नहीं है। यदि हम आर्य सभ्यता के

उस ऐतिहासिक गौरवमय युग पर दृष्टिपात करें तो यह समझना कठिन नहीं होगा कि योग, संगीत एवं ज्योतिष उस समय अपने-अपने उत्कर्ष पर थे।[42]

पं0 ओंकार नाथ ठाकुर ने वैदिक-वाडमय का अत्युत्तम ढंग से विश्लेषण करते हुए लिखा है। संस्कृत वाडमय को यह एक बड़ी विशेषता है कि उसमे ज्ञान की सभी शाखाओं, सभी विद्याओं, सभी कलाओं और शास्त्रों का विवेचन इस ढंग से किया गया है। उसमें कोई भी विषय भारतीय संस्कृति के मौलिक दृष्टिकोण से विछुग नहीं पाया है। हमारे प्राचीन विद्वानों ने सब विद्याओं को एक ही केन्द्र की ओर उन्मुख रखा है - वह केन्द्र भला कौन-सा है, जिसके परिधि में पूरे ज्ञान भण्डार का समावेश हो सकता है। वैदिक युग में संगीत की सबसे बडी विशेषता उसकी पवित्रता और आध्यात्मिकता ही रही है। पं0 ओंकार नाथ ठाकुर ने भी चारों वेदों का इस प्रकार विवेचन किया है -

'तत्र वेदानामुपवेदाश्चत्वारो भवन्ति ऋग्वेदस्याजुर्वेद' उपवेदों यजुर्वेदस्य यजुर्वेद उपवेद सामवेदस्य गान्धर्व वेद अथर्ववेदस्यार्थ शास्त्रं चेत्याह भगवान व्यास ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में संगीत का आरम्भ धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति से हुआ है।

शत पथ ब्राह्मण में कहा गया है कि बिना साम-गान के यज्ञ सिद्धि नहीं होती सामवेद से गान्धर्व की उत्पत्ति हुई और गान्धर्व वेद में सोलह हजार राग-रागनियों का निर्माण हुआ।

उपनिषदों में सामगान की प्रचुर प्रशंसा पाई जाती है। ब्रह्मानन्द की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए संगीत से प्राप्त आनन्द को उसी के सोपान के रूप में माना गया है। पुराणों की संज्ञा 18 बताई गई है 'हरिवंश' पुराण में सप्रस्वर ग्राम राग तीन स्थान मूर्च्छना नृत्यस्य तथा विभिन्न वाद यंत्रों का वर्णन प्राप्त होता है।

रामायण भार0 साहित्य प्रथम महाकाव्य है रामायण सम्पूर्ण रूप से अथाह, अविरल धार है जो अपने रचना काल से युगो युगों तक अजस्र रूप से प्रवाहित होती रहेगी। रामायण कालीन संगीत निश्चय ही अत्यन्त समृद्ध एवं विकसित था।

1- शतपथ ब्राह्मण, 134/9/2, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी.

अध्यात्म की वेदमूलकता

वेद गूढ आंतरिक प्रतीकों का लगभग अध्यात्मिक सूत्रों का ग्रन्थ है, जो कर्म काण्डमय कविताओं के संग्रह छद्मवेष धारण किए हुए है। वेद का आतरिक भाव अध्यात्मिक, सार्वभौम एवं निर्वैयक्तिक है,

अध्यात्म

वेदभेदात् ।।90।। वेद भेद से अर्थ भेद है।

सकलविद्येतरेतराश्रयत्वात् ।। ।2 ।। समस्त विद्याओं के एक दूसरे पर आश्रित होने से वेद समस्त विद्याओं का भण्डार है। ये विद्यायें एक-दूसरे से संबंधित हैं। ग्रन्थों में वेदों का बहुत महत्व है।

"मीमांसा वैशेषिक न्याय सांख्य योग वेदान्ते शदिदशोपनिषदश्चोपाङगनि'।।6।। मीमांसा वैशेषिक न्यय सांख्य योग और वेदान्त ये छह आङग हैं उन्हें दर्शन तथा शास्त्र भी कहते हैं। इन दर्शनों के रचयिता क्रमशः जैमनिकरपद गौतम, कपित पतञ्जलि तथा व्यास है। इनमें मीमांसा योग पर व्यास मुनिकृत्त, न्याय, वेदन्ति पर वात्सनायनकृत वैशेषिक पर गौतमनु निकृत तथा सांख्य पर भायुरि मुनिकृत भाष्य विशेष उल्लेखनीय है। ईश, केन, कंठ, प्रश्न मुण्डक, माण्डुक वैतिरीय, एतरेय छन्दोग्य तथा वृहदाख्यक ये ।0 उपनिषद भी उपाङगो के अन्तर्गत हैं ।।6।।
शतपथैप्तरेयगोपथसामाख्यानि ब्रह्मणानि ।। 8 ।। अजुवेद, गन्धर्व वेद, धर्नुवेद तथा अर्थन्दि ये चार उपवेद हैं।

इनमें से कोई उपवेद इस समय उपलब्ध नहीं है। परन्तु अनेक कथा वाक्यों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। आयुवेद को अर्थववेद का उपवेद बताया जाता है। सुश्रुत मे इस विषय में स्पष्ट लिखा है। आयुर्वेदन्नाम् यदुयांग अथर्व वेदस्य अर्थात् आर्युवेद नामक शास्त्र अथर्व वेद का उपाङग है - तस्यायुषाः पुण्यतमोवेदो वेदविदां मत. - वेदज्ञ मनुष्यों का मत है कि आयुर्वेद पुण्यतम् है। वस्तुत. अथर्व वेद चिकित्साविषयक ज्ञान का भण्डार है। धनुवेद में राजधर्म शास्त्रास्त्र विद्या अथवा सैन्य संचालन का वर्णन है। नारदसंहितादि सहित गान्धर्व वेद संगीत शास्त्र है।

मंत्र संहित वेदाभिद्या ।। । ।। मन्त्र संहिता का नाम वेद है। वेद शब्द विद् ज्ञानि धातु धञ प्रत्यय होकर निष्पन्न् है धञ प्रत्यय का अर्थ भाव का कारण हो सकता है। अत: ज्ञान, ज्ञेय पदार्थ और ज्ञान का साधन तीनों ही वेद शब्द के वाच्यार्थ हो सकते हैं। यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेद शब्द का प्रयोग ज्ञान का साधन रूप-ग्रन्थ मात्र के लिए किया जा सकता है, 'पाणिन' ने अपने धातु पाठ में विद् धातु के अर्थ सत्ता लाभ और विचारना (विद्, सत्तयाम् विद्यप्त लभि विद्‌विचारणो) ये तीन और माने हैं। इन अर्थों में उक्त तीनों प्रत्ययार्थ जाडने से वेद शब्द का अर्थ अत्यन्त गम्भीर और व्यापक हो जाता है। लाभ आनन्द वेद शब्द का अर्थ अत्यन्त गम्भीर और व्यापक हो जाता है। लाभ आनन्द का उत्पादक अथवा आनन्द का ही एक रूप है। ऐसा विचार करने पर सत्ता ज्ञान आनन्द (सच्चिादानन्द) ये तीन जो ब्रह्म के स्वरूप लक्षण श्रुतियों में मिलते हैं।

जन्माद्यस्य यत: :- जिससे सब उत्पन्न हों जिसके आधार पर सब जीवित रहें और जिसमें सब लीन हों - ब्रह्म का यही लक्षण वेदन्ति सूत्रो (1-1-2) मे कहा है। इसलिए वेद का एक पर्याय ब्रह्म है। परन्तु लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान के साधन रूप शब्द आज वेद नाम से संसार मे प्रसिद्ध है।

अधिकतर लोग केवल मन्त्र संहिताओं (ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद) को ही वेद मानते हैं। किन्तु वेदों के व्याख्यान रूप ब्राह्म्ण ग्रंथो का भी वेदों मे समावेश है। अन्य ग्रन्थ आख्यक और उपनिषद् ग्रन्थों को भी वेद के अन्तर्गत मानते हैं।

1- तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच: समानि जज्ञिरे।
छन्दासि जज्ञिरे तस्माछ्जुस्तस्मादजायत।।

ऋग्वेद 10-9-9

2- तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच: सामानि जाग्रिरे ।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद्येजुस्तवस्मादाजायत्।।

अर्थवेद

नेश्वरस्याप्यन्तं त्यागो मुख्यतो भगवन्प्रति हेतुत्वात् ।। 36 ।।

वेद के किसी भी मत्र मे ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता ईश्वर प्राप्ति मे (वेदों का) मुख्य प्रयोजन होने से।

वेद ईश्वर प्रदत्त है। अत. ईश्वर के साथ वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिस प्रकार वह अपने प्रायोगिक क्षेत्र सृष्टि के कण-कण में ओत-प्रोत है, उसी प्रकार वह अपनी सैद्धान्तिक कृति वेद के भी एक-एक मन्त्र में समाहित है। यास्क ब्रह्मा को वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानते हुए निरूक्त (7-4) मे कहते हैं - महाभाग्याद्येवताया एव आत्मा स्तूयेत अर्थात् देवता के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होने से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। वह एक देवता कौन है। इसका उत्तर निरूक्त के परिशिष्ट मे इस प्रकार है-

"अथैष महानात्मा सत्वलक्षणः तत्परं तद् ब्रह्मा।"

अर्थात महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्मा है। वेद की दृष्टि में वह महानात्मा अग्नि है। अग्निमीडे कर ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में उसी की स्तुति का उल्लेख किया गया है।

कुछ लोग अध्यात्म विषय को उपनिषदों में ही निहित मानते हैं। परन्तु स्वयं उपनिषद् आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार सम्पूर्ण वेद का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मा को स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ कठोपनिषद् 1-15 में कहा है -

सर्व वेदा यत्यदमागनन्ति - तत्ते पदं संग्रहेण ब्रबीम्योमित्येतत्। इससे स्पष्ट है कि समस्त वेद का प्रतिपाद्य विषय ओम् है। कठोपनिषद की इसी श्रुति की प्रतिध्वनि गीता के 8 अध्याय के 11वें श्लोक में है। आगे चलकर तो श्रीकृष्ण ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह डाला -

"वेदश्च सवैरहमेव वेद्य." गीता 15-15) यही बात भगवान कृष्ण द्वैपायन व्यास ने अपने पुत्र शुक देव को अध्यात्म विद्या का उपदेश करके अन्त में कही-

---

1- वेद मिमांसा, डा0 एल0डी0 दीक्षित, पृ0 78.

दशेदमृक्सहस्राणि निर्गथ्यामृतमद्भुतम्।

नवीनतं यथा दघ्नः काष्ठादग्निर्यथैव च।

तथैव विदुषां ज्ञानं पुलहेतोः समुद्रधृतम् ।। मा0भा0शा0प0 246

अर्थात् जैसे दही को मथ कर मक्खन निकाला जाता है, या लकड़ियों को रगड़ कर अग्नि को प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार दश सहस ऋचाओं को मथ कर मैने यह अध्यात्म ज्ञान निकाला है।

यहां दी हुई उपमाओं से सपष्ट है कि जैसे दही के प्रत्येक भाग में सूक्ष्म रूप में नवनीत विद्यमान है, और जैसे काष्ठ के प्रत्येक भाग में सूक्ष्म रूप से अग्नि विद्यमान है वैसे ही दश सहस्र ऋचाओं के (समूह ऋगवेद) की प्रत्येक ऋचा में सूक्ष्म रूप से अध्यात्म ज्ञान निहित हे। तदनुसार ही स्वामी दयानन्द की मान्यता है - नैवेश्वस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थ लयन्तयागो भवति (ऋ0भा0भू0 प्रतिज्ञाविषय) अर्थात् वेद के किसी भी मंत्र में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता (36).

क्योंकि आचार्यो के मत में प्रत्येक मन्त्र का अध्यात्मिक अर्थ हो सकता है अतएव - अध्यात्म प्रसंड ईश्वराख्या अग्न्यादय· ।। (37).

अध्यात्म प्रसंग में अग्नि आदि शब्द ईश्वर वाचक है। निर्वचन के आधार पर आध्यात्मिक व आधिदैविक प्रक्रिया में अग्नि शब्द से परमेश्वर राजा, नेता, विद्वान आदि का भी ग्रहण होता है। परन्तु अग्नि करूण इन्द्र मरूत् यम - "आदित्म आदि शब्द मुख्य व्रति से ईश्वर पायी है। कात्यायन का वचन है - "ओंडारः सर्वदेवत्य· पारमेष्ठयो वा व्रह्मो दैव आध्यात्मि अर्थात अध्यात्म में सब ऋचाओं का देवता ओंडार परमेष्ठी अथवा ब्रह्मा है। यह सब नैरूक प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है, क्योंकि वेद के सभी शब्द धातुज, आंख्यातज अथवा यौगिक है। इतना ही नहीं वेद के अनेक मंत्र में अमि आदि का कतिपय ऐसे विशिष्ट विशेषण प्रयुक्त हैं, जो केवल अध्यात्म प्रक्रिया में ही उत्पन्न हो सकते हैं।

सर्वज्ञानोपलब्धिः ।। 56 ।।

सम्पूर्ण ज्ञान का उपलब्ध होना।

सर्वज्ञानमयो हिसः - वेद समस्त विद्याओं का मूल है, यह बात सर्वसम्मत है, शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र पदार्थ विज्ञान साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तुशास्त्र आदि विषयों के सभी मुख्य ग्रन्थ अपने अपने विषयों के वेदमूलक होने की घोषणा करते हैं। इस प्रकार वेद प्राणिमात्र के लिए अपेक्षित पूर्वज्ञान का भण्डार है। मानव जीवन के सब अंगो- व्यष्टि एवं समष्टि पर प्रकाश डालता है। जिस वेदार्थ से इस बात की पुष्टि नहीं होती वह वेद के वेदत्व का विघात करेगा ।। 56 ।।

त्रिविधार्थ निदर्शनम् ।। 57 ।।

त्रिविध अर्थों का ज्ञान होना।

वेद में आये नामों के धातुज होने धातुओं के अनेकार्थक होने तथा वेद के सर्वज्ञानमय होने से वेदमंत्र विविध अर्थों का प्रकाश करने में समर्थ है। अतः वेद मन्त्रों के अधि दैविक, अधिभौतिक तथा अध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी अर्थ होने चाहिए। ऋगवेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने निरूक्त का प्रमाण (नि, भा0 7-4) देकर कहा है कि यास्कमुनि के मत में वेद के प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होना चाहिए स्वामी ने मन्त्रों की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक व्याख्या का भी विधान किया है, जिसका समावेश अन्तत त्रिविध प्रक्रियानुसारी अर्थों में हो जाता है। प्रकरणादि के अनुसार मन्त्रों के सभी संभव अर्थों का निरूपण होना चाहिए ।। 57 ।।

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध का चिंतन करना दर्शन का मुख्य विषय माना जाता है, अद्वैत दर्शन इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ समझा जाता है, क्योंकि अद्वैतवाद का यथार्थ ज्ञान होना और आत्म तत्व का ज्ञान होना दोनो एक ही बात है, दोनों में मूलत: कोई भेद या अंतर नहीं है। ब्रह्मा और जीव के मूल स्वरूप का ज्ञान होना ही मुक्ति या मोक्ष है, जो जीवन के चारों पुरूषार्थों में अंतिम पुरूषार्थ है।

संगीत भारत की प्राचीनतम् धरोहर है। आदि ग्रंथ या यों कह लीजिए अध्यात्मिक ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में कई सूक्त गेयता की दृष्टि से उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

सामवेद का तो आधार ही संगीत है। वेदों को स्वरों के साथ पढ़ाने हेतु हाथ या सिर हिलाने की प्रक्रिया आज भी देखी जा सकती है, वही वेदों में यम-यामी संवाद शर्मा पणि संवाद इत्यादि नाट्य-विकास की परम्परा के आदि स्वरूप है। शिव पार्वती के लास्य नृत्य और तांडव नृत्य रावण का नृत्य, नृत्य की प्राचीनता स्पष्ट करता है। भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र' विश्व का सबसे प्राचीन वैज्ञानिक और शास्त्रीय ग्रंथ है। संगीत के तीनों रूप नृत्य, गायन और वादन का विस्तृत और सूक्ष्म रूप से इसमें वर्णन हुआ है। सुप्रसिद्ध चौसठ कलाओं में संगीत का सर्वाधिक महत्व माना गया है। नांद-ब्रह्मा की साधाना निर्वाण की प्राप्ति का श्रेष्ठतम् साधन है इसीलिए निर्वाण की प्राप्ति का श्रेष्ठतम् साधन है। इसीलिए 'गीत' में कहा गया है - 'मद्धक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नाट्य' अर्थात मेरे भक्त जहाँ मेरा गुणगान गाते हैं, वही मेरा वास्तविक निवास है।

वेदों में 'सामवेदोऽस्मि' वेद में सप्त स्वर के विभाजन के साथ दुंदुभि अधाति, आतोद्य वीणा आदि वाद्ययंत्रो का भी उल्लेख प्राप्त होता है। रामायण, महाभारत में स्वर, ग्राम श्रुति, मूर्च्छना आदि की विशद व्याख्या भी प्राप्त होती है। राग के लिए 'भरत नाट्य शास्त्र का जाति शब्द इनमें प्रयुक्त हुआ है। राग शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य मतंग में 'वृहद्देशी' नामक ग्रंथ में किया है। इसका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी के आस-पास माना जाता है। राग शब्द का प्रयोग कालिदास ने भी किया है 'तवाऽस्मि गीतरागेष' प्रागैतिहासिक काल से अभिप्राय उस सुदूरं एवं अतीत काल खण्ड से है, जिसके सम्बन्ध में किसी सूत्रबद्धं संस्कृति का प्रथम ऐतिहासिक दर्शन वैदिक वाडमय में उपलब्ध होता है।

1. वैदिक युग भारत के सांस्कृति इतिहास में प्राचीनमय युग माना जा सकता है। भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों का सर्वप्रथम रूप इसी युग के वाडमय में उपलब्ध है। वैदिक युग से अभिप्राय उस बड़े काल खण्ड से है जिसमें चार वेदों तथा उनके विविध अंगो का विस्तार हुआ है। प्राचीन आचार्यो के अनुसार 'वेद-वाडमय' इकाई है। जिसके अन्तर्गत ऋक, यजु, साम, अथर्व, पृथक, संहिता के रूप में निर्माण हुआ।

महाभारत के अनुसार वेदों को पृथक रूप से संकलित है -

'वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इति स्मृतः'।।

इस सम्बन्ध में दुर्गाचार्य की निम्न मान्यता है -

वेदं लावदेक सन्तम् अतिमहत्वात् दुरध्येय मनेकशाखाभेदम् सामाम्नासिषु । सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातक्न्त ' ।।[2]

मीमांसाकार जैमिनी के अनुसार 'ऋक्' उन छन्दोबद्धमन्त्रों का नाम है।

'तेषामृग यत्रार्थबशेन् पादव्यवस्था' ।[2]

इन्हीं ऋचाओं पर जो गान निबद्ध है, उनके लिए 'साम' सज्ञा है - 'गीतिषु सामास्या ऋक तथा साम के अतिरिक्त जितने मंत्र हैं, वे 'यजुष' के नाम से अभिहित होते हैं - 'शेषे युजु· शब्द' इन्हीं मन्त्रों का संहिता-स्वरूप विभिन्न ऋत्विजों की आवश्यक्तानुसार रचित हुआ। वेदों की अध्यात्मिकता का तात्पर्य केवल मंत्र-संहिता से नहीं उसके अन्तर्गत ब्रह्मण आरण्यक तथा उपनिषद वाङमय का समावेश है। आपस्तम्ब के अनुसार मन्त्र तथा तत्सम्बन्ध ब्रह्मण दोनों के लिए 'वेद' संज्ञा है - 'मन्त्र ब्राह्मण्योर्वेदनामधेयम्'[4] मंत्र वह है, जिसमें महर्षियों की स्वात्यानुभूति अभिव्यक्त हो उठी है - 'मननात् मन्त्रा '। 'ब्रह्मण' से अभिप्राय मंत्र संहिता के अर्थ की परम्परानुगात व्याख्या करने वाले पूरक ग्रन्थों से है। ब्राह्मण गन्थों के तीन विभाग हैं - (1) ब्रह्मण (2) आरण्यक (3) उपनिषद।

वैदिक वाङमय के स्पष्टीकरण के हेतु एक अन्य साहित्य-प्रकार निर्मित हुआ, जिसका नाम वेदांग है।

ऋग्वेद काल में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का पर्याप्त प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के शाखायन ब्रह्मण के अनुसार इन तीनों शिल्पों का प्रयोग प्रायः अभिन्न साहचर्य के रूप में प्राप्त होता है।

1- वैदिक तथा परवर्ती देव शास्त्रों का सिंहावलोकन, गया चरण त्रिपाठी, पृ0 179.

'त्रिवृद्धे शिल्पं नृत्यं गीतं वादितामिति' (29-5)

ऐतरेय ब्रह्मण के अनुसार इन शिल्पों की गणना दैवी[2] शिल्पों है तथा इनकी सहायता से यजमान का व्यक्तित्व संस्कृत होता है -

1- 'एतेषां वैशिल्पानां अनुकृतीह शिल्पमधिगभ्यते। ओऽम् शिल्पानि शंसन्ति देवशिल्पानि शिल्पमिदमस्मिन्नधि गम्यते एवं वेद यदिव शिल्पानि'।

'आत्म संस्कृतर्बाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमात्र आत्मानं संस्तुरूते'। यही देवताओं की प्रसन्नता के लिए साधक बतलाये गये हैं।

स नः सत्वान आभर गायत्रेण नवीयसा ऋ0 (1-12-11)

ऐसे गीत के गायक 'गायत्रिन्' कहलाते थे।[3] गायक के लिए 'गातुवितम' शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है।[6] 'साम' गायन का उल्लेख ऋग्वेद में बाहुल्य से पाया जाता है, जो इस तथ्य से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के संकलन के पूर्व ही साम-गात्र का बहुल प्रचार था इन्हीं सामों के आधार पर विभिन्न ऋचाओं का गान किया जाता था। पुरूष सूक्त में ऋक तथा साम को विधाता का आदिम सृष्टि माना गया है।

ऋग्वेद के एतरेय आख्यक में दैवी तथा मानुषी वीणा का सुन्दर सामजस्य उपस्थित किया गया है। एतरेय आरण्यक का यह अंश इस प्रकार है -

'अथ खल्विय दैवी वीणा भवति तदन्नं'

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वेदों की महत्वा को दर्शाते हुये कहा गया है- अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेवदि परकृतिः ।। 16।।

अन्य कलाओं द्वारा अनुष्ठित परस्पर विरोधी विधि का कथन करना परकृति नामक अर्थवाद है।

1- हिन्दू सिविलीजेशन, डा0 राधाकुमुद मुखोपध्याय, पृ0 32.

शुभ कार्यों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ कार्यों से वितर करने के उद्देश्य से भिन्न कर्तृक (दूसरों के लिए) परस्पर विरोधी कार्यों तथा उनसे होने वाले हानि लाभ का विवरण देना परकृति अर्थवाद कहलाता है।

यजुर्वेद में संगीत - यजुर्वेद यज्ञ संस्था के उत्कर्ष का प्रतीक है। धर्म ग्रन्थों में पग-पग पर यज्ञ की महिमा का गान है। वेद में यज्ञ का विषय प्रधान है, क्योंकि यज्ञ एक ऐसा विज्ञानमय विधान है, जिससे मुनष्य का भौतिक और अध्यात्मि दृष्टि से कल्याणकारक उत्कर्ष होता है।

कस्त्वा विमुञ्जति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति
तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षासां भागोसि ।। यजु 223

सुख-शान्ति चाहने वाला कोई व्यक्ति यज्ञ का परित्याग नहीं करता जो यज्ञ को छोड़ता है उसे यज्ञ रूप परमात्मा भी छोड़ देते हैं। सबकी उन्नति के आहुतियाँ यज्ञ में छोड़ी जाती हे, जो नहीं छोड़ता वह राक्षस होता है।"

वेद की महत्वता को शास्त्र पुराण सभी वर्णन करते हैं। अथर्ववेद में गायत्री की स्तुति की गयी है, जिसमें उसे आयु प्राण शक्ति, पशु कीर्तिधन और ब्रह्मातेज प्रदान करने वाली कहा गया है।

वेदों से 'ब्रह्मण' ग्रन्थों का अर्विभाव हुआ है। प्रत्येक के कई-कई ब्रह्मण ग्रन्थ हैं। पर अब उनमें से थोड़े प्राप्त होते हैं। काल की कुटिल गति ने उनमें से कितनों को लुप्त कर दिया।

ऋग्वेद के दो ब्रह्मण मिलते हैं शांखायन और एतरेय.

यजुर्वेद के तीन ब्राह्मण प्राप्त हैं, शतपथ ब्राह्मण काण्व ब्राह्मण, तैतरिय ब्राह्मण, सामवेद के ।। ब्राह्मण उपलब्ध है - आर्षेय ब्रह्मण, जैमिनी आर्षेय ब्राह्मण, संहितोपनिषद ब्रह्मण, मन्त्र ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण, साम विधान ब्राह्मण षड्विंश ब्रह्मण

दैवत ब्रह्मण, ताण्डव ब्रह्मण, जैमनीय ब्रह्मण, जैमनीय उपनिषद ब्रह्मण। अथर्ववेद का केवल मात्र एक ब्रह्मण मिलता है, जिसका नाम गोपथ ब्राह्मण है।

वेदों में ऋक् एवं यजुर्वेद में अग्नि को 'अन्नाद' या अनन का भक्षण करने वाला कहा गया, जीवों का प्राणात्मक स्पन्दक ही अन्नाद अग्नि का रूप है। अन्न ही सोम है। केन्द्र के बाहर से अन्नरूपी सोम को खींच कर अन्नाद अग्नि पचाता है और शरीर की वृद्धि करता है। 'अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे-दिवे' ऋ0 ।।। का यही अभिप्राय है। यही सोम की अग्नि में आहुति है। यही सोम ोग है। यदि केन्द्र में बैठे अन्नाद अग्नि को सोम न मिले तो यज्ञ की समाप्ति हो जाय और कोष या शरीर के संवर्द्धन का कार्य रूक जाय।

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि अग्नि सूर्य आदि नामों से वेदों में ईश्वर की स्तुति है। अरविन्द का मत है कि वस्तुतः वैदिक मंत्र मनोवैज्ञानिक रहस्यों का ही वर्णन करते हैं। अग्रवाल जी अय्यर महोदय में वैदिक मंत्र की अध्यात्मिकता को दर्शाते हुये 'वेदों के प्रति' रहस्यवादी दृष्टिकोण अपनाया है।

हिन्दू साहित्य का प्रमुख आध्यात्मिक ग्रन्थ में यदि ऋग्वेद के दशम् मण्डल में श्रद्धा, मन्यु, काम आदि भावात्मक देवता प्राप्त हो सकते है तो कोई कारण नहीं कि प्रारंभिक अथवा पूर्व वैदिक काल मे इस प्रकार के देवता न रहे हो। वरूणा मित्र, इन्द्र आदि देवों के प्राकृतिक आधार के सम्बन्ध में वैदिक विद्वान आज तक एक मत नहीं हो सके हैं और यह पूर्ण संभव प्रतीत होता है कि ऐसे देवाताओं का कोई प्राकृतिक रहा ही न हो।

ऋग्वेद के ही अनेक मंत्रो में इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण है कि प्राकृति के विविध अभिरूपों में प्रतिविम्बित किन्तु उन सबमें एक तया अनुस्यूत एक ही दिव्य शक्ति को अभिव्यक्ति एवं आश्रय के वैभिन्नय के कारण नाम भेद से अनेक रूपों में स्तुति की गई है।[1] वैदिक बहुदेवतावाद के मूल में वर्तमान एक देववाद

की यह भावना सर्वाधिक सशक्त रूप में संभवतः इस ऋचा में प्रकट हुई है -

इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरूत्मान्।
एवं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ।।

"ऋषि कभी उसे इन्द्र कहते हैं, कभी मित्र, कभी वरूण, कभी ऋ0 1/164/56 अग्नि, एक ही तत्व को विद्वान अग्नि, यम आदि अनेक रूपों में वर्णित करते हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तक आते-आते तो एक देववाद की यह धारणा और भी प्रबल हो उठती है, यजुर्वेद कहता है।

(क) तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायुः तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मा ता आपः स प्रजापतिः ।। 32 ।।

अथर्ववेद के कुछ मंत्र तो इतनी स्पष्टता से एकदेवाद का प्रतिपादन करते हैं कि यदि उनकी स्थिति उपनिषदों में होती तो भी कोई आश्चर्य का विषय नहीं था -

(क) एक एवं नमस्योविक्ष्वीडय......
एक एव नमस्य· सुशेवाः । (2/2/1-2)

उपर्युक्त विवरण का यह तात्पर्य नहीं है कि वैदिक संहिताओं में आये हुये सोम अग्नि, ऊषम् आदि नामों का संज्ञा के रूप में अपना कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है, और केवल परमेश्वर के ही विशेषण है। वस्तुतः अग्नि, ऊषम, आदि के भौतिक रूप को भुलाकर उनको केवल ईश्वर के गुणों के द्योतक विशेषण मान लेना बहुत कठिन है।

जिस समय ऋग्वेद के सूक्तों की रचना हो रही थी उस समय देवताओं का स्वरूप उनके भौतिक एवं अध्यात्मिक रूप का मिश्रण मात्र थे। प्रत्येक देवता के उद्गम के मूल में ये ही दो तत्व हैं - उस प्राकृतिक दृश्य का भौतिक स्वरूप और उससे घनिष्ठता संबन्ध कोई दिव्य ईश्वरीय चेतना पहले वेदों में कुछ देवताओं का

1- संगीत और संस्कृति, डा0 प्रज्ञानन्द, पृ0 321, 322.

भौतिक स्वरूप प्रधान था और फिर धीरे-धीरे अध्यात्मिक रूप प्रबल होता चला आ रहा है।

वेदों में अध्यात्मिक गुणों का समावेश है। उसकी शक्ति में अभिवृद्धि होती रहती है और धीरे-धीरे पूर्ण विकास तक पहुँच जाता है। इस प्रक्रिया के सबसे सुन्दर उदाहरण सम्भवता अग्नि एवं सोम है। अग्नि का ज्वालन शील दैदीप्यका न तेजयुक्त, भौतिक स्वरूप कितना स्पष्ट है, किन्तु फिर भी वैदिक ऋषि उस दृश्यमान स्वरूप के बन्धन को तोड़कर निर्वाध गति से उसके आध्यत्मिक स्वरूप की ओर बढ़ते हैं। जो नीचे के मंत्राश से स्पष्ट है -

अग्नि ऋत का स्रोत है (6/48/5) वह शाश्वत जीवन का केन्द्र है। और उनके अनेक नाम एवं रूप हैं। (3/20/3/6/97) उसका निवास मनुष्यों के हृदय में है, जहाँ से वह बार-बार उत्पन्न होता है। वह सनातन होने पर भी सदा नवीन है। (10/4/1) वह प्रत्येक वस्तु को देखता है। (10/187/4-5) जितनी भी संसार में उत्पन्न वस्तुएं हैं वह उन सब को जानता है। (10/11/11/10/9/93) वह मनुष्य शक्तिशाली है। (3/3/4) जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे प्रविष्ट रहते हैं, उसी प्रकार उसमें सभी प्रकार के ज्ञान प्रतिष्ठित हैं। (2/5/3) इसीलिए वह (विश्वविद्) तथा 'विश्ववेद' है। अग्नि शक्तिशाली दिव्य सम्राट है। वह पृथ्वी एवं आकाश से भी महान् है। (10/80/14) उसकी शक्ति एवं पराक्रम से मनुष्य और देवता तक काँपते हैं। (6/9/7/1/59/5) उसके अन्दर सभी देवता केन्द्रित हैं। (3/11/9/531) एक अग्नि ही सभी देवताओं के रथ में स्थित है। (2/2/3/5/1/1-3) वह नियमों का जानने वाला तथा सत्य मय है। (1/145/1/77/1) उसके नियम (व्रत) कभी नष्ट नही होते और पृथ्वी तथा आकाश तक उनका पालन करते हैं। (2/8/3/7/5/4) प्राचीन भारतीय वैदिक मर्मज्ञों से यह तथ्य छिपा नहीं था। यास्क ने निरूक में स्पष्ट किया है कि महेश्वर से सम्पन्न होने के कारण सब देवताओं की "आत्मा" एक होते हुए भी कार्यभेद से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है।

(पौराणिक) आख्यानो से भी इसकी पुष्टि होती है देवताओं की अध्यात्मिक शक्ति ही सबकुछ है। उदा0 महाभारत में पाण्डवों का खाण्डव बन की घटना, इस धार्मिक प्रवृत्ति - विशेष के जो हिन्दू धर्म में बहुत बाद तक प्राप्त होती है कुछ कारण है।

अथर्ववेद में वेदों की अध्यात्मिकता का महत्व है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का अत्यधिक महत्व था। उस समय यज्ञ देवताओं की प्रसन्नता के लिए प्रदान किया जाता था। श0ब्रा0 3/9/1 वेदों में देवों का महत्व को दर्शाते हुए कहा गया है वागवै सरस्वती (7) 'पंशवो वैं पूषा' ब्रह्मा वैवृह्के क्षत्रं वाइन्द्रः विशो वै मरूत. (17) तेजो वा श्रुति, श0प्र0 4/3/5/1 तथा 13/1/7/2 में कहा गया ('त्रयो वैदेवा', त्रयावृतो वैदवाः)।

यर्जुवेद में सूर्य को स्वयंभू: कहा गया है।

अथर्ववेद ने अध्यात्म सम्बन्धी कई सूत्र है जो त्रयोदश काण्ड के अन्तर्गत है द्वितीय सूक्त का निम्नांकित 38वा मंत्र अध्यात्म विद्या के लिए प्रख्यात है -

सहस्राहव्यन् विचित्रो अस्य पक्षौ हरे हंसस्य पतत. स्वर्गम् ।
सदेवन्-सर्वान् उरसि उपदद्य समपश्यन् यादि भुवनानी विश्वा ।।

उक्त मंत्र में आत्मा को हंस कहा गया है, जो सहस्त्रों दिनों से अपने दोनों पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ रहा है। कहा जाना है इसे । कहते हैं उसकी उड़ान में स्वर्ग की कामना भरी पड़ी है। आश्चर्य यह है कि यह स्वर्ग जाना चाहता है, और नाना प्रकार के भुवनों में घूम रहा है, परन्तु जहां इसे जाना है, जिस स्वर्ग की इसे उपलब्धि करनी है, वह स्वर्ग और उसे स्वर्ग की दिव्य शक्तियाँ सभी अन्दर विद्यमान हैं।

1- श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 19, 27.

भौतिकता का नाम और रूप है। अध्यात्मिकता में नाम रूप का अभाव है। भौतिक बन्धनों को अतिक्रान्ता करता हुआ साधक आत्म दर्शन में नाम-रूपात्मक उपाधियों से ऊँचा उठ जाता है व्यष्टि और साभष्टि का भेद समाप्त हो जाता है। आध्यात्मिकता विकास को उदात्त दशा में एकत्व का दर्शन ही अखण्ड आनन्द की भूमि है।

आत्मा ज्ञान परमात्मा ज्ञाना करता है। आत्मज्ञ ही प्रभु को प्राप्त करते हैं। ऐसा नीचे लिखी ऋचा से ज्ञात होता है -

उपस्थाय प्रथमजागृत्स्य आत्मना आत्मानभमि संनिवश।

ऋत की प्रथमजा आत्मज्ञान करती है और आत्मज्ञान परमात्मा के ज्ञान में प्रवेश करता है। जब तक उसे परमेश्वर का ज्ञान नहीं होगा, तब तक अपना ज्ञान भी प्राप्त नहीं होगा। घर से बाहर कष्ट है मृत्यु से मुक्ति या अतिक्रन्ति प्रभु को जानकर ही हो पाती है।

1- उमेश जोशी, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 83.

वेदों में स्वर - आर्चिक, गाथिक, सामिक

वैदिक-साहित्य की सम्पूर्ण संहिताओं, ब्राह्मणों तथा अरण्यको आदि के अनुशीलन से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है, कि उदात्तादि स्वर वैदिक साहित्य की सम्पूर्ण संहिताओं (ऋक, यजर्व, साम, अथर्व) समुपलब्ध होते हैं। संहिताओं के अतिरिक्त, तैतिरीय ब्राह्मण, तैतिरीयाण्यक, शतपथ ब्राह्मण वृहदारण्यकोपनिषद् तथा एतरेयारण्य के कतिपय स्थल भी उद्दात्तादि स्वर से अंकित मिलते हैं। वैदिक सुक्तों के ढंग से लिखा गया है "सुपार्णध्याय" भी कुछ त्रुटियों के साथ सस्वर उपलब्ध होता है।[1] इसके साथ ही कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो स्वयं तो सस्वर नहीं हैं किन्तु जिन मंत्रो को वे उद्धृत करते हैं. वे सस्वर मिलते हैं।[2]

वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त उदात्तादि स्वरों के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि ये स्वर प्रायः उन्हीं अक्षरों पर ठीक वैसे ही पड़ते हैं, जैसे कि वे मूल मातृभाषा में थे। इसी बात का समर्थन उद्धवल वेद ने स्पष्टतया किया है। वैदिक स्वरों का महत्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि इसमें स्वरों की ठीक उसी अक्षर पर सुरक्षित रखा है, जैसे कि वे मूल भाषा में थे।

वैदिक संस्कृत में ही नहीं अपितु वैदिक संस्कृत से साम्यता रखने वाली ग्रीक भाषा में भी स्वर ठीक वैसे ही मिलते हैं, जैसाकि वैदिक संस्कृत में। ग्रीक भाषा में उदात्त तथा अनुदात्त वैदिक संस्कृत के उदात्त और अनुदात्त जैसे ही है।

लौकिक संस्कृत के शब्द वैदिक संस्कृत से ही हैं - इसमें कोई विप्रति पत्ति नहीं, अतः लौकिक संस्कृत में भी वैदिक संस्कृत की भाँति उदात्तादि स्वरों का उच्चारण प्राचीन काल में होता रहा।

अतः "विभाषा, भाषयाम्" सूत्र से स्पष्ट है कि अष्टाध्यायी के प्रणेता पाणिनी ने वैदिक स्वरों के साथ ही साथ लौकिक शब्दों में भी स्वरों का निर्देश कर दिया।

"स्वरित स्वर" के ऊपर वैदिक ग्रन्थों में पर्याप्त विवेचन किया गया है -

1- **स्वारार्थ** (क) स्वर शब्द का अर्थ करते हुए महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा है - स्वर राजन्ते इति स्वरा· अन्वग्भवति व्यञ्जनम। (महाभाष्य 1/2/29) अर्थात् स्वर उसे कहते हैं जो बिना किसी की सहायता से उच्चरित एवं स्वयं प्रकाशमान हो और व्याख्या उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि वर्णों में स्वर ही प्रधान है। स्वर के बिना व्यंजन वर्ण उच्चरित नहीं हो सकता, इसीलिए भट्टोजी दीक्षित, सिद्धान्त कौमुदी के प्राथमिक पृष्ठों पर महेश्वर सूत्र के पश्चात् ही लिखते हैं .-

'हकारादिष्वकार।"

(ख) वेद में स्वर शब्द वाक् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है -

यथा - अधिस्वरे ऋग्वेद, (8/72/7)

सायष ने इसका अर्थ 'स्वरोपेते शब्दवति' स्वरों से युक्त शब्दात्मक वाक्य क्रिया है।

(ग) बहुत से ग्रन्थों स्वर शब्द (वॉविल) वर्ण विशेष के लिए प्रयुक्त किया गाय है, जिनके उच्चारण के लिए किसी अन्य वर्ण की आवश्यक्ता नहीं।

यथा- एते स्वराः (ऋग्वेद प्रा० 1/3)[1]

इति स्वराः (वाज० प्रा० 8/6)

षाड़ शादितः स्वराः तै०प्रा० (1/5)[2]

अ इति, आ इति, इ इति, ई इति, उ इति, अ इति, ऋ इति, ॠ इति, लृ इति, लॄ इति समानानि, ए इति, ऐ एति, ओ इति, औ इति, सन्ध्यक्षराणि ।।

ऋक्तंत्र (1/2)

आकाराध्या· स्वरा ज्ञेया औकारान्तश्श्चतुर्दश ।। नाट्यशास्त्र (4/8)

फिट् सूत्र में स्वर को अष् द्वारा ही वर्णित किया गया है।[4]

1- सुरेन्द्र नाथ त्रिपाठी, साहित्य कला रुचि.

2- वैदिक वाङमय का इतिहास, पण्डित भगवत्त दत्त जी, भाग -1 संस्करण -2,

अर्थात् ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार आठ समानाक्षर तर चार सन्ध्यक्षर वर्ण (अ आ, ऋ ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए ओ, ऐ ओ)। ये सभी स्वर है।

1- वाजसनेयी प्रतिशाख्य ने स्वरों का विवेचन निम्न सूत्रों से किया है -

तत्र स्वराः प्रथमम् ।। वा0प्र0 8/2 - ये स्वर निम्न हैं -

आ इति आ इति आ उइति, इ इति ई ईति ई इति, उ ज्ञति अज्ञति ऊ उ इति ऋ इति ऋ इति तृ इति तृं उज्ञति वा0 प्रा0 8/3

ए इति ए उ इति ओ इति ओ उ ज्ञति ऐ इति ए उज्ञति और इति उ उवि वा0प्र0 8/5

इस प्रकार यह प्रतिशाख्य 23 स्वरों को मानता है तथा 42 व्यंजन मानता है वर्णित है -

त्रयोविंशतिरूच्यन्ते स्वरा शब्दार्थचिन्तकै।
दिवचत्वरिंशदव्यञ्जनति, एतावान्वर्ण संग्रह।।

सुबोधिनी व्याख्या :-

अन्ते लधौ द्वयोश्च लध्वोः सवोर्वछच्कस्य गुरूंरूदातः ।। यहां पर लघु और गुरू शब्दों का प्रयोग बतलाया है कि अष ही लघु और गुरू होता है।

लघु और गुरू होने से अष स्वर है

1- अच. स्वरा। सिद्धान्त कौमुदी (प्रथम भाग पृष्ठ 10 वाल मनोरमा सहित)
2- वैदिक स्वर मीमांसा के पृष्ठ 7 पर पं0 युधिष्ठिर भीमासक ने उद्धृत किया है।

इस प्रकार स्वर शब्द के अर्थ तथा पर्याय को बतलाने वाले बहुत थे। शब्द विभिन्न ग्रन्थों से उपलब्ध मिलते हैं। हमारा तात्पर्य यहां पर वैदिक स्वर अर्थात उदात्तादि स्वरों से है, अतः हम वैदिक स्वरों का ही विवेचन करेंगे।

स्वरार्थ -

चिन्तम तथा स्वरों का विविध अर्थो में गृहीत होना इस बात का परिचारक है, कि उन भाषाओं में जहाँ वर्ण समम्माद अथवा (वर्णमाला) (अल्फाबेट्स) होती है। बिना स्वर के उच्चारण सम्भावित नहीं होता। संस्कृत वर्ण समम्नार्थ में पारित इन्हीं स्वरों पर वैदिक स्वर उदात्तादि पूर्ण रूपेण आश्रित है वैदिक स्वरों का कार्य इन स्वरों के उच्चारणार्थ अभिप्रेतानुसार वास्तविक दिशा का निर्देशन करना होता है।

कि किस उच्चारण निम्न करना चाहिए। इसीलिए वैदिक स्वर के संगीत स्वर जैसा ही माना जाता है, क्योंकि वैदिक स्वरों में उच्चता तथा नीचता के कारण एक प्रकार का आरोह और अवरोह प्रारम्भ से अन्त तक दृष्टिगत होता है। ऋग्वेद की ऋचाएं स्वरावलियों में निबिद्ध होने पर स्त्रोत कहलाती है। प्राचीन परम्परा पर अधिष्ठित होने के कारण इन गाथाओं की ऋचाओं से तुल्य माना जाता था -

यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।[4]

इन गाथाओं के गायक 'गाथिन्' कहलाते थे। गीत के लिए गायत्र शब्द का प्रयोग होता था।

1- 3/12/9.

2- 1/2 और द्रष्टव्य कात्यायन श्रौत सूत्र 3/229.

साम स्वरों का विकास के समय यह बताया जा चुका है कि सामगान में न्यूनात् न्यून तीन स्वरों की स्थिति आवश्यक है "नारदीय शिक्षा" के अनुसार स्वरों का विकास एक दो तथा तीन स्वरों से क्रमशः होता रहा है। एक स्वर से युक्त गान 'आर्चिक' कहलाता है, स्वरद्धय से युक्त गान 'गाथिक' कहलाता है तथा तीन स्वरों से युक्त गान 'सामिक' कहलाता है -

---

1- श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 89.

आर्थिक गाथिक चैव सामिंक च स्वरान्तरम् ।।
एकान्तरस्वरों ह्यृक्षु गाथासु द्वयन्तर स्वरः ।
सामसु वयन्तरं विद्यादेतावत्स्वरतोऽन्तरम् ।।

इस प्रकार वैदिक युग के संगीत का स्वरूप सामवेद में प्राप्त होता है। साम गान के तीन प्रधान स्वर किस प्रकार सात स्वरों में लीलायित हुए। हमारे ऐतिहासिक पुराणों से कथा के केवल सात स्वर आते हैं और ये सातों स्वर सात स्वरों के क्रमिक विकास को लेकर चलते हैं। एक-एक 'युग' का पर्यायवाची है। प्रत्येक युग समकालीन काल धारा को लेकर रूपायित हुआ है। सामगान 'सामिक' से लेकर सम्पूर्ण युग तक विस्तृत है 'सामिक' युग का स्वर विकास केवल तीन स्वरों तक ही सीमित है। 'सामसु त्रयान्तर विद्यात्' (नारदीशिक्षा 1/23) ये तीन वैदिक स्वर क्रुष्ट, प्रथम और चतुर्थ है। इन स्वरों को राग बिबोध कार सोमनाथ 16 शताब्दी ने स्वयंभू व अविनाशी बताया उन्होंने इन स्वरों को स्वयंभू कहा है। शारंङदेव ने मध्यम स्वर को ही अविनाशी माना है। 'मध्यम तथा प्रथम स्वर ही सृष्टि का आदि स्वर है। तीन स्वर युक्त सामिक युग के बाद और भी दो युगों का परिचय मिलता है। आर्चिक और गातिक आर्चिक एक स्वर का गान है, और जिस युग में इसका प्रचलन था वह आर्चिक युग के नाम प्रसिद्ध हैं। आर्चिक युग के स्वर वैदिक प्रथम तथा लौकिक मध्यम है। गातिक दो स्वर युग गान है। गातिक युग तथा गान का स्वर क्रुष्ट एवं प्रथम तथा लौकिक पंचम और मध्यम है। इनकी सृष्टि हुई है मित्र अर्थात् सूर्य एवं वरूण देवता द्वारा ये देवता स्वर के अधिष्ठाता माने गये हैं।

इन्हीं अवस्थाओं से होते हुए संगीत के सप्त स्वरों का विकास कालान्तर से हुआ है। तीनों प्रकारों में संगीत का स्वर विद्यमान है।

1- 22/17 पर भाष्य.

2- मतंग की वृहद्देशी में नारद के नाम से निम्न श्लोक पाया जाता है -

एक स्वर प्रयोगी ही (आर्चिक सोऽभिधीयते। गाडिको द्विस्परों ज्ञेयः त्रिस्तरश्चैत सामिक) पृष्ठ 17.

कल्लिनाथ के अनुसार साम 'सपृस्वर वान्' होने के कारण प्रस्तुत 'त्रिस्वरत्व' भन्द्रादि त्रिस्थानों से सम्बद्ध माना जाना चाहिए - साम्नां तु विस्वरक्तव सप्त स्वरवतेऽपि मन्द्रादि स्थानत्रयविवक्षया' मन्द्रादि तीन स्थानों का प्रयोग साम के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी विहित होने के कारण कल्लिनाथ का यह मत स्वीकृत नहीं किया जा सकता। तथ्य यह है कि ऋक तथा साम दोनों का विकास भाषा ध्वनियों के साथ होता रहा है। उच्च, नीच तथा मध्य, तीन स्वर भाषा मे सदैव प्रयुक्त होते हैं जिनका प्रयोग प्रारम्भिक काव्य तथा गीत दोनों के लिए किया जाता रहा है। आर्चिक तथा सामिक संज्ञाओं से अभिप्राय यही हो सकता है, कि ऋक के पठन के लिये न्यूनतम् आवश्यकता एक स्वर की रही और इसके विपरीत साम के पठन के न्यूनात् न्यून तीन स्वरों की अपेक्षा रही।

वैदिक संस्कृत में वेदों के 13 स्वर उपलब्ध होर्ते हैं उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितादि इन्हीं स्वरों के होता ये स्वर निम्न हैं -

नव समानाक्षर - अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, लृ।

चार सान्ध्यक्ष - ए, ओ, ए औ।

जहाँ तक उपर्युक्त चार सन्यक्षरों ए, ओ, ऐ, औ का सम्बन्ध है इनके उच्चारण क्रमशः अ इ, अ उ, आ इ, आ उ माने जाते थे। परन्तु आजकल भाषाविद् ए, ओ को सन्ध्यक्षर न मानकर मूल स्वर मानते हैं और ऐ तथा और को सन्ध्यक्षर।

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित - यह तीन मूल स्वर आदिकाल में संस्कृत भाषा के शब्दों के स्वराघात थे तथा वही वैदिक युग मे प्रचलित होकर ऋचा तथा ब्रह्मण इनके पाठन स्वर हुए। इन्हीं का ऋचा गायन में प्रवेश होकर गछ-स्वराघात का चढ़ा उतरा सांगीतिक स्वरो के चढ़ा-उतरा में परिणित हुआ। इन तीन स्वरों के पश्चात् प्रपंच तथा निघात यह दे स्वर मिलकर पंचस्वरीय स्वरश्र हुआ।

1- उमेश जोशी, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 97.

2- संगीत पत्रिका, संगीत निबन्ध, डा0 आर0एस0 अग्निहोत्री, प्रकाशन हाथरस.

उपर्युक्त प्रथम तीन - उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। स्वरों से ऋचा - पठन का प्रारम्भ होता था। कई ऋचाएं साधारण बोलने की आवाज में, कई आवाज की मध्य स्थिति में और कई ऊँची ध्वनि में कहकर मण्डल को पूर्ण किया जाता था। इन्हीं ही क्रमश प्रात. सवन, मध्यान, सवन और सायं सवन कहा जाता है। इस प्रकार सवन युक्त प्रकार सहत्रों वर्षों के पूर्व से वर्तमान तक प्रचलित है। नारदीप शिक्षा के अनुसार स्वरों का विकास एक दो और तीन स्वरों में क्रमश होता रहता है तथा शिक्षा के ही अनुसार ऋचा, कंठ, तैत्तरिय शतपथ आदि के पठन में भिन्न-भिन्न 'स्वरों' का उपयोग होना चाहिए यथा -

आर्चिक, गथिक चैव समिकं च स्वरान्तरम्
एकान्तरः स्वरो हयृक्षु गाथासु द्वयंतरं स्वरा. ।
सामसु त्रयन्तरं विद्यादेतावस्वरन्तोऽन्तरम् ।।"

अर्थात् एक स्वरोप गान "आर्चिक" द्विस्वरीय गान गाधा तृस्वरीय गान साम और अनुस्वरीय "स्वरान्तर" - यह व्यवस्था थी। श्री श0 श्री पराजयं के अनुसार इन्ही अवस्थाओं से हुए संगीत स्प्त स्वरों का विकास कालान्तर से हुआ है। तीनों प्रकार संगीत का-स्वर विद्यमान है, केवल उनकी अवस्था भिन्न है। संहिता पठन में एक ही स्वर का प्रयोग किया जाता रहा है। पाणिनी के अनुसार जप न्यूख तथा साम के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों का पठन 'एक-श्रुतिक' होता है। ।/2/37/34

औडुव· पंचमिश्चैव षट्स्वरोभवेत् ।।
सम्पूर्ण सप्तमिश्चैव विज्ञेयो गीतयोक्तृभि ।।"

औऽव पाँच षऽवछ. और सम्पूर्ण सात स्वरों का क्रम हुआ अर्थात् ना0शि0। स्वर से ही स्वर रचना की वृष्टि होती चली गई। ऋग्वेद के पठन में प्रथम द्वितीय तृतीय म ग रे अन्तारफ (प म ग) ताड़यादि ब्राह्मणो के स्वर द्वितीय प्रथमो ग म तथा साम वैदिक स्वर प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्वर का प्रयोग पाया जाता है।

"उदात्तनुदात्तश्च स्वरित प्रचयौ तया ।
विघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पंचमा ।
कुष्टातिस्वाराभ्यासह सप्त सामगा. परिकल्पयन्ति ।।"

उदात्त, अनुदात्त, स्वारेव, प्रचण्य, निघात - यह पांच स्वर भेद होकर उनके अतिरिक्त कुष्ट (कुष्ट) तथा अतिस्वार - ये दो स्वर साम संगीत के समय प्रचलित होंगे, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि साम संगीत के समय ही सात स्वर प्रचलित थे। लगभग इसी प्रकार "माण्डुकी शिक्षा" नामकरण से भी स्पष्ट उल्लेख है कि सामगान में सात स्वरो का यद्यपि सामवेश कहा है तो भी प्रमुख स्वर विवार्जित (गोण) माने जाते थे।

उदात्तानुदात्तश्च स्वरित· प्रचयस्तया ।
चतुर्विद्य स्वरो दृष्टः स्वरचिन्ताविशारदे· ।।
चत्वार एवं छन्दोम्यस्त्रयस्तत्र विवार्जिता ।।

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि श्रेष्ठ स्वर कितने भी हों किन्तु साम संगीत के समय सात स्वर प्रचलित थे।

1- भाषा विज्ञान, डा0 भोलानाथ त्रिपाठी, पृ0 338.

2- संगीत पत्रिका, संगीत निबन्ध, डा0 आर0एस0 अग्निहोत्री, प्रकाशन हाथरस.

3- वैदिक स्वर अवधारणा, डा0 पारस नाथ त्रिपाठी, पृ0 186.

4- वैदिक स्वर अवधारणा, डा0 पारस नाथ त्रिपाठी, पृ0 85.

5- युधिष्ठिर मीमांसा, वैदिक स्वर मीमांसा, पृ0 59, 59, 105.

वेद मंत्रों का सस्वर पाठ और संगीत

प्राचीन काल के कन्दमूलफलाशी (ऋषि यह चाहते थे कि वैदिक मन्त्रों का कोइ भी व्यक्ति स्वेच्छानुसार अर्थ करने का दु.साहस तक न कर सके, इसलिए ऋषियों ने इसकी पूर्ण रक्षा का उपाय किया है। यह उपाय इतना जागरूक है कि इतने दीर्घकाल के अनन्तर भी वेद का एक अक्षर भी स्खलित तथा च्युत नहीं हुआ वेदों का सस्वर उच्चारण उसी प्रकार विशुद्ध रूप में सुना जा सकता है, जैसा कि प्राचीन वैदिक युग में किया जाता था, इसके लिए ऋषियों ने उदात्तादि स्वरो की तथा अष्टविकृतियों की व्यवस्था की है। उदात्तादि स्वरो की व्यवस्था के कारण जिस वर्ण को उदात्त उच्चारित किया जाना चाहिए उसे उदात्त ही उच्चारित किया जाता है। विकृतियाँ आठ हैं -

1- जटा, 2- माता, 3- शिखा, 4- रेखा, 5- ध्वज, 6- दण्ड, 7- रथ तथा 8- धन।[1]

यहां पर हम स्वर की वैदिक महत्व की विवेचना करके संस्कृत वाङमय इतना महान है कि शब्दों का पारायण ही यदि किया जाय तो कष्ट साध्य कार्य हो जाए। इसीलिए महाभाष्यकार ने स्पष्ट लिखा है कि - "वृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य सहस्र वर्ष तक प्रत्येक शब्द का पारायण किया किन्तु फिर भी शब्दों का प्रतिपदोक्त पाठ समाप्त न हो सकता वृहस्पति जैसा उपदेष्टा इन्द्र जैसा अध्येता दिव्य सहस्र वर्ष अध्ययन काल फिर भी प्रतिपादित पाठ समाप्त न हुआ, स्थिति उपुर्यक्त उद्धरण का अभिप्राय यह है कि संस्कृत वाङमय में प्रयुक्त होने वाला एक शब्द बह्वर्थक होता है, ऐसी परिस्थिति में तत्काल प्रयुक्त शब्द का अर्थ क्या है, इसे हम वेद के द्वारा ही निश्चित रूप से अवगत कर सकते हैं। आचार्य भतृहरि ने ऐसी परिस्थिति मे शब्दों के अर्थ के नियमन हेतु निम्नलिखित प्रकारों का वर्णन किया है।

1- उच्चैरूदात्त उष्टा 1/2/29, वाच0प्रा0 1/18, तैति0 ब्रा0 /38, चतुध्यायी 1/14, अष्टा 1/2/30 वा0प्रा0 108, तैतिरि 1/139.

यहां कथित चौदह प्रकारों में आदि के तेरह प्रकार तो लौकिक तथा वैदिक संस्कृत दोनों में सामान्यतया गृहीत है किन्तु स्वर वेद में ही परम योगी है, अत. स्वर की वेदार्थ की दृष्टि से नितान्त आवश्यकता है।

लौकिक संस्कृत के शब्द वैदिक संस्कृत से ही आए हैं - इसके कोई विप्रति पति नहीं, अत· लौकिक संस्कृत की भाँति उदात्तादि स्वरों का उच्चारण प्राचीन काल में होता रहा। यह उच्चारण केवल व्यवहार्थ ही नहीं होता था अपितु लौकिक संस्कृत में लिखे गये ग्रन्थों में भी वैदिक ग्रन्थों में भी वैदिक ग्रन्थों के समान उदात्तादि स्वरों का प्रयोग होता था।

अतः कहा जा सकता है कि पाणिनी ने समग्र भाषा में स्वर के सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से न केवल प्रत्ययों तथा आगमों में चित्, जित्, नित, तित्, पित्, कित् आदि अनुबन्धों की जटिल प्रक्रिया अपनायी है, अपितु स्वरों के स्मयक परिज्ञान के लिए लगभग 400 सूत्र पृथक रूप से ही लिख डाला है।

पाणिनीय शिक्षा पर भी स्वर चिन्ह उपलब्ध होते हैं, यद्यपि उनमें कुछ विकृतियां आ गयी है।

निरूक्त 3/4 ऋक श्लोकों के नाम से दो श्लोक सस्पष्ट उद्धृत है।[2] इनमें से एक अजगादङगात्सम्भवसि - अवि (पूर्वाध मात्र) तो शतपथ ब्राह्मण 14/9/4/8 तथा गोभिल - गृह्या सूत्र (2/8/21) में उपलब्ध है, अत· प्राचीन धर्मशास्त्र से उद्धृत हो सकता है। उसके स्वर पाठ से सिद्ध होता है कि स्वर उस समय बोलचाल के अभिन्न अंग थे।

निरूक्त 3/16 मे 'वदिति सिद्धोपमा' - ब्राह्मणवेद षलेवत् ब्राह्मणा इवे वृषलो इवेति में स्वरपाठ, लघुपाठ और दुर्गाचार्य की व्याख्या की पाण्डुलिपियों में उपलब्ध है, वृहत्पाठ की पाण्डुलिपियों में नहीं। इससे भी प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में निरूक्त सस्वर था।

1- त त्रयि नित्यो निहित्श्च तेऽत्र। क्षैप्रो निषद व्तहेतवः स्युः।। पारि0शि0//84//

निरक्त ।4/6/ में लौकिक निबद्ध मृतेश्चाहं पुनजातो - आदि तीन श्लोक उद्धृत है, जो सस्वर है।[2] इनमें से प्रथम श्लोक के पूर्वार्द्ध का भावानुवाद तथा श्लोक का पूर्वाद्ध अविकल रूप से गर्भोपनिषद् मे उद्धृत है, किन्तु वहाँ स्वर पाठ नहीं है।[3] दूसरा श्लोक महाभारत में भी स्वर रहित उपलब्ध होता है।[4]

।- मंत्रो हीन स्वरतो वणतोवा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्र शत्रु स्वरतोऽवराधात्।।

अमोघ नन्दिनी शिक्षा ।22 शि0स0 पृ0 ।06
पाणिनि शिक्षा 52
व्याकरण महाभाव्य ।/।/।/पृ0 ।9 चो0सं0स0

महाभाष्कार पतंजलि के समय मंत्रोच्चारण हेतु स्वर की इतनी प्रधानता तथा उपदियता थी कि कोई भी व्यक्ति स्वरातिक्रमण करने को नहीं करता था। पतंजलि ने लिखा है कि लोक में दिखाई देता है कि जो उदात्त स्वर क स्थान पर अनुदात्त उच्चरित करता हे, वेदोपदेशक उसे चपेटा प्रदान करते हैं और कहते हैं कि तुम अशुद्धोच्चारण कर रहे हो।

स्वर शास्त्र के असाधारण विद्यान ।।वीं शताब्दी में उत्पन्न वेंकट माधव स्वर की महत्ता के स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हजुए कहते हैं कि "अंधकार में दीपकों की सहायता" से चलता हुआ व्यर्क्ति जिस प्रकार ठोकर खाकर नहीं गिरता उसी प्रकार स्वरो की सहायता से किये गये अर्थ स्फुट अर्थात संदेह रहित होते हैं।"[2]

वेंकटमाधव स्वर भेद से होने वाले अर्थ भेद के समर्थक हैं वेंकटमाधव कहते हैं कि यदि अर्थ की समानता रहती है तो स्वर भेद नहीं होता अर्थात शब्द का

।- श्रीधर परांजये, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 83.

स्वर सर्वत्र समान होता है, यदि स्वर समान न दिखाई दे तो उस शब्द का अन्य अर्थ करना चाहिए ।[3]

यथ - पुरूतमेम् पुरूणामृक (ऋग्वेद 1/5/2/अ)

यहाँ पर पुरूतमेम् शब्द में किया गया 'तमप्' प्रत्यय पाणिनि सूत्र "अनुदात्तो सुप्पितो" (अष्टा0 अ/1/4) द्वारा अनुदात ही होना चाहिए किन्तु उदात्त पठित हे अत प्रत्यार्थ की ही प्रधानता होती है। अनुदान "तमप्" प्रत्यय का अदाहरण निम्न है -

यथा - शुष्मिन्तंमो हि नदो

द्युम्निन्तम उत क्रतु

ऋग्वेदन 1/127/9 सद

उपयुक्त उदाहरण शुष्मिन्तंम तथा द्युम्निटेम में तमप् प्रत्यय में "अनुदातो सुप्तितो' अष्टा (3/1/4) द्वारा अनुदात्त ही दिखाई देता है और इस प्रकार यहां पर प्रत्ययार्थ गौण होता है, प्रकृत्यर्थ की ही प्रधानता होती है, किन्तु पुरूतमम् में प्रत्यय में उदाफ्त्त में स्पष्ट दिखाई देता है। अत प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता रहती है ।[1]

इसी प्रकार माधव ने तृन् औन तृच् प्रत्यय से निष्पन्न शब्दों मे भी स्पष्टीकरण किया है। तृन्न्त शब्दों में प्रकृत्यर्थ की प्रधानता रहती है, अर्थात् क्रिया ही प्रधान होती है, प्रत्यय अप्रधान होता है। अतः धातु भाग में ही उदात स्वर रहता है।

√ गम् + तृन् = गन्ता

√ पच् + तृन = पक्ता

1- प्रथम अध्याय तैतरीय प्रति शाख्य, पृ0 10.

तृच प्रत्यय का उदाहरण ऋग्वेद में यथा :-

इन्द्रो विश्वस्य दमिता (ऋग्वेद 5/34/6 स में दमिता शब्द में तता पुरां शश्वेतीनाम् ऋग्वेद 8/17/14/ में "भत्ता" शब्द वेंकटमाधव ने अपने ऋग्वेद के भाष्श में जो अडियारमद्रास से मुद्रित है स्वर भेद से होने वाले अर्थ उद्धरण दिया है जिसका सस्वर अर्थ सहित शब्द हम यहाँ उद्धृत करते हैं :-

जठेरः	=	अग्नि.	पृष्ठ 426
जठेरः	=	उदरवचन	
यमेः	=	येन गच्छति	501
य्रमः	=	वैवश्वतः	
सत्यम्	=	ऋतर्थे	527
सत्यम्	=	दारिद्रये	
ज्येष्ठः	=	प्रशस्यः	पृष्ठ 569
जये्ष्ठ.	=	वयसा ज्येष्ठः	पृष्ठ 583
सुकृतेम्	=	क्विबनतम्	पृष्ठ 583
सूक्रतम्	=	भविनिष्ठान्त बहुव्रीहो-	

उपर्युक्त शब्द-युग्मो के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि परिवर्तन से अर्थ में कितना परिवर्तन हो जाता है। अत शब्द किस अर्थ को दयोवित करता है जानने के लिए स्वर के ज्ञान की परमावश्यकता है। शब्दों का अर्थ करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह पद की प्रकृति या प्रत्यय जिस भाग में स्वर रहता है, उसी भाग का अर्थ मुख्य होता है।[1]

निरूक्तकार यास्क ने भी इस मत का समर्थन किया है। यास्क के अनुसार उदात्त का अर्थ तीव्र होता है तथा अनुदात्त का अर्थ अल्प अर्थात् अतीव्र होता है।

स्वर भेद से अर्थ भेद हो जाता है, इस बात की पुष्टिकरण ऋग्वेद तथा अर्थव वेद के निम्न मंत्रो से भी होता है।।[2]

ऋग्वेद का मंत्र-हनो' वृ त्र जयो अप: (1/80/3)

अथर्ववेद का मंत्र - जयो में सब्य अहिंत: (7/52/8)

ऋग्वेद के मंत्र में 'जया ' पद आद्युदात्त है तथा अथर्ववेद के मत्र में "जय:" पद अन्तोदात्त है। यहां पर स्वर भेद से अर्थ-भेद कैसे हो जाता है। इसका स्पष्टीकरण करेंगे -

आद्युदात्त "जया" पद दो प्रकार से निष्पन्न होता है। प्रथम तो "जया - करणम्" (अष्टा0 6/9/202) सूत्र द्वारा करण अर्थ में जिसकी व्याख्या सोदाहरण भट्टो जी दीक्षित ने निम्न प्रकार से ही है :-

"करणावाची जय शब्द आदयुदात्त: स्यात्। जयत्नेन जयोऽश्वा ।

द्वितीय लेट् लकार के मध्यम-पुरूष के एक वचन में। यहाँ पर "धातो:" अष्टा0 6/1/132 सूत्र के जकारवर्ती अकार को उदात्त होता है तथा वाद में आने वाले शप् को जोपित् है "अनुदातो सुरिपतौ" (अष्टा: 3/1/4) सूत्र में अनुदात्त होता है, उदात्त के पश्चात् आने से शप् अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित:) अष्टा 08/4/46.

करणवाची अकारान्त "जय" शब्द के बहुवचन का अर्थ इस मंत्र में संगत नहीं बैठता इसलिए इसे लट् लकार का ही रूप मानना पड़ेगा और अर्थ होगा -

(हे इन्द्र:) "वृत्त को मारकर (तुम) जलो को जीत"।

"अथर्ववेद' में प्रयुक्तः "जय." पद भावर्थक अच् प्रत्ययान्त है और चित् होने के कारण चितः' अष्टा 6/1/163) से अन्तोदात्त होता है जिसका अर्थ है -

मेरे बाये हाथ में जीत रक्खी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋग्वेद के मंत्र में 'जय ' पद का बहुवचन रूप 'जया·' पद क्रिया के लिए प्रयुक्त है, किन्तु अथर्ववेद के मंत्र 'जय.' पद भावार्थक है। इसलिए आवश्यक है कि अर्थ ज्ञान हेतु स्वर का सम्यक् ज्ञान रक्खा जाय क्योंकि एक ही शब्द अद ्युदात्त होने से किसी अन्य अर्थ का बोधक होता है, वही शब्द जब अन्तोदात्त हो जाता है तो अन्य अर्थ का अभिधायक बन जाता है। ऐसी स्थिति में स्वर के ज्ञान बिना संशयर हित अर्थ की उपलब्धि नहीं की जा सकती। वैदिक स्वर के अर्न्तगत तीन स्वर प्रमुख रूप से आते हैं:- उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित[1] संगीत शास्त्रों तथा उससे सम्बद्ध प्रकरणों में षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत् तथा निषाद ये सात स्वर प्रमुख बताये गये हैं। वैदिक स्वर का संगीत स्वर अध्ययन करते हुये जब हम शिक्षा ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तब ऐसी स्पष्ट प्रतीती होती है कि वैदिक तथा संगीत स्वर एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित है।

"याज्ञवल्य ' कृत "यंजु· शाखोपयोगिनी शिक्षा" इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से गर्न्धव वेद में जो षड़जादि सप्त स्वर कहे गये हैं, वेद में वे ही उदात्तानि स्वरों के नाम से जाने जाते हैं। उदात्तादि स्वर, षड़जादि सप्त स्वर से, पृथक-पृथक कैसे सम्बन्धित हैं, इस प्रसंग में शिक्षा ग्रन्थों में स्पष्ट है कि निषाद तथा गन्धार, उदात्तज, ऋषभ तथा धैवत अनुदात्तज षड़ज, मध्यम, पंचम स्वरितज है।[1]

'जैमिनीय' सूत्र के अनुसार गीति के लिए साम की संज्ञा है -- "गीतेषु समाख्या" अर्थात् जो मंत्र गाये जाते हैं, वही साम कहलाते हैं।

इसी प्रकरण पर विचार करते हुये "पारिशिक्षा" में उल्लेखित है। कुछ विभिन्ता जरूर है इस विवेचन से सहमत है। "पारिशिक्षा" में निषाद, धैवत, पंचम् को स्वरितज बताते हुए, स्वरित के विभिन्न प्रकारों से इनकी उत्पत्ति हुई है।

1- निषाद की उत्पत्ति जात्य, अभिनिहित और क्षैप्र स्वरित से हुई है।[1]

2- धैवत की उत्पत्ति तैशेव्यजंन तथा पाद वृत्त स्वरित से है।[2]

3- पंचम स्वर प्रश्लिष्ट तथा प्राविहत स्वरित से उत्पन्न हुआ है।[3]

इसके अतिरिक्त "पारिशिक्षा" षड़ज और ऋषभ के विषय बताये हैं कि "यदि अनुदात्त" दीर्घ हो तो उससे षडज की तथा यदि ह्रस्व हो तो उससे ऋषभ की उत्पत्ति होती है।

वैदिक स्वर तथा संगीत स्वर के तुलनात्मक अध्ययन की जाए तो स्पष्ट होता है कि संगीत की उत्पत्ति भाषा से हुई है, ऐसा मानते हैं, जिसको आजकल के भाषाविद् भी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं।[2] इस सन्दर्भ में संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "संगीत रत्नाकर" से कुछ उद्धरण किये जा सकते हैं। इस ग्रन्थ में इस बात की विवेचना किया गया है कि संगीत का महत्व वाद्य संगीत से अधिक है, साथ ही साथ संगीत का सम्बन्ध मानव द्वारा उच्चारित भाषा से है।

संगीत तीन प्रकार के होते हैं - गीत, वाद्य, नृत्य[3]। "नृत्य संगीत" वाद्य संगीत का अनुगमन करता है, वाद्य संगीत गीत का अर्थात् मानव उच्चारित भाषा पर आधारित है। इस प्रकार गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों में गीत प्रधान है अतः उस गीत का ही सर्वप्रथम वर्णन किया जाता है।[2]

नाद का वर्णन संगीत रत्नाकर में प्रस्फुटित होता है नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाणी और वाणी से जगत् का सम्पूर्ण व्यवहार चलता है, इसलिए सम्पूर्ण जगत नादाधारित है। "ओंकार नाथ ठाकुर" ने स्वर का आधार नाद ही है और यही

यही संगीत का आधार है।' गीत वस्तुतः जो शब्द उच्चारित होते हैं उसी पर आधारित है, इस बात का विवेचन "नारद शिक्षा" इस प्रकार है - अच्छे गीत के दस प्रकार हैं - रक्त, पूर्ण, अलंकार, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट, श्लक्षण, सम, सुकुमार तथा मधुर। "नारदी शिक्षा" और "संगीत रत्नाकर" दोनो के अनुसार संगीत और उच्चारित शब्दों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र' में भी इसका वर्णन है जो देवताओं को अत्यन्त प्रिय है, वह "गन्धर्व" है। 'गन्धर्व' तीन प्रकार के हैं। स्वर, ताल तथा पदात्मक।

साम के इन पंच भाक्तियों का स्वरोकन प्रयोग निम्न रूप में दृष्टव्य है

प्रस्ताव - ओग्ना ई ।।

उद्गीथ - अ या ही इ वो इ तो या ऽ इ अ ग्न

ग ग ग रे म म म ग ग ग सा नी

अ या ही वी त या इ गृ णा नो ह व्य दा गृ णा

सा नी नी सा सा म म म म म म म म म म

नो ह व्य दा तो या ऽ इ तो या ऽ इ तो ऽ ऽ या इ ।।

ग ग ग ग म म ऽ ग म म ग ग म ग रे ग ।।

प्रतिहार - न ई हो ता त्स ऽ ऽ ।।

म म ग म म ग रे ।।

उपद्रव - त्सा ऽऽ नि हो ता स त्सि वा र्हा ऽऽ

रे ग ग मृ म म ग म म म ग रे

इ षि बा हा ऽ इ वा ऽ ऽ ऽ औ हो वा ।।

रे नि म म ग ग रे ग रे सा नी नी नी ।।

निधर हीं ऽ ऽ ऽ षी षी ऽ ऽ ऽ ओ हो वा

रे ग रे सा सा रे ग रे सा नी नी नी

ब हीं ऽषी ऽ ऽ ऽ ऽ ।।

ग ग रे रे ग रे सा नि ।।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में आज भी वैदिक मंत्र तीन स्वरों में ही गाये जाते हैं।

साम-विषयक वाङमय इन तीन स्वरों का नाम उदात्त, अनुदात्त, स्वरित कहे गये हैं। इसे इस प्रकार विभाजित किया गया है -

"उदात्ते निषादगंधारवनुदाते ऋषभ धैवतो ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्ज मध्यम पंचमा ।।

अर्थात उदात्त में (निषाद गंधार) अनुदात्त में (ऋषभ धैवत्) और स्वरित में (षडज, मध्यम, पंचम) पठन में कुछ ऋचाएँ बोलने की ध्वनि होती है। वह प्रात. स्वप्न की जो कुछ उच्चाध्वनि में गाई जाती है, वे मध्याह्न स्तवन की और उससे उच्च ध्वनि में गायी जाने वाली ऋचाएँ सायं स्तवन कही जाती है। साम गान स्तवनात्मक होने के कारण सभी शाखाओं में अनिर्वाद स्थान रहा है तीनों स्तवनों के वेद पदन की यह परिपाटी सहस्रों वर्षो से चली आ रही है।

साम-संगीत अध्यात्म का दिग्दर्शक

'साम- वेद' का भारतीय संगीत का मूल उद्‌गम माना जाता है इसी ग्रन्थ के रूप में भारतीय संगीत सरित के अनादि श्रोत का दृश्य स्वरूप अभिव्यंजित होता है। 'साम' शब्द मौलिक रूप से गान द्योतक है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं के आश्रय से यज्ञ-वेदियों के समक्ष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था। अत· सामवेद ऋग्वेद का गेय रूपांतर मात्र है। सामवेद के सभी मंत्र ऋग्वेद से ही संगृहीत है। अन्तर केवल यह है कि जहां 'ऋग्वेद' का पाठ आधुनिक कविता गायन के समान रहा, वहाँ सामवेद का गायन विशिष्ट स्वरावलियों से युक्त शास्त्रीय संगीत के समान रहा।

छंदोग्य उपनिषद में भी कहा गया है कि ऋक गीत का बहिरंग है, और साम उसी का अंतरंग - 'वागे वाक प्राणः सामोमित्येतदक्षर मुदगीथस्तदवा एतान्मथुनं चद्वांक चव प्राणश्चकं च साम च"[1] तात्पर्य यह है कि 'साम' शब्द से अभिहित धुनें ऋचाओं के आधार से गाई जाने पर साम कहलाती हे - प्रणीतं मत्रं वाग्यं सामशब्देनोच्यते',[2]

'साम' शब्द के 'सा' का संबंघ 'ऋक्' से है और 'आम' का सम्बन्ध षड्‌जादि या कुष्टादि स्वरों से है इसी सम्बन्ध में सायण का एक उल्लेख प्रस्तुत है -

"साम शब्द वाच्यस्य गानस्य स्वरूपं ऋगक्ष रेषु कुष्टादिभि सप्राभिः स्वरैक्षर विकारादिभिश्च निष्पाद्यते"[3] (साम भाष्य भूमिका) अतएवं ऋग्वेद की ऋचाओं को विशिष्ट स्वर-लहरियों से गान करने का शास्त्र शुद्ध रूप ही 'साम' है। ऋग्वेद के लगभग 10580 ऋचाएं संगृहीत है, जिनमें से कुछ ऋचाओं को गेय रूप देकर संगृहीत किया गया है।[4] वर्तमान समय में 1810 सामवेद की ऋचाएँ प्राप्त होती हैं। इन ऋचाओं में से 261 ऋचाओं की धुने प्राप्त हैं। ये ऋचाएं अधिकतर गायत्री, अनुष्टुप आदि छंदो में हैं। इन छन्दों की उत्पत्ति गायनार्थ 'गा' धातु से मानी गई है। इससे स्पष्ट है सामवेद की ऋचाएँ संगीतबद्ध हैं।

1- वैदिक स्वरांकन प्रकार तथा वैविध्य, 191.

सामवेद की ऋचाएँ पूर्वाधिक और उत्तरार्धिक इन दो भार्गो में विभक्त है। पहले भाग के अन्तर्गत ग्राम्य गीत एवं आख्य गीत है। दूसरे भाग के अन्तर्गत उह और उहा एक प्रकार का रहस्यात्मक गान है, जिसे साधक गा सकते हैं। ग्राम्य गीत ग्रमांचलों में रहने वाले जन साधारण के लिए था। छन्दोपनिषद में वर्णित है साम का आधार 'स्वर' है 'स्वर' का आधार 'प्राण' है - 'का साम्यो गतिरति स्वर इति होवाच स्वस्य का गतिरति प्राण इति होवाच' स्वर का महत्व साम गान में स्वर्ण के समान अमूल्य है।

सामवेद से सम्बन्ध छन्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण सामवेद का सार उद्गीथ में निहित है - 'साम्न उद्गौथो रसः' । उद्गीथ का संबंध सरस्वर गाय जाने वाला 'ॐ' ध्वनि से माना गया है।

साम के आरंभ, मध्य और अंत में सम्यक् निर्वाह के लिए उद्गाता के पार्श्व में उपगाय्कों के स्थान में निम्त्ति होती है। इनकी संख्या कम से कम तीन या अधिक से अधिक छह होती है। ये उपगाता "हो" SSS या "ॐ" इस ध्वनि के द्वारा मुख्य गायक यानी उद्गाता को तानपूरे की तरह स्वराधार देते रहते हैं। उपगाताओं को 'प्रस्तोता' या 'प्रविहर्ता' कहा जाता है।

प्राचीन वैदिक वाङमय में साम पाँच या सात विभार्गो के गायन में निहित था, जिनकी परिभाषिक संज्ञा 'भक्ति' कही गई है। यथा- प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन ये पाँच विभाग सर्व सम्मत है। मूल स्वर को अविच्छिन्न रखने के लिए भद्र स्वर में उपगायर्को का 'उपगान' होता है, जिसमें केवल मूलभूत स्वर के संतत गायन से उपगाता के गान की पुष्टि प्रदान की जाती है। दीर्घ एवं दृढ़ स्वर भरण से गाए जाने का विधान साम के विविध विभार्गो में निहित था।

प्रस्ताव- साम के इस प्रारंभिक भाग को प्रस्तोता नाम ऋत्विज 'हुम' या हुंकार व्यवस्थित स्वरालाप द्वारा प्रस्ताव नामक विभाग को गति एवं ओज प्रदान करता है।

1- संगीत मासिक मासिक पत्रिका, हाथरस, मार्च 1989.

उद्गीथ- इस विभाग के प्रारम्भ में ऊँ का गान होता है, जिसे साम का प्रधान ऋत्विज उद्गाता गाता है। अतः यह विभाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उपद्रव- प्रतिहार के दो भागों में से एक भाग का गान उद्गाथा करता है। मुख्य प्रतिहार का गान प्रतिर्हाता के द्वारा होने पर शेष गयिन प्रमुख गायक द्वारा पुन होता है।

प्रतिहार- इसका अर्थ दो भागों को जोड़ने वाला होता है, इसका गायक प्रतिहर्ता कहलाता है।

निधन- यह प्रतिहार का द्वितीय भाग है 'ऊँ' से जोड़कर इसे विभिन्न विभाग के रूप में गाया जाता है।

"नारदीय शिक्षा" में आर्थिक, गायिक, सामिक संज्ञा दी गई है जिनमें क्रमश एक, दो तथा तीन स्वरों के समूह से निर्मित होता है। साम-संगीत में तीन स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) का प्रयोग होता था, ऋक प्रतिशाख्य के टीकाकार ने स्वरों का परिचय इस प्रकार दिया है - 'स्वयंते शब्द्यते इति स्वरा यथा अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ऋ तथा लृ । यह स्वर वाङमयीन वर्णों के लिये प्रयुक्त हुआ। किन्तु संगीत मूलक ध्वनियों के लिए 'उदात्त' जो तारताभिक उच्च, और नीच (अनुदात्त) मध्य स्वरित का द्योतक रहा है।

साम गान स्तवनात्मक होने के कारण सभी शाखाओं में तीनों स्वरों का अनिवार्य स्थान था।

साम गान में जिन सात स्वरों का उपयोग उपलब्ध है उन स्वरों को कृष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अति स्वार्य संज्ञा दी गई है। यद्यपि साम संगीत सप्त स्वरों का विधान बराबर पाया जाता है, परन्तु साम गायन प्रायः पाँच या छह स्वरों तक सीमित था। कुछ ही सामों का गान सात स्वरों में किया जाता था।

1- छन्दोग्योपनिषद, प्रथम अध्याय, श्लोक -5.

मांजूकी - शिक्षा के अनुसार छांदोग्य गायक चार या दो, तीन स्वरों में भी गायन सम्पन्न करते थे। पुष्प सूध में इसका निर्देश मिलता है - "ऐतभावेस्तु गायंति सर्वा शाखा पृथक-पृथक। पंच्चस्यैव तु गायंति भयिष्ठानि स्वरेषु तु। सामाणि षट्षु चान्यानिसप्त तु कौथुमाः ।[1]

इससे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न शाखाओं के गायक भिन्न-भिन्न संख्या में स्वर प्रयोग करते थे। स्वर प्रयोगों के यथाक्रम पाँच, छह और सात स्वरों को लेकर ही औडव, षाडव और सम्पूर्ण जातियाँ रूपायित हुई।

नारदी शिक्षा मे गात्रवीणा पर स्वरों की स्थिति निर्दिष्ट करते समय नारदी शिक्षा में इसी क्रम को अवलम्ब किया गया है -

अंगुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टो हंगुष्ठे प्रथम. स्वरः ।

प्रदेशिन्यां तु गान्धार ऋष्भस्तद्नन्तरम् ।। 1-7-3 ।।

अनामिकायां षड्जस्तु कनिष्ठायां तु धैवतम् ।

तस्याधस्ताज यो इन्यस्तु निषाद तत्र निर्दिशेत् ।। 1-7-4 ।।

अपर्वस्वाद सज्ञात्वाद्व्ययत्वाज्र नित्यश ।

भन्द्रो हिनुहि भूतूस्तु परिस्वार इति स्मृतः ।। 1-7-5 ।।

माण्डुक शिक्षा के सामगान के सप्त स्वरों का प्रयोग इस प्रकार है. "सप्त स्वरातु गीयन्ते सामभि सामगैर्बुधै ।

वीणा पर स्थापित स्वरों की संवाद युक्त योजना में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध संबंध भी स्थापित किए गए। इस प्रकार पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की कल्पना भी सामगान के समय से ही विद्यमान है। आज संगीत का षड्ज जिस प्रकार तानपूरे के खुले तार में सुनाई देता है उसी प्रकार वैदिक संगीत में वह स्वर वीणा के परद पर रहता है। संगीत में विशिष्ट रचनाएँ लयबद्ध होती थी।

1- भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 96, 125.

साम के यथार्थ रूप की सुरक्षा के लिए वेद मंत्रों में संगीतानुकूल शाब्दिक परिवर्तन भी किये जाते थे। मूल ऋचाएँ, जिनमें प्रधान स्वर प्रथम, द्वितीय आदि होते थे वे 'प्रकृति' कहलाते थे। जो ऐच्छिक स्वर से या गान की सुलभता के लिए परिवर्तन करके गाये जाते थे, वे "विकृत" कहलाते थे। साम सम्बन्धी वाडमय में विकृति के छह प्रकारों का विवरण है।

1. **विकार:** - यह विकृति अक्षरों के परिवर्तनों पर आधारित रहती है, जैसे 'अग्न' के स्थान 'अग्निावि' का रूप देकर गायन करना।

2. **विश्लेषण:** - किसी पद अथवा अक्षरों के स्थान परिवर्तन 'बीतये' शब्द का 'बोयितोया' के रूप में होना।

3. **विकर्षण:** - किसी अक्षर के स्वर के ऊँचा-नीचा करके मीड़ लेकर बढाना।

4. **अभ्यास** - बारंबार किसी पद का उच्चारण करना जैसे 'तोयायिं'। 'तायायि' इन दो स्वरों का भिन्न प्रकार से उच्चारण करना।

5. **विराम** - गायन करते समय किसी पद के बीच में विराम करना या ठहर जाना जैसे 'गृणानो हव्यदातये' के स्थान पर ग्रणानोह तथा 'व्यदातये' विराम पूर्वक गायन करना। इससे शब्दों में विकृति न होते हुए गायन में सुलभता एवं श्वास लेने से विश्राम मिल जाता है।

6. **स्तोभ:** - ऋचाओं के मूल अक्षरों के अतिरिक्त अक्षयों का प्रयोग 'स्तोभ' कहलाता है। जैसे 'हाउ' औहोवा, हाई, हिम, आदि। जिस प्रकार आज राग-गाप में अलाप करते समय गाने वाले पदों के बीच में कुछ अतिरिक्त या निरर्थक अक्षरों का प्रयोग कर लेते हैं, उसी प्रकार ऋचाओं को गेय रूप देने के लिए स्तोभाक्षरों का प्रयोग कर लिया जाता था।

यही कारण है कि वैदिक काल के स्वर लययुक्त मंत्रो या स्तुति गान द्वारा देवताओं की आराधना की जाती रही है, इसीलिए विभिन्न धर्मों के लोग विभिन्न

1- संगीत पत्रिका हाथरस, पृ0 - 7.

प्रकार के स्तुति गान द्वारा अपने ईष्ट की आराधना करते इसीलिए साम संगीत अध्यात्म का दिग्दर्शक भी माना जाता है क्योंकि -

साम संगीत के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से यह काल इतना महत्वपूर्ण था महर्षि पाणिनी साम स्वरों के पशु-पक्षियों के साथ सम्बन्ध का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया -

"प्रात· पाठेनित्य मुरसिस्थितेन स्वरेण शार्दूलरूतोपमेन
माध्येन्दिने कष्ठगतेन चैव चक्रहव संकुचित सनिभेन।।
तारन्तु विद्यात् सदनं तृतीयं शिरोगतन्तच्च सदा प्रयोज्यत्।
मयूर हंसाम्बुभृत स्वराण्धां तुल्येन नादेन शिरस्थितेन।।

अर्थात् प्रातः काल वक्ष से उत्पन्न शार्दूल के समान दोपहर में चक्रवाक के समान सायंकाल को मयूर के समान (अथवा हंस और कोयल के समान) वेद-पाठ नियमित रूप से करना चाहिए।

भारतीय मन्यता के अनुसार संगीत साक्षात् ईश्वर - स्वरूप हैं। ब्रह्मा, संगीत नाद और शब्द अथवा वाक् सभी समानार्थक हैं। वेदों में सामवेद में हूँ - का तात्पर्य यही है कि सृष्टि का निर्माण हो रहा है। वेदसत्-चित्-आनन्दमय परब्रह्मा की सांगीतिक आराधना है। यह संगीत स्वर रूप है सप्त संख्यक स्वर प्रणव से ही निष्पन्न है और इसी में लीन हो जाता है, जो अव्यव तत्व है, वह अपनी अक्षर या प्राणशक्ति की महिमा से क्षर या भूत-भौतिक भाव को प्राप्त हो रहा है। दूसरी ओर वही पुन· अपने क्षर रूप को विलीन करता हुआ पुनः अक्षर भाव में लीन हो रहा है।

जहाँ सृष्टि का हिकार और प्रस्ताव होता है, वही उसका प्रतिहार और निधन है। उसके माध्य में शक्तिशाली उद्गीथ है। हिंकार और निधन, प्रस्ताव और प्रतिहार उसी के दो पंख हैं। डा0 सुनीता शर्मा के अनुसार इन्हीं के द्वारा अकुचन और प्रसारण की बलवती प्रक्रिया सित्र हो रही है। जहां देखो वहीं दूर तक बहती

1- डा0 सुनीता शर्मा, भारतीय संगीत का इतिहास, दर्शन एवं अध्यात्म, पृ0 50.

हुई जल-धाराओं में चक्रात्मक संवत्सर की ऋतुओं में यज्ञ के पंच-पशुओं में अध्यात्म के पंच प्राणों में सर्वत्र एक विराट साम-गान तरंगित है। एक ओर इसका अव्यक्त अनाहत स्वर है, तो दूसरी ओर उसी का व्यक्त नाद है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रकृति से उत्पन्न होकर पुनः उसी में विलीन हो जाती है। साम संगीत इतना पवित्र और दिव्य साधना है कि जो संगीतज्ञ साम संगीत महिमा में श्रद्धा रखता है, शुद्ध चित्त से वह साधक अध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत होगा। साम-गायक द्वारा ही परम तत्व ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसलिए वैदिक संगीत का एक विशिष्ट वर्ग था, क्योंकि वह अनादि, अपौरूषेय, अत्यन्त पवित्र तथा व्यवस्थित था। वेद मंत्रो का पाठ सस्वर किया जाता था। प्राचीन संगीत कट्टर अध्यात्म पर आधारित साम संगीत था। साम-संगीत में एक दूसरा वर्ग भी था जो लौकिक संगीत था जिसके नियमों के अपेक्षाकृत शिथिलता थी। इसे नारशंशि कहा जाता था। परन्तु वह विविहादि अन्य शुभ अवसरों पर यज्ञादि के प्रारम्भ होने के पूर्व गाई जाने वाली ईश्वर स्तुति थी। अध्यात्मिक संगीत भी अपने अनेक विपरीत उतार-चढ़ाव के बाद भी आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। उत्कृष्ट कला स्वतः ही अध्यात्मिक हो जाती है हिन्दू संस्कार के अनुसार वेद मंत्र समूह को परमेश्वर की वाणी माना जाता है।

भक्तिपरक पद या विष्णुपद शास्त्रीय संगीत ध्रुवपद पद्धति के आदि माने जाते हैं। इससे पहले स्तोत्र गान (ईश्वर परक) ने प्रबन्ध गान को चिन्हित किया था। इन सबका पुष्ट साम गान वस्तुतः स्तोत्र पाठ का ही गेय रूप था।

छन्दोग्योपनिषद में -

वाच. ऋग् रसः साम रस

साम्न उद्गीथो रसः ।

अर्थात वाक का रस ऋक (काव्य) है ऋक का रस साम (षड्ज और मध्यम ग्राम) के अन्तर्गत गाया जाने वाला तथा शब्द और स्वर की समरसता उत्पन्न करने वाला साम का रस उद्गीथ (प्रणव घोष) है।

1- संगीत पत्रिका हाथरस, पृ0 56.

2- श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 56, 125.

अष्टम अध्याय

(क) कला की दृष्टि से रस का स्वरूप -

कला क्या है ? "कला" शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए आदि काल से आज तक अनेक विद्वानों ने अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। साथ ही प्रत्येक विद्वान ने अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ नयी बात कहने का प्रयास किया है। 'कला का अर्थ है - किरण' ! प्रकाश यों तो अत्यन्त सूक्ष्मता का ऐसा समूह है जो हमें एक निश्चित प्रकार का अनुभव करावे 'कला' कहलाता है। सूर्य से निकलकर अत्यनत सूक्ष्म प्रकाश तरंगे भूतल पर आती हैं, उसका एक समूह ही इस योग्य बन पाता है कि नेत्रों से या यन्त्रों से उसका अनुभव किया जा सके सूर्य किरणों के सात रंग प्रसिद्ध है, परमाणुओं के अन्तर्गत जो 'परमाणु' होते हैं, उनकी विद्युत तरंगे जब हमारे नेत्रों से टकराती हैं तभी किसी रंग रूप का हमें ज्ञान होता है। रूप को प्रकाशवान बनाकर प्रकट करने का काम कला द्वारा ही होता है।' 'गायत्री महाविज्ञान' में प्रकाशित कला का यह मनोवैज्ञानिक स्वरूप हमें कला के कुछ नये प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

कलायें दो प्रकार की होती -

1- आप्ति

2- व्याप्ति।

आप्ति किरणें वे हैं, जो प्रकृति के अणुओं से प्रस्फुटित होती है। व्याप्ति वे हैं जो पुरूष के अन्तराल से आविर्भूत होती है, उन्हें 'तेजस्' भी कहते हैं। वस्तुयें चच्चतत्वों से बनी होती हैं इसलिए परमाणु से निकलने वाली किरणें अपने प्रधान तत्व की विशेषता भी साथ लिए होती है। वह विशेषता रंग द्वारा पहचानी जाती है। किसी वस्तु का प्राकृतिक रंग देखकर यह बताया जा सकता है कि इन पंचतत्वों में कौन सा तत्व किस मात्रा में विद्यमान है। ये कला के अध्यात्म पक्ष माना जाता है। आधुनिक समय में कला शब्द मनुष्य को अपना जीवन सक्रिय तथा गतिमान

1- कला के सिद्धान्त, लेखक आर0जी0 कलिंग वुड, प्रकाशन राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ.

बनाए रखने के लिए जिस प्रकार भोजन, वस्त्रों, आवास तथा अन्य भौतिक पदार्थों की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार उसे क्रमबद्ध एवं सुसंस्कृत होने के लिए कलाओं के सहयोग की आवश्यकता होती है।

कला की परिभाषा -

कला की अपने दृष्टिकोण से विभिन्न विद्वानों ने दी है जो समय-समय पर बदलते रहते हैं। जिस प्रकार ईश्वर की कला प्रकृति है, उसी प्रकार मनुष्य की कला है कला। हर्बटरीड के अनुसार 'आर्ट' उन सब वस्तुओं में से है जिन्हें हम अपनी इन्द्रियों की तृप्ति हेतु प्रयोग करते हैं। सभी कलाओं और कलाकारों का एक ही उद्देश्य - आनन्द प्राप्त करना होता है।'

क्रोचे के अनुसार - 'कला सहजानुभूति है, उनकी अभिव्यक्ति हही कला है।'

श्लेगल के शब्दों में - 'सभी महान कलाएं निश्चित रूप से दिव्य तथा पवित्र होती है।'

प्लेटो के अनुसार - 'कला सत्य की अनुकृति है।'

अरस्तु के अनुसार - 'कला प्रकृति है और इसमें कल्पना भी है।'

मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार - 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला है।'

माइकल एंजलो के अनुसार - 'सच्ची कलाकृति को ईश्वरीय पूर्णता की प्रतिकृति कहते हैं।'

टकवेल के अनुसार - 'जिस प्रकार ब्रह्मा की आत्मा की व्यक्तिकरण यह सृष्टि है उसी प्रकार कलाकार की आत्मा उसकी कलाकृति से अभिव्यक्ति पाती है।'

टालस्टाय की मान्यता है कि - 'कला वह माध्यम है जिसके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूत भावना से दूसरे को प्रभावित करता है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार - 'एक अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कला है।'

1- डा0 नागेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ0 38, 79.

इलाचन्द जोशी के अनुसार - 'ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का जो संकुचित रूप मनुष्य को मिलता है, उसी का विकास कला है।'

महात्मा गाँधी के अनुसार - 'कला से जीवन का महतव है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लाए तो वह कला क्या हुई।'

जयशंकर प्रसाद के अनुसार - 'ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का जो संकुचित रूप मनुष्य को मिलता है, उसी का विकास कला है।' कला का क्षेत्र अपार है और उसके प्रत्यक्षीकरण में विविधता है। कला की परिभाषा क्या हो सकती है, जिसके अन्तर्गत गोस्वामी तुलसीदास की रामायण, प्रेमचन्द की गोदान, बर्नस के गीत, चोपिन का संगीत, वर्ड्स्वर्थ की कविता, अजन्ता-एलोरा की गुफाएं आदि सभी को सम्मानित किया जा सकता है।

उमेश जोशी का कथन है - 'उमंग जीवन का श्रृंगार है। संसार की उलझनों से उबकर यह जीवन-शक्ति जर्जर होने लगती है, तब उसका कायाकल्प करके उसमें पुन यौवन लाने की शक्ति जिन कलाओं में है उन्हें ललित कलाएं कहते हैं।

'कला' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की कल् धातु से हुई मानी जाती है। इसका अर्थ-शब्द करना, गिनना, उत्पन्न करना या कुछ नवीन रचना करना माना गया है। डा0 कांतिचन्द्र पाण्डेय ने इसका अर्थ शब्द सांख्यान् अर्थात् कथन् घोषणा अथवा संवादन मानते हुए 'स्पष्ट वाणी से प्रकटम माना है। भारतीय कला भारतीय धर्मों, धर्मों की धारणाओं, कल्पनाओं, सिद्धांतो, रीतियों, प्रतीकों और बिंबो की निदर्शी सामग्री के रूप में थी। कुमार स्वामी कला के इतिहास, कला की आचोलना, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की समझ और अध्ययन के संदर्भ में हमारे रूख और रवैये के विशेष प्रभावित करने में सफल हुए हैं। आज भारतीय कला और सौन्दर्य शास्त्र को समझने के लिए अनिवार्य रूप से कुमार स्वामी का सहारा लेना पडा है। कला उत्पादनों की प्रकृति स्वरूप तथा प्रेरणाएं अपने मूल रूप में नहीं हैं। इनमें वस्तुतः अन्तर है और यह अनंतर उनकी दृश्य अभिव्यक्ति तथा उनके सांस्कृतिक महत्व में भी

1- डा0 सुनीता शर्मा, पृ0 - 56.

है। हडप्पा में प्राप्त सिंधु घाटी की नृत्य मुद्रा में पुरूषघड़ मोहन जोदडो में प्राप्त नृत्य मुद्रा में युवती से रूप और संस्कृति दोनों भिन्न है। दोनों नारी लघु मूर्तियों और खिलौने की दृष्टि से उतने ही भिन्न हैं जितने दाढ़ी वाले और पुरोहित जैसे पुरूष की पारंपरिक आकृति। किसी भी क्षेत्र में किसी काल की भारतीय कला इसी प्रकार प्रमाणित होती है, क्योंकि उस समय आवश्यकताएं और उद्देश्य दोनों भिन्न थे, वैदिक काल में लडकी और संभवतः धातु के भी खिलौने उपकरण तथा अन्य वस्तुएं बनाने पर उसी प्रकार बल दिया गया है जिस प्रकार आज गावों की नारियां व्रत संस्कारों पर मिट्टी के खिलौने, नर-नारी, पशु-पक्षी की आकृतियाँ बनाती हैं। इसके अतिरिक्त हर काल में तथा समाज के हर स्तर में सभी क्षेत्रों में कला बनाती है। इसके अतिरिक्त हर काल में तथा समाज के हर स्तर में सभी क्षेत्रों मे कला अपने प्रतिदिन के रहन-सहन व्यवहारिक उद्देश्यों से प्रभावित रहती थी। पाश्चात्य जगत् में कला शब्द की व्युत्पति यूनानी भाषा शब्द 'क्लोस' मानी जाती है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्रों में कला शब्द को आर्ट का समानार्थी माना गया है। यह लैटिन भाषा से सम्बन्ध रखता है। इसका अर्थ भी निपुण प्रवीण, कुशल आदि विशेषणों से संबंधित है। जर्मन भाषा में आर्ट को कुन्शट शब्द का पर्याय माना जाता है। इसका अर्थ सभी कार्यकुशलता के भाव को व्यक्त करता है। ललित कला को अंग्रेजी मे 'फाइन आर्ट' कहते हैं, जो फ्रेंच के व्युक्स आर्ट शब्द के आधार पर निश्चित हुआ है। इसका अर्थ सुन्दरता की व्यक्तावस्था की अभिव्यक्ति है। भारत में पूर्व यांत्रिक, पूर्व उद्योगिक, पारंपरिक समाज में कला और शिल्प जैसे ललित कला और सभी प्रकार के प्रारंभिक स्रोत उदाहरण के लिए एतरेय ब्राह्मण, महाभारत, जातक आदि यह संकेत करते हुये मिलते हैं कि ऐसी ही व्यवस्था थी। मनुष्य के हाथों से बनी जिन सारी चीजों में कौशल का उपयोग हुआ था वे कला या शिल्प कही जाती थी। साहित्यिक कला के संदर्भ में यह क्रिया पद्धत्ति 'कविकर्म' कही जाती थी। महाभारत तथा बौद्ध जातकों में भी उन पारंपरिक 18 शिल्पों के बारे में बताया गया है।

1- संगीत मासिक पत्रिका, मई 1883.

"एतरेय ब्राह्मण" में कला को दो वर्गों में विभाजित किया गया है -

1- कला अवश्य ही कौशल से युक्त हो।

2- कला अवश्यक ही छंद से युक्त अर्थात छदोमय हो जिसका भारतीय अर्थ में लय, संतुलन, अनुपात और सुसंगति आदि से ग्रहण किया जाता है।

पहला जो कि कौशल से युक्त आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है, दूसरा जो स्वीकृत हो चुका है कि ऋग्वेद और उपनिषद की कुछ सुक्तियां काव्य का उदात्त अंश हैं। ऐसे अंश जो छंद के रूप में विशिष्ट होने के अतिरिक्त भावना की गहनतम् स्पृहा तथा मानव मस्तिष्क और कल्पना की उच्चतम् और प्रखरतम कल्पना व्यक्त करते हैं। यह भी स्वीकृत है कि सामवेद की सूक्तियाँ गायी गई और इस प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत की नींव पड़ी, नृत्य भी कला के रूप मे था जिसमें वैदिक देवता और और ऋषि आनन्द प्राप्त करते थे।

कला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। कला की परिभाषा और व्याख्या पर अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये उन्हीं विचारों के आधार पर कला को तीन प्रकार से वर्गीकरण किये गये है -

1- कला का अध्यात्मिक स्वरूप

2- कला का रूपवादी स्वरूप

3- कला का भावनात्मक स्वरूप

विद्वानों के एक वर्ग ने कला, सौन्दर्य को अपार्थित माना है, यह परिभाषाओं से स्पष्ट है इनमें प्लेटो, आइस्टीन आदि आते हैं। कला का अध्यात्मिक स्वरूप ही गेल तथा कोट ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे कला को स्वयं में ही एक सिद्धी मानते हैं। रूपवादी विचारों में सौन्दर्य के रूप की अभिव्यक्ति के लिए कला में शून्यावस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, संगीतबद्धता, संयम, कोमलता

1- दि म्युजिक आफ इण्डिया, राम अवतार, प्र0 - 18.

आदि तत्वों का विशेष महत्व दिया जाता है। तीसरे वर्ग के अनुसार कला को सौन्दर्य भाव की अभिव्यक्ति मानकर उसे रागात्मक व्यक्तिकरण अथवा अनुभूति के रूप में स्वीकार करता है। अर्थ यह है कि कहीं कला को भोग-विलास की वस्तु बना दी गई तो कहीं उसको भावनात्मक स्वरूप प्रदान कर दिया गया है। कला के विभाजन अरस्तु में तीन प्रकार से किया है -

1- आचरण सम्बन्धी कलाएं

2- ललित कलाएं

3- उदार कलाएं

आचरण कलाओं के वर्ग में मानव सदैव अच्छे आचरण की ओर अग्रसर रहता है। इस वर्ग की कला चरित्र का निर्माण करती है। इसमें भोग, विलास, अश्लीलता, वासनापरण की कोई गुंजाइश नहीं रहती ये एक सुसंस्कृत एवं सबल मानव का निर्माण करने में सहायक होती है। इसमे संगीत तथा धर्म परक अथवा अध्यात्म, साहित्य द्वारा सम्बोधित किया जाता है।

ललित वर्ग में कलाएं सौन्दर्य सम्बन्धी कलाएं आती हैं। ये स्थलता से सूक्ष्मता की ओर बढती है। उदार कलाओं के अन्तर्गत ऐसी कलाएं आती हैं, जिनका विषय क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। पूर्णिमा पाण्डेय के अनुसार 'यहां कला के जिस अर्थ से हमारा प्रयोजन है वह ललित कला है। आचरण सम्बन्धी कला मूलत साहित्य को ही समेटती है। उदार कला बहुत विस्तृत है और उसकी परिधि में ललित कला भी आ जाती है। ललित कला बहुत विस्तृत है और उसकी परिधि में ललित कला भी आ जाती है। ललित कला ऐसी सृष्टि है, जो मानव की सौन्दर्य चेतना को सन्तुष्ट परिष्कृत और समृद्ध करती है। यह सृष्टि निश्चय ही अहलादमयी, आनन्दमयी एवं सौनदर्यमयी है। इस सृष्टि के लिए कलाकार अपनी कला के सहारे भाव-रूपों अथवा स्थूल-रूपों की निर्मित करता है।'

1- डा0 नागेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृष्ठ - 82.

डा0 सुनीता शर्मा ने अपने पुस्तक भारतीय संगीत के ऐतिहासिक पक्ष धार्मिक-अध्यात्मिक पक्ष कला के अन्य वर्गीकरण इस प्रकार किया है -

1- रूप के आधार पर अर्थात् रूपात्मक कलाएं · इसमें मूर्तिकला, चित्रकला तथा वास्तुकला आती है।

2- गति के आधार पर गत्यात्मक कलाएं गति पर आधारित नृत्य कला तथा संगीत कला जिन्हें केवल सुना जा सकता है उनका अनुभव किया जा सकता है। ये लयात्मक होती है, काव्य कला भी इस श्रेणी मे आती है।

(1) नेत्रों को आनन्द देने वाली अर्थात् श्रव्य कलाएं जैसे - संगीत कला, काव्य कला।

(2) नेत्र और कान दोनों को आनन्द देने वाली कला जैसे - संगीत कला, नृत्य कला और नाट्य कला। जहां दृश्यमान कलाएं ठोस जगत की अनुभूति का अनुभव करती हैं। कला के इस वर्गीकरण मे उसके तकनीकी सिद्धान्त अर्थात् कौशल चतुराई, लाभकारी स्वरूप शिल्प धातु, सिलाई-बुनाई-कढ़ाई आदि के अर्न्तगत अन्य साज-सज्जा की वस्तुए आती हैं। इससे मानव की भौतिक आवश्यक्ताओं की पूर्ति होती है। पाणिनी ने भी चारू तथा कारू दो रूपों में कला को विभाजित किया है। चारू शिल्प के अर्न्तगत उन्होंने ललित कलाएं संगीत (गायन, वादन, नृत्य) और कारू शिल्प में आभूषण बनाने वाला (स्वर्णकाल) जूते बनाने वाला, बरतन बनाने वाला आदि काशीदाकारी करने वाले कारीगरों का उल्लेख है। 'नाट्य शास्त्र' में भरत ने कला के मुख्य गौण दो रूप स्वीकार किये हैं। उन्होंने नाट्य सम्बन्धी कलाओं द्वारा मानव को यश पुण्य शक्ति एवं दीर्घायु प्राप्त कर लाभान्वित होने तथा देवतादि के प्रसन्न होने का उल्लेख इस प्रकार किया है -

न तव्ज्ञानं न ताच्छिल्पं
न सा विद्या न सा कला।

कलाओं की संख्या भी प्राचीन काल से लेकर आजतक विभिन्न-विभिन्न सांख्यायें मानी गई हैं - शैवतंत्र एवं वात्स्यायन कृत कामसूत्र में 64 कलाओं का उल्लेख

1- रस एक समीक्षात्मक अध्ययन, लेखिका कु0 चिन्मया महेश्वरी,

मिलता है। शुक्रनीति में भी कलाओं की संख्या 64 मानी गई है। प्रबन्ध कोष में कलाओं की संख्या 72 दी गई है। जैन सूत्रों में इनकी संख्या 72 ही वर्णित है। बौद्ध ग्रन्थों में कलाओं की संख्या 84 मानी गयी है। श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण को 16 कलाओं से पूर्ण माना गया है। भारतीय अध्ययन की परवर्ती अवस्था में राजनीति अर्थशास्त्र, स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्य कला, संगीत कला, रंग शाला, धर्नुविद्या, युद्ध कौशल, नगर नियोजन, सिंचाई, चिकित्सा आदि कला विज्ञानों के बारे में लिखे गये ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

रस का स्वरूप जानने के लिए रस की परिभाषा का वर्णन करना परम आवश्यक है।

रस के सम्पूर्ण विवेचन का आधार है, भरत का यह प्रसिद्ध सूत्र :-

तत्र विभानुभावभिचारिसांयोगाद्रसनिष्पतिः ।

(नाट्य शास्त्र, काव्यमाल, 42 पृष्ठ 93)

यह वस्तुतः लक्षण नहीं है यद्यपि स्वयं अभिनवगुप्त ने इसे लक्षण माना है -

एवं क्रमहेतुमभिधाय रस विषय लक्षण सत्रमाह।

इस प्रकार (उद्देश्य में) क्रम (रखने) के हेतु को बतलाकर रस-विषयक लक्षण सूत्र को कहते हैं, हिन्दी (अभिनव भारती पृष्ठ 442) इस सूत्र में मूलतः रस की निष्पति की व्याख्या है, स्वरूप नहीं स्वरूप का आधार इसी परिभाषा के रूप में भरत ने अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है -

यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथाहि गुडदिभिद्रव्यै-व्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रस त्वमाप्नुवन्तीति।

1- हिन्दी अभिनव भारती, आचार्य विश्वेश्वर, पृ0 - 823.

अर्थात् जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोग्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव (नाट्य) 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यदि हम कला का स्वयं में कोई लक्ष्य नहीं होता बल्कि कुछ दूसरे ऐसे लक्ष्य उपलब्ध करने में साधन का काम करती है, जो मानव इंद्रियों और मन तथा मानव जीवन के भौतिक और सामाजिक संगठन से संबंधित होते हैं, जिस प्रकार एक कलाकार गायन के क्षेत्र में स्वरों के समधुर प्रयोग और अपनी रस पूर्ण राग रजनी के गायकी से रस की जो वर्षा होती है, उससे वह सिर्फ श्रोता को ही नहीं अपितु वहाँ के पेड़, पौधे, वातावरण सभी को एक आनन्द की अनुभूति करता है, उसी प्रकार एक साहित्यकार अपनी साहित्य से, जिस प्रकार कालीदास की मेघदूत और शेक्सपीयर के द्वारा अनुभूत और नाटक में अभिव्यक्त भाव वह भाव नहीं जो केवल यौन-वासना या इसके प्रति सहानुभूति से उत्पन्न हुआ है, किन्तु एक ऐसा भाव है जो उसकी उस तरीके की (बौद्धिक) समझ से उत्पन्न हुआ है, जिसमें वासना सामाजिक और राजनैतिक दशाओं को इस प्रकार काटती जा सकती है। इस प्रकार शेक्सपियर और हमारे द्वारा लीयर की कल्पना ठण्ड और भूख से कष्ट उठाने वाले केवल बूढ़े आदमी के रूप में नहीं की गई है, अपितु एक पिता के रूप में जिसे ये कष्ट उसकी लड़कियों द्वारा दिये जाते हैं, या फिर रोमियो और जूलियट एक-एक नाटक के विशय हैं, इसलिए नहीं कि वे ऐसे दो प्राणी हैं, जो एक दूसरे के प्रति प्रबल यौनिक रूप में आकृष्ट होते हैं, इसलिए भी नहीं कि वे ऐसे दो मानव-प्राणी हैं, जो इस आकर्षण का अनुभव करते हैं और इस अनुभव के प्रति चैतन्य हैं, यानी प्रेम में लीन दो प्राणी, अपितु इसलिए कि उनका प्रेम एक जटिल सामाजिक और राजनैतिक स्थिति के ताने-बाने में गुथा हुआ है, और स्थिति के द्वारा डाले गये दबाव से टूट जाता है। अतः इन नाटकों में व्यक्त भाव ऐसी स्थितियों से उत्पनन भाव है, जो बौद्धिक रूप से न समझे जाने की हालत में उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकती थी। इस प्रकार कवि मानव अनुभव को काव्य में पहले संशोधित

करके नहीं बदलता, पहले बौद्धिक तत्वों को काटकर बाहर कर देता है, भावात्मक तत्वों को बनाये रखता हो और फिर शेष को व्यक्त कर देता हो, और स्वयं को विचारों के भाव में घुला-मिला देता है।

अब प्रश्न ये उठता है कि रस कौन सा पदार्थ है, अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है ? उत्तर में अस्वाद्य होने से, अर्थात् जो आस्वाद्य हो वह रस है। जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अनन का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित पुरूष रसों का अस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों उएवं अभिनवों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्विक (मानसिक) अभिनवों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश इस प्रकार व्यक्त किया गया है -

(1) रस आस्वाद नहीं है, अस्वाद है - अर्थात् अनुभूति नहीं है, अनुभूति का विषय है, नवीन शब्दावली में, रस विषयिगत नहीं है, विषयगत है।

(2) विविध भावों अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से संयुक्त एवं विविध अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही रस या (नाट्य रस) में परिणत हो जाता है। जिस प्रकार व्यंजन आदि से संस्कृत अन्न ही भोज्य रस (षाड्वादि) का रूप धारण कर लेता है इसी प्रकार नाट्य सामग्री (विविध भाव + विविध अभिनय) द्वारा प्रस्तुत स्थायी भाव ही नाट्य रस बन जाता है। यहाँ स्थायी भाव अन्न के समकक्ष है, और नाट्य सामग्री - व्यंजन, औषधि (मसाले) आदि के -

स्थायी भाव = अन्न

नाट्य सामग्री = व्यंजनादि

अभिनवगुप्त ने भी इस दृष्टान्त के अवयावों में भी संगति स्थापित किया है।

(अभिनव भारती पृष्ठ 496)

1- डा0 प्रेम स्वरूप गुप्त, रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ0 - 204.

⟬3⟭ स्थायी भाव 'रस' नहीं है, किन्तु 'रस' का आधार है, क्योंकि नाटय सामग्री से संयुक्त होकर वही 'रस' बन जाता है- जैसे कि अन्न 'रस' नहीं है परन्तु 'रस' का आधार है, क्योंकि व्यंजन आदि से संस्कृत होकर वही रस बन जाता है। उदाहरण के लिए - रति स्थायी भाव अपने मूल रूप में श्रृंगार रस नही है, परन्तु नायक-नायिका स्मिति-कटाक्ष, हर्ष-वितर्क आदि के प्रसग में परिबद्ध होकर विविध अभिनयों के द्वारा जब वह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो श्रृंगार रस का रूप धारण कर लेता है।

⟬4⟭ यहाँ स्थायी भाव से अभिप्राय सहृदय या कवि के स्थायी भाव का न होकर नायक के स्थायी भाव का है और नायक चूँकि लोक का प्रतिनिधि है, अत· नायक के स्थायी भाव का अर्थ है लोक-समान्य स्थायी भाव।

⟬5⟭ इस प्रकार रस कला का अस्वाद नहीं है, स्वयं कला अथवा कलात्मक स्थिति है जो आस्वाद का विषय है।

⟬6⟭ सहृदय इसका आस्वादन करता है, परन्तु उसका यह अस्वाद रस रूप नहीं होता, हर्षादि रूप ही होता है।

⟬7⟭ हर्षादि के दो अर्थ किये जाते हैं - एक तो यह कि रसा स्वाद केवल आनन्दमय ही नहीं होता विभिन्न स्थायी भावों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है, दूसरा यह कि भरत ने 'आदि' के द्वारा हर्ष विरोधी अर्थात् कटु अनुभूतियों की व्यंजना नहीं की, वरन् कुतूहल आदि का आनन्दमयी अनुभूतियों की ओर ही इंगित किया है। प्राचीन में रामचन्द्र-गुणचन्द्र पहले मत के प्रवर्तक है और अभिनवगुप्त दूसरे मत के। आधुनिक विद्वानों का बहुमत धीरे-धीरे पहले अर्थ के ही पक्ष में हो जाता है। यद्यपि आनन्दवादी मत के समर्थकों की भी संख्या कम नहीं है ?

1- हिन्दी नाट्य दर्पण, पृष्ठ - 29.

विषयगत परिभाषा - इस प्रकार भरत के अनुसार नानाभावोपगत स्थायी भाव ही रस है, और स्पष्ट शब्दावली में - विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों से संयुक्त एवं वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से व्यंजित स्थायी भाव ही रस हे। अर्थात् रस एक प्रकार की भावमूलक कलात्मक स्थिति है, जो कवि-निवाद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारों भावों के प्रसंग से नाट्य सामाग्री के द्वारा रगमंच पर उपस्थित हो जाती है। उदाहरण के लिए, रम्य तपोवन के दृश्यों से सज्जित रंगमंच पर उपस्थित हो जाती है। उदाहरण के लिए, रम्य तपोवन के दृश्यों से सज्जित रंगमंच पर दुष्यन्त और शकुन्तला (विभाव) का अभिनय करने वाले (नट-नटी) जब वाचिक, आगिक तथा सात्विक अभिनयों के द्वारा अनुभाव, व्यभिचारी आदि की अभिव्यक्ति करते हुए रति स्थायी भाव को सर्वांगरूप में प्रस्तुत करते हैं तो एक रमणीय भाव मूलक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो सहृदय प्रेक्षक के चित्त में हर्ष, कुतूहल आदि जागृत करती है। यह रमणीय भावमूलक स्थिति ही भरत के अनुसार 'रस' है। सहृदय की अनुभूति इससे भिन्न है - वह तो इसका आस्वाद है, जो हर्ष कुतूहल आदि के रूप में अनुभूत होता है। यह स्थिति नाट्य-सौन्दर्य मात्र भी नहीं है - अर्थात् केवल नाट्य अलंकार और वस्तु का सौंदर्य ही रस नहीं हो सकता। नाट्य-सौन्दर्य और काव्य सौन्दर्य के माध्यम से स्थायी भाव की उपस्थिति ही 'रस' है।

रस की परिभाषा विषयगत है और भरत के विवेचन पर आधृत होने के कारण मौलिक भी। ध्वनि-पूर्व काल में अलंकारियों ने इसे काव्य के क्षेत्र में भी इसी रूप में ग्रहण कर लिया और परिभाषा का रूप परिवर्तित होकर इस प्रकार बन गया - शब्द अर्थ के सौन्दर्य के माध्यम से विभाव अनुभाव और वयभिचारियों से संयुक्त स्थायी भाव ही रस का रूप धारण कर लेता है।

> प्राक्प्रीततिर्दर्शिता सेयं रविः श्रृंगारतां गता।
> रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः।। काव्यदर्श 2, 28।

विभावादि से अपुष्ट रति केवल **'प्रीति'** (नामक 'भाव') ही होती है किन्तु विभाव अनुभाव और संचारी से परिपुष्ट होकर श्रृंगार रस में परिणत हो जाती है। यहाँ भी रस का स्वरूप विषय गत ही है - अर्थात् वह अस्वाद्य रूप है, अस्वाद नहीं है।

विषयिगत परिभाषा भारत-सूत्र के व्याख्याता आचार्यों के विवेचन के फलस्वरूप रस का स्वरूप क्रमश विषयिगत होता गया और वह 'अस्वाद्य से आस्वाद बन गया। इस अर्थ परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभिनव गुप्त पर ही विद्वानों के अनुसार रस का अर्थ है, आनन्द और आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है विषय के आत्म-परामर्श या आत्मास्वाद का माध्यम मात्र है, जिसके द्वारा प्रमाता सविद्-विश्रन्ति लाभ करता है। वह संविद्-विश्रान्ति ही आनन्द है। अत· रस नाट्यगत नहीं हो सकता नाट्य तो संविद-विश्रान्ति रूप रस का माध्यम मात्र ही हो सकता है। इस भूमिका में रस के आनन्देतर रूप की कल्पना का स्वत ही निराकरण हो गया। अभिनव गुप्त से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक रस का यही स्वरूप स्वीकार किया है। व्याख्या के आधार पर थोड़ा बहुत बदल गया, किंतु प्रतिपाद्य वही रहा।

अभिनव ने रस का स्वरूप इस प्रकार किया - नट के द्वारा किये जाने वाले (नटगत) अभिनव के प्रभाव से प्रत्यक्ष सा दिखलायी देने वाला (साक्षात्कारायमाण) एकाग्र मन की निश्चतता के कारण अनुभव होने वाला, समस्त नाटकों और किसी-किसी काव्य विशेष से (भी) प्रकाशित होने वाला अर्थ नाट्य कहलाता है। वह यद्यपि (भिन्न-भिन्न प्रकार के नायक नायिका आदि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के अपरिसख्येय होने के कारण) अनन्त विभावादि रूप है तथापि समस्त अचेतन विभावों के ज्ञान में (पर्यवसित होने से) और उस (ज्ञान) का भोक्ता आलम्बन विभाव रूप किसी पात्र विशेष) में पर्यवसान होने से और (इस प्रकार के अनेक) भोक्ताओं के प्रधान भोक्ता (अर्थात् नायक) में पर्यवसान होने के कारण नायक कहलाने वाले भोक्ता विशेष के (ख्याति रूप)

स्थायिभावात्मक चित्तवृत्ति स्वरूप (अर्थ नाट्य होता है और वह (प्रधान-चित्त वृत्तिरूप नायक) की एक चित्तवृत्ति, लौकिक गीतों के नाट्य या काव्य में आये हुये) गेय पदादि लास्य (नृत्य विशेष) आदि के दस अंगो से युक्त और स्वीकृत लक्षण वाले, गुण अलंकार गीत-वाद्य आदि के संयोग द्वारा अत्यन्त सौन्दर्य को प्राप्त काव्य की महिमा तथा नट व. द्वारा की जाने वाली प्रयोग परम्परा एव अभ्यास विशेष के प्रभाव से (ये विभाव आदि मेरे है या दूसरे के हैं इस प्रकार के) स्वकीय परकीय भाव से रहित हो जाती है. इसलिए साधारणीकरण हो जाने से (नायक की अपनी चित्तवृत्ति) सामाजिकों को भी अपनी सत्ता के भीतर समाविष्ट करती हुई, और नायक तथा सामजिक की चित्त वृत्ति के तादाम्य (अभेद-साधारणीकरण) होने के कारण ही अनुमान तथा आगम रूप (परोक्षात्मक) एवं इन्द्रियसंयोगादि रूप साधनों की अपेक्षा न रखने वाले अर्थात् इन्द्रिय सन्निकर्षादि के बिना ही उत्पन्न हो जाने वाले) प्रमाता एव प्रमेय स विलक्षण तथा परकीय लौकिक चित्तवृत्ति से भिन्न रूप से प्रतीत होने वाली (नायक विशेष) के अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक प्रमक्षादि से उत्पन्न अपनी रति और शोक के (वर्णन) क समान लज्जा-नाशादि रूप-रस विरोधिनी) अन्य चित्त वृत्ति क उत्पादन में अक्षम होने से ही निर्विघ्न अनुभूति की विश्रान्ति रूप आस्वादन नाम से कहे जाने वाले व्यापार के द्वारा गृहीत होने के कारण (रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्ति के अनुसार) 'रस' शब्द से कही जाती है।

रस का स्वरूप

आचार्य अभिनव मम्मट ने रस की इसी परिभाषा का व्याख्यान किया और पंडित राज जगन्नाथ तक यह निरन्तर चलती रही - अन्तर इतना ही हुआ कि पंडित राज ने शैव दर्शन के स्थान पर आवरण की भग्नता के लिए नव्य न्याय और वेदान्त का आश्रय लिया। डा0 नागेन्द्र के अनुसार -

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यह प्रमाण पूर्वक कहा जा सकता है कि रस का स्वरूप विविध है -

1- विषयगत अर्थात् भाव की कलात्मक अभिव्यंजना = भावमूलक काव्य सौन्दर्य।

2- विषयिगत अर्थात् उक्त काव्य-सौन्दर्य का आस्वाद।

इनमें से पहला रूप मौलिक होते हुए भी प्राय: तिरोहित हो गया - और अनुभूति परक रूप ही शेष रह गया। ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी हो, भारत का आशय जो भी रहा हो भारतीय साहित्य एवं साहित्य शास्त्र में अभिनव-प्रतिपादित आस्वाद-परक रूप ही मान्य हुआ विषयगत अर्थ अर्थात् भरत का अभीष्ट अर्थ 'रस' के स्थान पर 'काव्य' का वाचक बन गया। भाव की कलात्मक अभिव्यंजना 'रस' नहीं है - काव्य है और प्रकार परिभाषित काव्य का अस्वाद 'रस' है।

अभिनव ने रस के स्वरूप का निर्वाचन इस प्रकार किया है -

(1) लोक व्यवहार में कार्य-कारण सहकारी रूप लिंगो (अनुमापक हेतुओं) को देखकर (रत्यादि रूप) स्थायीभावात्मक अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्षवीक्षण आदि (अनुभवों) के द्वारा जो कि (नाटकों में) कारणत्व आदि रूप को छोडकर विभावना, अनुभावना एवं समुपरंजकत्व मात्र रूप को प्राप्त इसलिए अलौकिक विभावादि नामों से कहे जाने वाले, कारणादि रूप पुराने संस्कारों के उपजीकित्व द्योतन के लिए विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये जाने वाले और भावाध्याय में भी जिनका स्वरूप आगे कहेंगे इस प्रकार के विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के) सामाजिक की बुद्धि में गुण-प्रधान भाव से भली प्रकार से योग अर्थात् सम्बन्ध अथवा एकत्रीत भाव को प्राप्त हुए (विभावादि) के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न संवेदन रूप चर्वणा का विषय बनाया गया हुआ (इत्यादि रूप) अर्थ जिसका चर्वणा ही एक मात्र सारहे न कि (ध्यदि के समान पहले सिद्ध अर्थात्) विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस (चर्वणा के) काल में ही रहने वाला अर्थात् चर्वणा से अतिरिक्त काल में न रहने वाला (इसलिए भट्टलोल्ट तथा शंगुक आदि रसाभिमत) स्थायीभाव से विलक्षण 'रस' होता है।

(2) इसलिए अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसास्वाद स्मृति अनुमान लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न ही है।

क्योंकि लौकिक अनुमान की प्रक्रिया से संस्कृत (सामाजिक, नाटकों में) प्रभदादि (विभावादि) को (लौकिक परगत ख्यादि के समान) तटस्थ रूप से ग्रहण नहीं करता है अपितु हृदयसंवादात्मक (समस्त सामाजिक के हृदय की एकरूपता रूप) सहृदयत्व बिना ही तन्मयीभाव से प्राप्त (उचित) चर्वणा के उत्पादक रूप से (प्रभादि विभावों का अनुभव करता है)।

उपर्युक्त उद्धरणों में अभिनव की शैली फिर स्पष्ट व्याख्यान में बाधक होती हे संक्षेप में उनके मत का सारांश डा0 नागेन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

-1- लोक में ख्याति भावों के कारण द्योतक तथा पोषक होते हैं, वे काव्य-नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किये जाते हैं। काव्य-निबद्ध हो जाने पर कारण-कार्यादि सम्बन्धों से मुक्त होकर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है, और ये एक प्रकार का अलौकिक रूप धारण कर लेते हैं।

-2- सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के समवेत रूप का प्रत्यक्ष अथवा मनसा साक्षात्कार या चर्वण ही 'रस' है।

-3- रस चवर्ण अथवा अस्वाद से अभिन्न होता है - अर्थात् रस अस्वाद रूप ही होता, आस्वाद्य रूप या आस्वाद का विषय नहीं। इस प्रकार स्थायी भाव रस नहीं है।

-4- अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक अर्थात् स्मृति अनुमान, प्रत्यक्ष अनुभव आदि से भिन्न होता है। यह न कार्य है न ज्ञाप्य है न सविकल्पक ज्ञान है और न निर्विकल्पक।

-5- जैसा फिरस की परिभाषा के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है कि चवर्णा की इस स्थिति में प्रभाता का चित्त देश-काल, स्व, पर, तटस्थ आदि

की सीमाओं से मुक्त एकातान, आत्मविश्रन्तिरूप हो जाता है, अर्थात् रस अनिवार्यत· आत्मविश्रन्तिमयी आनन्द चेतना है।

परवर्ती आचार्यों ने प्राय· रस की इन्हीं विशेषताओं का प्रकार भेद से व्याख्यान किया है, चौदहवीं शती के संग्राहक आचार्य विश्वनाथ ने रस-स्वरूप विषयक इस व्याख्यान-विश्लेषण का सारांश अपने शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

स्त्वोद्रिकादखण्डस्वप्रकाशनन्दचिन्मय ।
वेदान्तरस्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर ।।
लोकोत्तर चमत्कारप्राण· कैश्चित्प्रमातृभि ।
स्वाकारवद भिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस ।। साहित्य दर्पण 3·2·3·

चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कार वान् सहृदयजन अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त ब्रह्मा स्वाद - सहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नत अस्वादन करते हैं।

इस परिभाषा के अनुसार -

(1) रस आस्वादन का विषय है - किन्तु निजस्वरूप से अभिन्न रीति से अर्थात् रस आस्वाद से अभिन्न है। रस आस्वाद रूप है।

(2) उसका आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है।

(3) वह अखण्ड है।

(4) अन्य ज्ञान से रहित है।

(5) स्वप्रकाशानन्द है।

(6) लोकत्तरचमत्कारमय है।

(7) चिन्मय है।

(8) ब्रह्मा स्वाद सहोदर है - अर्थात् ब्रह्मा स्वाद के अत्यधिक समान है।

1- डा0 निहाररंजन राय, कला का अध्ययन, पृ0-53·

§1§ रस अस्वाद रूप है, अस्वाद्य पदार्थ नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि भरत तथा ध्वनि पूर्व काल के अलंकारवादियों की वस्तुपरक व्याख्या अशुद्ध है। रस शब्दार्थ-सौन्दर्य या नाट्यचच सौन्दर्य का पर्याय नहीं है। शब्दार्थ-सौन्दर्य तो 'काव्य' और 'नाट्य' हैजो रस के निमित्त है · रस तो इनका आस्वाद है - दार्शनिक शब्दावली में इनके निमित्त से आत्मतत्व का आस्वाद है।

§2§ रस का अविर्भाव सत्तोगुण के उद्रेक की स्थिति मे होता है। रस का अस्वाद रूपद्वेष से मुक्त चित्त के वेशद्य या समाहित की अवस्था में ही सम्भव है। और §ख§ यह आस्वाद एन्द्रिय उत्तेजना आदि से भिन्न सात्विक अर्थात् अत्यन्त परिष्कृत कोटि का होता हे।

§3§ रस अखण्ड है . इसका अर्थ एक तो इस आशय का है - रसानुभूति में विभाव अनुभाव, व्यभिचारी आदि की पृथक-पृथक अनुभूति नहीं होती वरन् सभी की समंजित - अथवा एकान्वित अनुभूति होती है §ख§ दूसरी विवक्षा यह भी है कि रसानुभव में, आत्मा का पूर्ण तन्मयीभाव होने के कारण, मात्रीद अर्थात कोटिया नहीं होती पूर्णता में तारतम्य की सम्भावना नहीं है - क्योंकि पूर्ण से पूर्णतर की तो कल्पना नहीं की जा सकती जो पूर्ण से कम है वह रस की स्थिति नहीं है।

§4§ रसानुभव अन्य ज्ञान या अनुभव से रहित है · जैसा कि अभी स्पष्ट किया रसपूर्ण तन्मयी भाव की स्थिति है, और तन्मयी भाव में स्वभाव से ही अन्य ज्ञान की सम्भावना नहीं रहती।

§5-6§ रस स्वप्रकाशानन्द है और चिन्मय है। सत्वाद्रिक के प्रसंग में हो चुका है - रसानुभव एक प्रकार का स्वस्थ परिष्कृत आनन्द है - वह एन्द्रिय आनन्द अथवा विषय - सुख की कोटि का आनन्द नहीं है।

§7§ रस लोकत्तर चमत्कार प्राण है - रस न प्रत्यक्ष अनुभव है न परोक्ष, न कार्य है, न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक अर्थात एऐसा ज्ञान है, जिसमें ज्ञाता की चेतना

विद्यमान रहती है, और न निर्विकल्पक अर्थात् ऐसा ज्ञान हे जिसमें ज्ञाता की चेतना विलीन हो जाती है।

(8) ब्रह्मास्वाद सहोदर है - ब्रह्मास्वाद के समान है। रस विषयानन्द से भिन्न है, उसका अनुभव चिन्मय है वह इन्द्रियों का विषय न होकर चेतन्य का विषय है किन्तु फिर भी वह शुद्ध आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द नहीं है, क्योंकि (क) ब्रह्मा नन्द स्थायी होता है, रस अस्थायी है (ख) रस मे लौकिक विषयों का सर्वथा तिरोभाव नहीं होता।

पंडितराज के दृष्टिकोण से त्रिविध आनन्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है -

(1) लौकिक सुख (विषयानन्द) आनन्दाभास = चैतन्याभास की वृत्तियों के विषय-सामंजस्य से मिलने वाला अतः अन्तःकरण वृत्ति-रूप।

(2) ब्रह्मानन्द = आत्मानन्द विशुद्ध = निरूपाधिक चैतन्य का स्वरूपानन्द।

(3) काव्यानन्द (रस) आत्मानन्द = सोपाधिक (= सोपाधिक चैतन्य का आनन्द विशुद्ध रत्यादि की उपाधि में उपहित चैतन्यकारकारित चित्तवृत्ति का आनन्द।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कला की दृष्टि से हम रस को पूर्णता को नहीं प्राप्त करते हैं। रस और भाव की अनुभूति स्वयं ज्ञान की जिज्ञासु नहीं होती बल्कि ज्ञान को और कभी-कभी विशाल संचित ज्ञान राशि को विषय को उद्भाषित करने में लगा देती है। अंतर्ज्ञात प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त रसानुभूति विशयजगत के संबंध में ज्ञान बढाने का रस्ता खोल देती है।

जब कोई कलाकार स्वप्न या बिंब प्रत्यक्ष रूप में पूर्णतः प्रकट हो जाता है तो वह एक कलावस्तु बन जाता है। कोई प्रत्यक्ष ज्ञाता विषयी उस कलावस्तु के अंतर्निहित प्रत्यक्ष ज्ञान का लाभ उठा सकता है। ऐसा कलाकार स्वयं भी कर सकता है, पर तब वह कलाकार नहीं रह जाता, दर्शक हो जाता है। इसको यदि

दूसरे अर्थ में देखें तो भावात्मक प्रभाव महत्वपूर्ण या खास विशेषताओं के चयन तथा संभवत और भी अधिक सफलता पूर्वक उत्पन्न किये जा सकते है, उदाहरण के लिए कल्पना कीजिये कि एक कलाकार एक ऐसे उत्सवी नृत्य के भावात्मक प्रभाव को ज्यों का त्यों उतारना चाहता था, जिसमें नर्तक भूमि पर एक नमूना बनाते हैं। आधुनिक यात्री उन नर्तकों का फोटो उनके किसी एक क्षण होने की मुद्रा मे ले लेगा एक पारस्परिक आधुनिक कलाकार, प्रकृतिवाद से भ्रष्ट मस्तिष्क लिए हुए, उन्हें उसी ढंग से चित्रित करेगा। ऐसा करना एक बडी मूर्खता होगी क्योंकि नृत्य का भावात्मक प्रभाव किसी तात्कालिक मुद्रा पर निर्भर नहीं करता अपितु बनाये गये कथानक भाव प्रदर्शन पर निर्भर करता है। उचित वस्तु को छोड़कर नर्तको को बिल्कुल नर्तकों को बिल्कुल छोड़कर स्वय नमूने को बनाना होगा।

लेखक आर0जी0 कलिंगवुड के अनुसार एकाग्र चित्त से भावात्मक प्रतिनिधान को अपना लक्ष्य बनाती है। इस प्रकार संगीत को, प्रतिनिधान होने के लिए निमियाती भेड़ की आवाज, तेज रफ्तार से दौड़ते हुए डाक गाड़ी के इंजन या मरने वाली आदमी के गले की गड़गड़ाहट की नकल करने की आवश्यक्ता है। ब्राह्मस के गीत फेल्डीसामकाइट में पियानों की संगीत कतई कोई आवाज नहीं करती जो गर्मी के दिन घड़ी बड़ी धारा में लेटे हुये आकाश में इधर-उधर बादलों को तैरते हुए देखने वाले मनुष्य द्वारा सुनी हुई आवाजों से लेशमात्र भी मिलती-जुलती हो किन्तु फिर भी ऐसी आवाज करती है, जो ऐसे अवसरों पर मनुष्य द्वारा महसूस की जाने वाली भावनाओं को पैदा करती है।

इस प्रकार रचना और अनुभूति के संदर्भ में विषयवस्तु और उद्देश्य दोनों एंक समान रहते हैं। दोनों में किसी प्रकार की दुविधा नहीं रहती। दूसरे शब्दों में भीतरी अनुभूति और ज्ञान का होना तब तक असंभव है जब तक उद्देश्य को विषय वस्तु से अलग न मान लिया जाता। डा0 निहार रंजन राय ने इस विषय में कहा है कि दो विचार धाराओं ने भारतीय मनीष और अनुभूति को काफी हद

तक प्रभावित किया है।

मानवीय कौशल की वस्तु होने के अतिरिक्त कला मानवीय विचारों और कल्पना का भी प्रतिफलन है, मनुष्य के मस्तिष्क को स्वयं अनुभूति का आधार होने की मान्यता प्राप्त होती है। इसे आन्तरिक अनुभूति कहा जाता है।

मानवीय कला प्रकृति की कला के सिद्धान्तों और नियमों का अनुगमन करती है, या उससे मेल खाती है और ये नियम तथा सिद्धांत सामुहिक तौर पर 'छंद' कहे जाते हैं।

कलाकार प्रकृति और इस प्रकार मानव कलाओं में काम करने वाले नियमों के अनुसार किसी वस्तु को गढ़ता है तब चूंकि, कुछ समय के लिए ही सही वह अचेतन और अबूझ ढंग से वह उसके प्रति समर्पित हो जाता है। इसलिए उन नियमों को अपने जीवन में आत्मसात कर अपने आपको तथा अपने जीवन और चिंतन के स्वरूप को इनके द्वारा निर्धारित करता है। उस व्यक्ति के बारे में भी यही सच है, जो ध्यान लगाकर सुख पूर्वक कोई चित्र या शिल्प देखता है, या संगीत सुनता है या किसी नाटक का अभिनय अथवा नृत्य देखता है। उसी विषय वस्तु के आधार पर कला वस्तु विकसित होती है। वह अच्छी या बुरी भी हो सकती है किंतु दर्शक का कला अनुभव बहुत हद तक उस चीज के होने या न होने से प्रभावित होता है।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि कला का प्राण 'रस' है अथवा कला का लक्ष्य रसनुभूति कराना है। यहाँ 'रस' का अभिप्राय विशुद्ध रसानुभूति (आनन्दभूति) अथवा सौन्दर्याभूति के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए विविध रसों की अनुभूति से नहीं, क्योंकि हमारे यहाँ कलाओं की साधना अध्यात्मि दृष्टिकोण से विशुद्ध आनन्द अथवा परमानंद की प्राप्ति के लिए हुई, न कि श्रृंगार की प्राप्ति के लिए हुई है, न कि श्रृंगार हास्य, रौद्र आदि रसों की उपलब्धि के लिए।

अध्यात्म की दृष्टि से रस का स्वरूप

अध्यात्म के विषय में हमारे षष्टम अध्याय अध्यात्म की वेदमूलकता में विस्तृत विवरण दिया जा चुका है, इसलिए हम यहाँ अध्यात्म के विशय पर चर्चा न करते हुए उसके रस के विशेष महत्व पर विस्तार करेंगे।

रस का स्वरूप

जिस प्रकार पंडित राज ने लिविद्ध आनन्द की व्याख्या की है कि -

(1) लौकिक सुख (विषयानन्द) = आनन्दाभास = चैतन्याभास से आभासित अन्त करण की वृत्तियों के विषय सामंजस्य से मिलने वाला अन्तःकरण - वृत्ति रूप।

(2) ब्रह्मा नन्द = आत्मा नन्द (विशुद्ध) = निरूपाधिक चैतन्य का स्वरूपा नन्द।

(3) काव्यानन्द (रस) = आत्मानन्द = सोपाधिक = सोपाधिक चैतन्य का आनन्द विशुद्ध ख्यादिकी उपजि से उपहित चैतन्यकाराकारित चित्तवृत्ति का आनन्द ।[1]

इस प्रकार काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द में अन्तर है, परन्तु वह प्रकृति का नहीं है, गुण का है। काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों आत्मानन्द के ही भेद हैं- काव्यानन्द में विशुद्ध (साधारणीकृत) रत्यादि की भूमिका रहती है। अतः वह अस्थायी है और सोपाधिक है। विषयानन्द में भी आनन्द तत्व आत्मपरामर्श या आत्मास्वाद का ही वाचक है, किन्तु वह विषय से ग्रस्त है अर्थात् प्रकृति के दोष उसमें विद्यमान हैं : भोग्य जड पदार्थ की स्थलता और उससे प्रेरित भोक्ता चित्त के रागद्वेष उससे संलग्न हैं, अत. वह मिश्रित है, अपेक्षाकृत स्थूल तथा मृण्मय अंश से आविष्ट है। काव्यास्वाद = रस की स्थिति मध्यवर्ती है, वह विषयानन्द की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं चिन्मय है · अधिक सूक्ष्म-परिष्कृत है और ब्रह्मानन्द की अपेक्षा अधिक स्थूल है। इसका यदि सारांश देखें तो पता चलता है कि -

---

1- कु0 चिन्मयी महेश्वरी, पृ0 - 30, रस गंगाधर एक समीक्षात्मक अध्ययन.

रस काव्य का आस्वाद है। यह आस्वाद आनन्दमय है - अर्थात् रस एक प्रकार का आनन्द चेतना है।

आनन्द-चेतना का अर्थ है आत्म साक्षात्कार - अभिनव के शब्दों में आत्मपरामर्श और भट्टनायक के शब्दों में संविद्धिश्रन्ति।

रस की उत्पत्ति के विषय में भट्टलोल्लट तीन प्रकार से दिया है - रामादि में, नट में, और सामाजिक में।

रामादि में रस की उत्पत्ति यदि स्वीकार की जाय जैसाकि भट्टलोलर मानते हैं तो वह सहृदय के लिए आस्वाद्य नहीं हो सकती, रामादि के लिए आस्वाद्य होगी। क्योंकि रात्रि सहृदय में विद्यमान रहे, उसी का आस्वाद बोध उसे होगा अन्य व्यक्ति में स्थित रति का नहीं। इस प्रकार यदि नट में रसोत्पत्ति को माना जाय तो वह भी पहले के समान सहृदय के लिए अनास्वाद्य होगी।

तृतीय पक्ष है सहृदय स्वयं। सहृदय में भी रति की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि शकुन्तला या सीतादि उसके प्रति विभाव नहीं है। बिना विभाव (आलम्बन) के रति की उत्पत्ति असम्भव है। शकुन्तलादि में रमणीत्व होने से वह सामाजिक मात्र के प्रति विभाव हो सकती है और उससे सहृदय में रति उत्पन्न हो सकती है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि नारीत्व मात्र ही विभाव होने के लिए पर्याप्त हो जाये तो माता बहन भी रति के प्रति विभाव बन जायेंगी, क्योंकि उनमें रानीत्व तो है ही, परन्तु व्यवहारतः यह असिद्ध है। कोई भी नारी तब ही विभाव हो सकती है, जब उसके प्रति नायकादि को यह ज्ञान रहे कि वह उसके लिए अगम्या नहीं है।

"तत्तरीय उपनिषद" में रस-सम्बन्धी व्याख्या इस प्रकार दी गई है-

रसो वै सः । रस हयेव त्रव्ध्वा आनंदी भवति।

1- रस गंगाधर, डा0 प्रेमस्वरूप गुप्त, पृ0 - 204.

आचार्य अभिनव गुप्त ने रसानुभूति के चरम तल की व्याख्या करते हुए कहा है - 'रस का अनुभव अपनी अंतिम विकास-क्रम दशा में परमानंद का अनुभव है।'[3]

आचार्य विश्वनाथ ने रस-स्वरूप की सुंदर परिभाषा इस प्रकार है -

चित्त में सत्तो गुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान् सहृदयजन अखंड स्वप्रकाशनंद चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त ब्रह्मानंद सहोदर लाकोत्तरचमत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः अस्वादन करते हैं।

रस में अमरत्व-यशत्व - संगीत में सौन्दर्य वर्धक उपकरणों से अमरतत्व की लालसा यश और कीर्ति के माध्यम से पूरी होती है। भरतमुनि के शब्दों में यश से अर्थ वृत्तेव्यवहारविदे। कलात्मक सृजन की प्रेरणा सबसे पहले नाम पैदा होती है, यही कलाकार का प्रथम उद्देश्य है, जिसके लिए मानव कलात्मक सर्जना अथवा प्रसिद्धि करता है। यह यश और कीर्ति तथा अमरत्व की प्यास अपने आप में एक शक्तिशाली प्रवृत्ति है। सभी वृत्तियों की तरह यह भी प्राण रक्षा ही करती है।

ग्यारहवीं शती ई0 के आरम्भ में अग्निपुराण जिसके 336 से 347 तक ग्यारह अध्यायों में काव्य शास्त्र का रोचक वर्णन किया गया है, इसके अनुसार-

1- आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्काररसह्मया ।[1]

अग्नि पु0 339.2

उस पर ब्रह्मा का आनन्द स्वाभाविक है जिसको वह कभी-कभी अभिव्यक्त करता है। उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य चमत्कार अथवा रस है।

2- लक्ष्मीरिव बिना त्यागान्न वाणी भांति नीरसा ।[4]

अ0पु0 339.8

जिस प्रकार लक्ष्मी बिना दान के, इसी प्रकार रस के बिना कविता शोभित नहीं होती।

इसका विस्तार पूर्वक रस आदि का प्रकरण निर्दिष्ट किया जाता है -

3- वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवाल जीवितम् ।
पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं वाग्विक्रमणि रसाद्वपुः ।।[6]

अ0पु0 337.33

वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता होने पर भी महाकाव्य की आत्मा तो रस ही है, अतः हम कह सकते हैं कि वाग्विक्रम को छोड़कर इसका कलेवल रसयुक्त बनाएं।

उपर्युक्त उद्धरण में लेखक के मन की ग्रंथि मानो तनकल खुल जाती है- उसके मन में निश्चय ही अलंकार (वाग्वैदग्ध्य) के प्रति अत्यन्त मोह है और काव्य में महाकाव्य तो उपलक्षण मात्र है, वह उसे प्रधान मानता है, किन्तु आत्मा रस है - अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से रस की ही महत्ता असंदिग्ध है।

रसवाद का दूसरा प्रमुख ग्रंथ है 'रामचन्द्र-गुण चवन्द्र' कृत नाट्य दर्पण (बारहवीं शती ई0 उत्तरार्धा) ग्रंथ विवेच्य विषय नाटक होने के कारण स्वभावतः ही उसमें रस का प्राधान्य है, और इसके कर्ता भरत, धनंजय आदि की रस-परम्परा के ही पोषक हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में लोल्लट के मत को दोष सर्व-विदित है। अभिनव भारती के अनुसार शंशुक ने उसके विरूद्ध आठ आक्षेप किये हैं -

1- विभावादि के योग के बिना या (अभाव में) स्थायी भाव के अनुमापक हेतु के न होने से स्थायीभाव की प्रतीति नहीं बन सकती है। इसलिए स्थायीभाव को रस नहीं कहा जा सकता है और यदि शब्द से स्थायीभाव की परोक्ष प्रणोति मानी जाए तो विभावादि के प्रयोग के।

2- पहले भावों को शब्दों अभिधेय मानना होगा। वह परोक्षात्मक ज्ञान आस्वाद रूप या साक्षात्कारात्मक न होने से रस नहीं कहा जा सकता है।

3- विभाववादि के प्रयोग के पहिले भी रस को मानने पर विभानु भावव्यभिचारि-

---

1- हिन्दी अभिनव भारती, पृ0 - 445, अभिनवगुप्त - 509.

संयोगद्रसनिष्पतिः इत्यादि रूप जो रस की उत्पत्ति की प्रक्रिया बतलायी है उन अन्य लक्षणों की आवश्यकता नहीं रहती है।

4- (यदि ख्याति स्थायिभावों को ही रस माना जाए तो रत्यादि की मात्रा में न्यूनाधिक्य अथवा तारतम्य की सम्भावना होने से रस में भी) मन्द तर-तम मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे। (परन्तु रस के एक रूप होने से उसमें मात्रा कृत तारतम्य नहीं माना जाता है। और यदि स्थायिभाव को ही रस मानें तो फिर रस के समान स्थायिभाव को भी तारतम्य या मात्राकृत भेद से रहित मानना होगा, उस दशा में)

5- हास्य रस में (स्थायिभाव की मात्रा के तार-तम्य से जहां छह भेद किये गये हैं उन) छह भेदों का अभाव प्राप्त होने लगेगा। (और यदि स्थायिभाव के तारतम्य से रस का भेद मानेंगे तो)

6- काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस, भाव आदि मानने होंगे जो कि युक्ति संगत नहीं है। इसलिए स्थायीभाव को रस मानना उचित नहीं है, और अपने स्थायीभाव के उपचय अथवा उपचित स्थायीभाव को रस कहा है परन्तु शोकादि भावों में)

7- शोक प्रारम्भ में तीव्र होता है, उसके बाद कालक्रम से मन्द होता जाता है अतः उसका उपचय सम्भव न होने से करूण रस की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

8- क्रोध, उत्साह तथा रति आदि अन्य स्थायिभावों में अमर्ण स्थर्य और सेवा आदि परिपोषक (सामाग्री) के आभाव में ह्रास दिखलायी देता है इसलिए (उपचय के स्थान पर उनका अपचय रूप) विपर्यय पाया जाने से उपचित स्थायिभाव रस होता है, यह कहना उचित नहीं है) उपचित होकर रस बन जाता है - "स्थाय्येव उपचितो रसः' का। प्रथम छह तर्कों का सारांश यह है कि स्थायी भाव की सत्ता विभावादि के संयोग से पूर्व केवल विचारगत ही होती है, उनका ज्ञान मात्र हो सकता है साक्षात्कारात्मक या रसनात्मक प्रतीति नहीं। अतः विभावादि के संयोग से तो वास्तव में स्थायी भाव अपने स्वरूप को प्राप्त करता है - रस-रूप को नहीं। साथ ही स्थायी भाव में

तो तारतम्य रहता है - उनकी अनुभूति में मात्रा-भेद से अन्तर पड़ता रहता है, जबकि रस में तारतम्य की कल्पना असंगत है। अतः देनों का एकात्म्य असिद्ध है। शेष दो तर्कों का सारांश यह है कि स्थायी भाव का उपचय सर्वत्र नहीं होता शोक का जहाँ स्वभाव से ही उपचय न होकर अपचय होता है, वहाँ क्रोध, उत्साह तथा रति भावों का पारिपोषक सामग्री के आभाव में अपचय हो जाता है। अत. स्थायी भाव उपचित होकर रस बन जाता है। परन्तु यह सिद्ध नहीं हो पाता।

तो यहाँ शंकुक का यह मत सर्वथा मान्य नहीं। स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है। भारत का भी यही मत मान्य है।

दार्शनिक पृष्ठ भूमि से लोल्लाट के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे मीमांसक थे।

उन्होंने भारत के सामान्तर चलते हुए भी अपनी व्यवहारिक दृष्टि पर ही अधिक विश्वास किया है। उन्होंने अपने रस-विवेचन में दर्शन का उपयोग किया और उनका आधारभूत दर्शन निश्चय ही न्याय है : लिंगों के द्वारा लिंगी का अनुमान तथा चित्रतुरगन्याय' आदि की धारणाएं तथा शब्दावली इसका प्रमाण हैं। रस विषय के नवीन अनुसंधाता डॉ0 प्रेमस्वरूप गुप्त ने कहा कि - शंकुक की आस्था वैदिक न्याय की अपेक्षा बौद्ध न्याय में ही अधिक थी। गुणचन्द्र-रामचन्द्र की सुख-दुखात्मक रस कल्पना ने तो उल्टी गंगा बहाने का प्रयास किया। यद्यपि यह शंका भी अपने आप में कोई निर्णायक सिद्धि नहीं हो पाती इस विषय में डा0 नागेन्द्र का मानना है कि वैदिक और अवैदिक न्याय को छोड़कर शंकुक को केवल न्यायिक ही मानना अधिक श्रेष्ठकर है।

अध्यात्म की दृष्टि से जब हम रस के स्वरूप पर वर्णन करते हैं भावनुभूति से रस का क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तार आवश्यक है। रस निश्चय ही भाव पर आश्रित है, अर्थात् भाव की भूमिका के बिना रस की स्थिति सम्भव नहीं है, संस्कृत

1- अभिनव गुप्ता, पृ0 - 503, 461, 500.

काव्यशास्त्रियों का मानना है कि भाव के स्पर्श से रहित शब्दार्थ का चमत्कार रस नहीं है। स्वयं अलंकारवादी भी इस प्रसंग में किसी प्रकार की विप्रतिपति नहीं करते। रस और भाव का अनिवार्यतः एवं अविच्छन्न सम्बन्ध है; नाट्यशास्त्र में इसका प्रमाण है -

न वाभहीनोऽस्तिरसो न भावो रस वर्जितः 6.36

किन्तु रसानुभूति भावनुभूति से भिन्न है - किसी भी स्थिति में दोनों एक नहीं हो सकती। रस के आश्रयभूत स्थायी भाव आस्वाद की दृष्टि से सामान्यतः दो प्रकार के माने जा सकते हैं - रति, उत्साह, विस्मय, हास्य तथा शम का आस्वाद सुखद है और शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सी का आस्वाद लेखा-जीवन में दुःखद है। रस स्वागत भावानुभूति नहीं है - न प्रत्यक्ष और न परोक्ष तब फिर क्या उसे परगत अनुभूति माना जा सकता है ? 'शाकुन्तलम' का श्रृंगार रस हमारी अपनी प्रेमानुभूति नहीं है, वह नायक-नायिका की प्रेमानुभूति के प्रति हमारी प्रतिक्रिया ﴾।﴿ अपनी प्रेमानुभूति भाव है - काव्यजनित तादात्म्य के द्वारा दूसरे प्रेमानुभूति का आस्वादन रस हो सकता है (?) क्योंकि वहाँ व्यक्ति की सीमाएँ टूट जाती हैं किन्तु इसका उत्तर भट्टनायक आदि आचार्य एक सहस्र वर्ष पूर्व दे चुके हैं। दूसरे की प्रेमानुभूति के प्रति प्रतिक्रिया ने भी हमारे व्यक्तिगत रागद्वेष अत्यन्त प्रबद्ध रहते हैं जो रसानुभूति में बाधक हो जाते हैं, और परगत रस को चेतना हमारे मन में रस के स्थान पर संकोच, वितृष्णा, क्रोध आदि के भाव भी उत्पन्न कर सकती है। स्वागत अनुभव की भाँति परगत अनुभव भी व्यक्ति की सीमाओं में बँधा हुआ है और राग द्वेष से निर्लिप्त नहीं हो सकता अत. रस परगत भावानुभूति भी नहीं है।

अन्त में निष्कर्षतः डा0 नागेन्द्र ने माना है कि रस भव पर आश्रित होते हुए भी भावानुभूति से भिन्न है - प्रत्यक्ष, परोक्ष, स्वगत, परगत, सुखद, दुःखद - किसी प्रकार की भावानुभूति रसानुभूति नहीं है। भावानुभूति में इन सभी रूपों में व्यक्तिगत रागद्वेषों का संसर्ग अनिवार्यतः बना रहता है, यह संसर्ग जब रहेगा तब तक

1- उमेश मिश्र - भारतीय दर्शन, पृ0 - 359, 352.

चित्त की मुक्तावस्था सम्भव नहीं है, उसके बिना आनन्द की अनुभूति बाधा रहती है। अतः 'रस' भाव पर आश्रित है - और फिर भी भावानुभूति से भिन्न है, ये तो विरोधी उक्तियाँ हैं परन्तु शस्त्र में विरोधाभास का भी समाधान है - वह है 'रस व्यक्गित भाव का आस्वाद नहीं है - साधारणीकृत भाव का आस्वाद है। साधारणीकृत भाव निर्विषय होने के कारण राग द्वेष के देश से मुक्त हो जाता है, इसलिए वह आनन्दमय ही होता है - वह एक प्रकार से भाव के माध्यम से आत्मा अर्थात् शुद्ध-बुद्ध चेतना का आस्वाद है, जो सवर्था आनन्दमय ही होता है। शुद्ध-बुद्ध चेतना का आस्वाद चिंतन के माध्यम से भी हो सकता है, परन्तु वह रस नहीं है - रस के लिए भाव का माध्यम अनिवार्य है।

इसी प्रकार यह माना जाता है कि क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है रस (काव्यस्वाद) आनन्दमय होता है - यह तो निर्विवाद है, किन्तु अनिवार्यतः आनन्दमय होता है, इस विषय में मतभेद है : अर्थात् श्रृंगार, वीर, वीभत्स आदि का आस्वाद श्री आनन्दमय होता है। यह विवाद का विषय है। स्वदेश-विदेश में यद्यपि बहुमत प्रायः रस की अनिवार्य आनन्दरूपता के पक्ष में ही रहा है परन्तु विरोधी स्वर भी काफी मुखर रहा है, तो यहाँ सबसे पहले हमें 'भरत' के मत का पर्यालोचन करना चाहिए .- जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित पुरूष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनवों द्वारा व्यंजित-वाचिक, अंगिक तथा सात्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त भावों का आस्वादन करते हैं, और हर्षादि को प्राप्त होते हैं। इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं। (ना0श0, अ0 6 पृष्ठ 93).

भारत के टीकाकार अभिनव ने इस मत की पुष्टि की है, दूसरे (व्याख्याता) तो (हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति इसमें आये हुए) 'आदि' शब्द से शोकादि का यहाँ संग्रह होता है, (यह कहते हैं) परन्तु वह (शोकादि का संग्रह) उचित नहीं है। क्योंकि

1- रसा गंगाधर, चौखम्बा प्रकाशन, वि0भा0प्रा0आ0, पृष्ठ - 109.

नाटक सामाजिकों को केवल आनन्द देने वाला ही होना चाहिए, शोकादि उसके फल नहीं होने चाहिए। उस (नाटक के दुःखजनकत्व) में कोई प्रमाण (निमित्त) न होने से और (यदि नाटक से दुःख होता है यह मान लिया जो तो सामाजिक को) उस प्रकार का अनुभव प्राप्त होने लगेगा (जो कि अभीषट नहीं है)।

हिन्दी अभिनव भारती, पृष्ठ 500.

अभिनव के विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने एक नवीन प्रस्थापना दी है, उनकी धारणा है कि अभिनव रस को उभयात्मक (सुखदुःखतात्मक) मानते है, अर्थात् उनके मतानुसार प्रत्येक रस में सुख-दुख का मिश्रण प्रायः अनिवार्यतः रहता है। इस धारणा का आधार अभिनव भारती, प्रथम अध्याय का निम्नोद्वत विवेचन है :

भरत- योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।

सोऽङ. गवभिनयोपेतो नाट्यामित्याभिधीयते ।। ।।9।।

तथाहि - रवि हास - उत्साह - विस्यानां सुखस्वभावत्वम् ।

× × ×

क्रोधमय-शोक जुगुप्सानां तु दुःखस्वरूपता। हिन्दी अभिनव भारती, पृष्ठ 219-20.

भरत संसार का सुख-दुःख से युक्त जो स्वभाव है, आंगिकादि (चतुर्विध) अभिनयों के साथ मिल जाने पर वहीं नाट्य कहलाता है ।।9।

अयम् का अर्थ है प्रत्यक्ष-सदृश अनुव्यवसाय का विषय। यत् शब्द से अभिप्राय है लोकप्रसिद्ध सत्यत्व और असत्यत्व से विलक्षण। अर्थात् लोकप्रसिद्ध सत्यत्व और असत्यत्व से विलक्षण, प्रत्यक्ष सदृश्य अनुभव का विषय साधारणीकरण व्यापार के कारण सम्पूर्ण संसार द्वारा अपने अनुभव के रूप भाव्यमान (प्रतीत होने वाला) और चवर्यमाण (आस्वादित होने वाला) अर्थ नाट्य (कहलाता) है और वह सुख तथा दुःख दोनों से युक्त विचित्र (नाना प्रकार का) होता है, केवल सुख रूप या दुःख रूप नहीं होता।

जैसे कि रति, हास, उत्साह और विस्मय सुख-स्वभाव (सुख प्रधान) होते हैं। क्रोध, भय, शोक, जुगुप्सा, दुःखरूप (दुःख प्रधान) होते हैं।

इस विषय में डा0 नागेन्द्र का मानना है कि आनन्दमय (ज्ञानस्वरूप) (आत्मा) का ही आस्वादन (रस रूप में) होता है। उसमें दु·ख की शंका ही कैसे हो सकती है।[3] 'हि0 अभिनव भारती' में पृष्ठ 462 में कहा गया है कि रस की न प्रीति होती है, न उत्पत्ति, न ही अभिव्यक्ति। स्वगत अर्थात् सामाजिक में रस की प्रतीति मानने पर करूण में दु ख की होनी चाहिए। किन्तु यह प्रतीति ठीक नहीं है ()।() दुख का मूल कारण सीता आदि के विभाव (रूप में उपस्थित) न होने से (2) अपनी स्त्री आदि की स्मृति (अभिनव-काल में) न होने से"।

मम्मट ने रस को सकल प्रयोजन मौलिभाव एव रसास्वाद को आनन्दरूप माना है।

सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेय रसास्वाद समुदभूतं विगलित पेछान्तन्तरमानन्दम्।

काव्य प्रकाश (1.2 वृत्ति) अध्यात्म की दृष्टि से रस के महत्व के विषय में अत्यधिक सुन्दर विवेचन डा0 राम कीर्ति जी ने लिखा है "प्याज की परतों का एक-दूसरे से सम्बन्ध माना जा सकता है। ये सभी परतें अनवरत स्वरानुक्रम की रचना करती हैं, परतों के ऊपर कलाकार की भूमिका एक पर्यवेक्षक की होती है। पहली परत की नीचे वाली परत पर वह एक टिप्पणीकार बन जाता है, दूसरी परत के पश्चात् वह व्याख्याता तीसरी पर वह एक कल्पना-बिहारी और अन्त में वह एक सर्जक बन जाता है। स्वरानुक्रम प्रत्येक गीत के साथ वह मूर्त विश्व को त्यागता जाता है और वह अपने आदृश्य संसार की खोज में आगे बढ़ता है। यह रतोज पूरी करने के पश्चात् वह इसके लिए चक्षुक प्रतीक की तलाश करता है, वही प्रतीक उसे गुप्त रहस्य का संकेत देता है। रसवादी विश्वनाथ का मत तो और भी निर्भ्रान्त है।

करूण आदि रसों में भी जो परम आनन्द होता है, उसके केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। यदि उनमें दुःख होता तो कोई भी उनके प्रेक्षण-अध्ययन आदि में

1- सितम्बर 1982, संगीत मासिक पत्रिका, मधुरगीत.

प्रवृत्त न होता, वैसा होने पर रामायण आदि (अमर काव्य) दुःख के कारण बन जाएंगे।

और अन्त में पंटित जगन्नाथ का मत है -

(क) स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सहगोचरीक्रियमाणः × × × ख्यादिरेव रसः।[1]

- रति आदि स्थायी भाव ही सत्य तथा विज्ञान रूप होने से स्वतः प्रकाशमान् आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर रस में परिणत हो जाते हैं। मराठी के आलोचक भी काव्य शास्त्र के प्रति अत्यन्त प्रबुद्ध रहे हैं। उन्होंने रस-सिद्धान्त के विविध पक्षों पर अत्यन्त गम्भीर एवं स्वतंत्र शास्त्र-चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनका भी बहुमत रस की आनन्द रूप का प्रतिपादन किया है। इन्होंने रस-स्वरूप के विवेचन में रस = आस्वाद = आनन्द - इस प्रकार के समीकरण का विशेष रूप से समर्थन किया है : 'काव्य से सहृदय का हृदय-सागर उमड़ आता है। इस उभड़ते हृदय सागर में जब सहृदय तन्मय हो जाता है तब उसकी तदाकार कृति में जो आनन्द है उसे ही संस्कृत ग्रन्थकारों ने 'रस' कहा है (काव्यालोचन) पृष्ठ 127-28[4] डा0 वाटवे और देश पाण्डे ने इसी अभिमत का समर्थन किया है।

रस का मानसिक उपादान 'भाव' दुःखमय होने पर भी परिणाम 'रस' तो नित्य आनन्द का कारण है।[1]

रवीन्द्र नाथ का दर्शन तो स्पष्टतः आनन्द का ही दर्शन है : 'रस मात्र में ही, अर्थात् सब प्रकार के हृदय बोध में, हम विशेष रूप से अपने को पहचानते हैं, इसे पहिचानने में ही एक विशेष आनन्द है। दुःख की अभिज्ञाता से हमारी चेतना आलोडित हो उठती है। दु ख के कटु स्वाद के कारण दोनों आँखो से पानी गिरते रहने पर भी वह उपादेय है। दु·ख की अनुभूति सहज आरामबोध से भी प्रबलता है। ट्रेजडी का मूल्य भी इसी में है। कैकेयी की प्ररोचना से रामचन्द्र का निर्वासन, मन्थरा का उल्लास, दशरथ की मृत्यु इनमें अच्छा कुछ भी नहीं है। सहज भाषा में जिसे हम सुन्दर कहते हैं, यह घटना उस श्रेणी की नहीं है, यह मानना ही पड़ेगा।

फिर भी इस घटना को लेकर कितने काव्य, तस्वीर, गीत तथा पांचालि (कथा गीत) लिखे गये हैं, कितनी भीड़ हो गयी, सबको ही आनन्द मिला है। इसी में वेगवान् अभिज्ञाता से युक्त व्यक्ति पुरूष की प्रबल आत्मानुभूति। बन्द पानी जिस प्रकार है उमस का वातावरण जिस प्रकार आत्म परिचयहीन है, उसी प्रकार प्रात्याहिक अभ्यास की आवृत्ति चेतना मे आघात नहीं कर पाती, उससे हमारी सत्ता निस्तेज बनी रहती है। इसीलिए दु ख मे विद्रोह में विप्लव में मनुष्य अप्रकाश के अविश को समाप्त कर अपने को प्रबल आवेग से अनुभव करना चाहता है।[2]

दु ख की तीव्र उपलब्धि आनन्दकार है, क्योंकि वह निबिड अस्मिता-सूचक है, केवल अनिष्ट की आशंका आकर बाधा देती है। उस आशंका के न रहने पर दु·ख को मैं सुन्दर कहूँगा। दुःख हमें स्पष्ट बना देता है, अपने पास अपने को अस्पष्ट नहीं होने देता। गंभीर दु ख भूमा है, ट्रेजडी में वह भूमा है, वह 'भूमैव सुखम्' है।[3]

इस प्रकार रवीन्द्र नाथ के मत से काव्य-निबद्ध दु ख, जा व्यक्ति भावना से मुक्त होने के कारण अनिष्ट की आशंका से भी सर्वथा मुक्त होता है, आत्म-लाभ का प्रबल साधन होने से आनन्दकर होता है।

आनन्द का स्वरूप - किन्तु आनन्द के भी तो अनेक स्तर और रूप हैं रस के आनन्द का क्या स्वरूप है ?

भारत के सभी प्राचीन तथा अनेक आधुनिक आचार्य और उधर पश्चिम के भी अनेक मनीषी रस को एक प्रकार का आलौकिक आनन्द या अनुभव मानते है। प्राचीन आचार्यों की अलौकिकता की सिद्धि अत्यन्त आग्रहपूर्वक और प्रबल तर्कों के आधार पर की है।

लौकिक भाव और उनके विषय काव्य निबिद्ध हो जाने पर कारव कार्य सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं और उनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है। आलौकिक

1- पृ0 - 4, अग्नि पुरा0 337, 33.

विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक ही होता है अर्थात् स्मृति अनुमान, प्रत्यक्ष अनुभव आदि से भिन्न होता है वह न कार्य है न ज्ञाप्य है, न विकल्पक ज्ञान है और निर्विकल्पक ।

अनेक पाश्चात्य विद्वान भी प्रायः अपने ढंग से इसी तथ्य की आवृति करते है। 'वास्तविक संसार का (जिस अर्थ में कि हम इस वाक्याश का सामान्यत प्रयोग करते हैं) अंग होने या अनुकृति होना इस (काव्य) की प्रकृति नहीं है, यह तो एक (निराला ही) ससार है - अपने मे स्वतन्त्र पूर्ण और स्वायत्त।'

फलत किसी कलाकृति का रसास्वादन करने के लिए हमें जीवन से कुछ भी साथ लाने की आवश्यकता नहीं है, न उसकी धारणाओं और कार्य-क्लाप का ज्ञान आवश्यक है, न उसके मनोवेगों का परिचय ही। इस प्रकार सिद्धान्त के उत्साही प्रवर्तक काव्य की अनुभूति को वास्तव में लौकिक और अध्यात्मि दोनों ही अनुभूति भिन्न है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अलौकिक और विशिष्ट या विलक्षण विशेषणों का भावार्थ प्राय समान ही है। रस अथवा काव्यानुभूति जीवनगत अन्य अनुभूतियों से भिन्न है। वह भौतिक अनुभूति नहीं है, प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूति भी नहीं है, व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त है, वैयक्तिक राग-द्वेष से लिप्त प्रत्यक्ष-परोक्ष एन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूतियाँ होती है, या बौद्धिक अनुभूतियाँ। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने इसको अर्थवचनीय कहकर मुक्ति पायी, और पाश्चात्य विचारकों ने एक नवीन भावना 'सौन्दर्य भवना' की कल्पना कर डाली।

पाश्चात्य अध्यात्मवादी दार्शनिक प्रायः आत्मानुभूति को अवीन्द्रिय अनुभव मानते हैं। किन्तु वे भी इन्द्रियों के संसर्ग का निबेध नहीं करते। उनका मत यही है कि आत्मानुभव में ऐन्द्रिय संसर्ग अन्ततः छूट जाते हैं और शुद्ध निर्विकार स्थायी

आनन्द की स्थिति शेष रह जाती है।

उपर्युक्त व्याख्यायों के प्रकाश में यह तो सर्वथा स्पष्ट ही हो जाता है कि काव्यानन्द शुद्ध आत्मानन्द नहीं है, वस्तुत. ऐसा किसी ने एकदम माना भी नहीं है। दोनों में प्रकृति का भेद न मानते हुए भी गुण का भेद तो अवश्य ही माना गया है। आत्मानन्द जहाँ शुद्ध आत्म तत्व का भोग है वहाँ काव्यानन्द में भौतिक जीवन की भूमिका अवश्य बनी रहती है। साधारणीकृत भाव-भूमि का भी अभौतिक नहीं है उसमें व्यक्तिगत राग द्वेष से मुक्ति के फल स्वरूप भाव का परिष्कर है, अन्नयन है। परन्तु यह स्थिति भी अभौतिक या अतीन्द्रिय क्यों है ? इसका अनुभव भी तो मन ही करता है। इस विषय में डा0 नागेन्द्र का मानना है कि काव्य की रचना या अनुभूति की क्रिया आत्मा की क्रिया नहीं है। कम से कम उस अर्थ मे तो नहीं है, जिस अर्थ में कि योग-साधन या ब्रह्मा-चिन्तन आदि है। ऐसी स्थिति में काव्य-निबद्ध या काव्य-प्रेरित स्थायी भाव के आस्वाद को भी आध्यात्मिक आनन्द नहीं कहा जा सकता, प्रत्येक अनुभूति आत्मा की ही अनुभूति है और आनन्द के सभी प्रकार आत्मानन्द के ही रूप हैं, तो सारा भेद मिट जाता है, काव्यानन्द को अत्यन्त उदात और अवदात अनुभव मानने पर भी आत्मानन्द रूप नहीं माना जा सकता अब पहला विकल्प शेष रह जाता है। काव्य का आनन्द एन्द्रिय आनन्द है। काव्य का आनन्द एन्द्रिय आनन्द है। प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय या लौकिक अनुभव न होने पर भी, काव्य का आनन्द लौकिक जीवन की ही अनुभूति है। भक्ति और रहस्यवाद को छोडकर काव्य के समस्त विषय लौकिक ही होते हैं, उसके उपकरण भाव, कल्पना, बुद्धि आदि तत्व भी लौकिक ही है, उधर उसके अस्वाद के माध्यम चक्षु श्रोत तथा मन-बुद्धि भी लौकिक है, और आस्वादिता भी सवासन समाजिक ही होता है, भक्त या योगी नहीं। ऐसी स्थिति में काव्यानन्द लोक ब्रह्मा एवं अतीन्द्रिय अनुभूति नहीं है, यह निर्विवाद है। अर्थात् वह लौकिक - ऐन्द्रिय - मानसिक - अनुभूति ही है और जैसा कि हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, उसका आधार भाव है। भा0 दृष्टिकोण

1- पृ0 - 3, अग्नि पुराण, 339.

के अनुसार इस प्रकार की कल्पनाओं का मूल आधार विभिन्न संप्रदायों का आध्यात्मि या धार्मिक आध्यात्मि विचार अथवा रूप संबंधी दृष्टिकोण होता था। जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि यह 'कल्पना' है जैसे 'वाच्य' या दृश्य और फिर दृष्ट पूर्ण (व्यक्त) के रूप में समझे गये। अतः अनुभूति दूसरे शब्दों रसों पर जो तथ्य तथा कल्पना को सामने लाने सक्षम थे, इन्हें अधिकाधिक महत्व दिया जाने लगा और कलाकार के लिए वांछित 'रस' या अनुभूति को जगाने के लिए कला की शक्ति से ही उस कलाकृति को स्वीकार किया जाने लगा। 'रस' संभवतः अशरीरी गुण है, लेकिन फिर भी ये प्रतिबोधक, प्रयोगात्मक दूसरे शब्दों में ऐसे गुण हैं, जिन्हें अनुभव और महसूस किया जाता है।

आध्यात्मिक सौन्दर्य की अनुभूति चिंतन भट्टनायक को हुई। कलाकार भी योगी, संतो के समान शुद्ध, ठोस तथा आत्मनिष्ठ होता है। हिन्दी साहित्य के लेखक विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में लिखा है - रस का आस्वादन पारखी व्यक्ति ही कर सकता है। सत्य के उद्भव के कारण ही इसका अस्वादन किया जा सकता है। यह पूर्ण समझ परमानन्द और आत्मप्रकाश से समन्वित होती है। ब्रह्मा के आस्वादन का यह युग्माज भ्राता असाधारण प्रकार के 'अचमत्कार' द्वारा स्पंदित रहता है। इसका अस्वादन इस तरह किया जा सकता है मानो यह ही अविभाज्य अस्तित्व हो।[10]

भा0 दर्शन आध्यात्मिक परिपूर्ण है। ललित कलाओं की साधना यहाँ परमानंद की उपलब्धि के लिए की जाती है। इसीलिए कलाएँ मुख्यतः विशुद्ध आनंद की ही अनुभूति कराती है। ललित कला, शास्त्रों में कलाओं का सौंदर्य गुण सम्पन्न बनाने के लिए गहन चिंतन व मनन करके सौन्दर्य नियमों को प्रतिपादित किया गया है।

ईश्वर रस-स्वरूप है श्रुति ने उसको 'रसो वै सः' कहा है। अर्थात् रसों का आधार ईश्वर को मानना होगा तथा ईश्वर से ही समस्त रसों का विकास स्वीकार

1- डा0 नागेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ0 - 83.

करना होगा, यही वास्तविक दर्शन है, अध्यात्म की दृष्टि से 'रस' ईश्वर की अध्यात्म की अभिव्यक्ति है। आनन्द का उपभोग कब संभव होगा ? अहंभावजन्य व्यक्तित्व का विकास हो तब। ममत्व के विकास हो तब ममत्व के विकास के बिना किसी प्रकार के आनन्द की सम्भावना नहीं है। इसी कारण ईश्वर का जगदात्मा का आद्य विकार अर्थात् अहंकार कहा जाता है। इसी लिए भारतीय विचारधारा में कोई पहले अच्छी लगती है - सौन्दर्य बोध होता है, फिर तृप्ति होती है, उसके बाद आनन्द तत्पश्चात यही सौन्दर्यानुभूति अखण्ड आनन्द की सीमा में पहुँच जाती है यही 'रस' है, और फिर यही 'परमात्मा' है। इसी के कारण हम अपनी आध्यात्मिक सत्ता और विश्व की व्यवस्था में एक रूपता तारतम्य, एवं सत्यं, शिवं, सुन्दरं का साक्षात्कार करते है, जो 'रस' में कहा गया है कि ये 'ब्रह्मानन्द सहोदर' अध्यात्मिक दृष्टी से हम 'रस' की सहायता से 'ब्रह्मा स्वाद' को प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय 'रस सिद्धांत' आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है, गहन चिन्तन मनन से हम विशुद्ध आनन्द की अनुभूति करते हैं और यहाँ परमानंद की उपलब्धि होती है।

रस का साहित्य, कला तथा संगीत से सम्बन्ध

काव्य शास्त्र के पारंपरिक लेखक तथा अन्य कलाओं ने 'रस' से अपना मंतव्य 'आर्युवेद' की शब्दावली से ग्रहण किया। काव्यशास्त्र के लेखकों ने 'रस' शब्द का प्रयोग 'अर्क' के अर्थ में तथा 'अर्क' के स्वाद, गंध और रूचि के अर्थ मे भी किया। परन्तु उन्होंने मूल अर्थ को अभिधार्थत्मक विस्तार भी दिया और यह विस्तार अनुभूतियों से पैदा होने वाली मानवीय मन स्थिति या अनुभूति के लिए प्रयुक्त होने लगा। ऐसा शायद इसलिए हुआ कि अनुभूतियों को जीवन का तत्व या उपर्युक्त 'सार' समझा गया। भरत कला की लयात्मक वस्तु के रूप में 'रस' से पूर्व परिचित थे तथा 'प्राचीन' या पुराने विचारों से संबद्ध काव्यशास्त्रीय लेखकों को, जिन्होंने भरतमुनि का ही अनुसरण किया, यह 'रस' कलानुभव के उपादान के रूप में विदित था। ये लेखक इस प्रकार के आठ मौलिक या मुख्य रसों में परिचित थे। 'विष्णुधर्मोत्तरम्' में भी एक अध्याय के एक भाग में 'रस' की चर्चा और इनमें से नौ रसों का वर्णन या परिगणना की गई है। इन नौ रसों को ही मुख्य रसों (नवरस) की पारंपरिक संख्या के रूप में स्वीकार किया गया। परवर्ती विश्लेषण और वर्गीकरण से ये नौ मुख्य रस अनेक सहायक या गौण (स्थायी या सचारी) रसों में बंट गए। फिर भी हमारे उद्देश्य में यह परिगणना, वर्गीकरण और विश्लेषण, आवश्यक नहीं है। 'नवीन' संप्रदाय के 'रस' सिद्धांतवादियों का यह तर्क है कि यह पैठ उन लोगों के मस्तिषक में सहज ही हो जाती है जिनकी अनुभूतियां पहले से ही सुसस्कृत और अनुशासित हैं। कला जिस प्रमेय में अनुभूति की कलात्मक चरमोत्कर्ष का मुख्य या प्रधान निर्धारक तत्व रहती है, वह पाठक, दर्शक या श्रोता को अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र के बीच से लाकर अनुभूति को अनुशासित या सुसंस्कृत रखने में सहायता करती है। इस प्रकार मानवीय अनुभूतियों, आवेगों, संवेदनाओं, अनुभवों आदि को सुसंस्कृत करने और इसलिए मनुष्य के चरित्र को परिमार्जित करने में कला, कविता संगीत आदि को एक माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा और धीरे-धीरे उसे मान्यता मिली। कला की 'रस' संबंधी धारणा की स्वीकृति और लोकप्रियता की व्याख्या करती है। प्राण और रस युक्त जीवन की विशेषता जैसी अनुभूति से

1- विष्णु पुराण, पृष्ठ - 31.

प्रकट होती है, जब कोई कलाकार, पाठक या श्रोता या दर्शक उपर्युक्त आदर्श स्थिति तक पहुंच जाता है या पहुंचाया जाता है, तो अनुभव के रूप में उसकी अंतर्हिव अनुभूति जागृत होती है। पाठक उस अनुभव को इसी के समानांतर ऐसे अनुभव का 'उद्‌बोधन' पुर्नजागरण या पुर्नजीवित होना कह सकते हैं, जो अतीत में किसी समय अनुभूत हो। प्रथम स्तर पर कलाकार अपनी ही अनुभूति के अद्वितीय अनुभव की गहराई या गंभीरता के हद तक जाने के प्रयास मे सफल या विफल होता है, दूसरे स्तर पर ऐसी स्थिति के निर्माण के योग्य हो जाने पर सफल या विफल होता है। उसमें उसने मूलत अनुभूति का अनुभव किया है, 'रस' (सानुभव) के सौन्दर्यानद का अनुभव करने में सक्षम कर देती है। अत· 'अनुभव' को स्वयं भी रस कहा जाता है। कला का विषय अद्वितीय होता है, यह स्वयं वास्तविक वस्तु है, इसमें ऐसा जीवन है, जो उसे तैयार करने वाला है, सामान्यतः यह कहा जाता है कि कला का प्राण 'रस' है अथवा कला का लक्ष्य रसानुभूति कराना है। यहाँ 'रस' का अभिप्राय विशुद्ध रसानुभूति (आनंदाभूति) अथवा सौन्दर्यानुभूति के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए, विविध रसों की अनुभूति से नहीं क्योंकि हमारे यहाँ कलाओं की साधना आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विशुद्ध आनंद अथवा परमानन्द की प्राप्ति के लिए हुई है, न कि श्रृंगार, हास्य, रौद्र आदि रसों की उपलब्धि के लिए।

कला आनन्द के लिए है, कला का लक्ष्य है कि वह कलाकार दृष्टा - श्रोता का आनन्दानुभूति अथवा रसानुभूति कराए। यह आनन्द ही आत्मिक आनन्द होता है, जिसे ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है, इसीलिए कला का सौन्दर्यमयी होना आवश्यक है, लौकिक आनन्द में कला का एक प्रयोजन है मनोरंजन संगीत, काव्य, चित्रकला अथवा मूर्ति निर्माण के समय कलाकार मानसिक तनाव तथा थकान से मुक्ति पाता है दृष्टा व श्रोता भी इन कलाओं द्वारा अपनी थकान मिटाकर इन कलाओं द्वारा अपना 'रस' का आनन्द प्राप्त कर सके। कला के प्रमुख दो ध्येय सत्य तथा एकता है। इन्हीं के कारण भारतीय कलाएँ आदर्शवादी, चारित्रिक - विलक्षणता, रहस्यवाद, प्रतीकवाद तथा पारलौकिकता प्राप्त है।

1- रस सिद्धान्त, चिन्तन और विश्लेषण, आनन्द प्रसाद दीक्षित.

कालीदास ने कला के निम्न प्रयोजन बताए हैं -

1- कला देवों को प्रसन्न करती है।

2- कला मनुष्य के आचरण से सम्बन्धित है, और जीवन के सुख-दुःख को व्यक्त करती है।

3- कला अनेक रसों की अभिव्यक्ति करती है, जिसके कारण वह कलाकार को विविध प्रकार का पारलौकिक आनन्द प्रदान करती है।

4- कला व्यापक आनन्द प्रदान करती है। कला के अतिरिक्त और कुछ ऐसा नहीं है, जो युवा तथा वृद्ध, सुखी-दुखी, रोगी, पीड़ित, स्वस्थ, सबल सभी को समान रूप से आनन्द पहुंचा सके।

कला से जो आनन्द प्राप्त होता है वह आत्मिक आनन्द होता है।

साहित्य का इतिहास अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि साहित्य-शास्त्र में आचार्यों ने श्रृंगार को श्रेष्ठ तथा अधिक व्यापक स्वरूप स्वीकार किया है 'कुमार संभव' महाकवि कालिदास का प्रथम महाकाव्य माना जाता है, काव्य के नामकरण से यह ध्वनिता हो जाता है कि इसमें कुमार कार्तिकेय के जन्म की कथा का वर्णन किया गया है। काव्य का मुख्य कथानक शंकर-पार्वती के प्रेम स्थान तथा विवाह के माध्यम से विकसित हुआ है। काव्य के प्रारम्भ से ही कवि का मुख्य उद्देश्य शिव-पार्वती का संयोग करना है इसलिए सम्पूर्ण काव्य में श्रृंगार रस की धारा प्रवाहित हुई है। इसीलिए प्राप्त अंश कुमार सम्भव में प्रधान रस या आङगीरस को ही स्वीकार किया गया है।

कुमार सम्भव के नायक भगवान शंकर और नायिका पार्वती हैं। काव्य के श्रृंगार प्रधान होने के कारण कुमार सम्भव प्रेम प्रधान काव्य है। संस्कृत साहित्य के प्रेमाख्यान प्रधान काव्यों का अनुशीलन करने के बाद उनमें मुख्यतः चार प्रकार के प्रेम का स्वरूप समक्ष आता है।

3- रस मिमांसा, राम चन्द्र शुक्ल, चौखम्बा प्रकाशन.

प्रथम प्रकार के प्रेम की झांकी हमें राम-सीता के जीवन में लक्षित होती है। यह प्रेम विवाहोपरान्त स्वाभाविक रूप से प्रारम्भ होता है, तथा जीवन की विकट परिस्थितियों के आने पर और अधिकनिश्व हो उठता है।[2] दूसरे प्रकार का प्रेम गन्धर्व-विवाह प्रसंगो में देखा जाता है। नायक-नायिका का अकस्मात् मिलन होता है उनमें परस्पर अनुराग उत्पन्न होता फिर प्राप्ति के लिए व्याकुलता होती है, इस प्रकार प्रेम कथा विवाह तक चलती हे।

तीसरे प्रकार का प्रेम रत्नावली प्रियदर्शिका इत्यादि नाटकों में दृष्टिगोचर होता है, वस्तुत वह प्रेम नहीं वरन् वह राजाओं के अंत पुर मे भोग-विलास का चित्रण मात्र है।

और चौथे प्रकार का प्रेम वह है जो चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शनादि से उत्पन्न होता है, फिर प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न होता है तदन्तर विवाह चित्रण के साथ समाप्त हो जाता है।

'कुमार सम्भव' में भी वर्णित प्रेम चौथे प्रकार का है, इस काव्य के प्रथम सर्ग में विभाव रूप पार्वती के सौन्दर्य का चित्रण, श्रृगार रस की उत्कृष्ट पोषक है, क्योंकि कवि ने प्राय उन्हीं अंगो का वर्णन किया है, जो यौवन के आने पर विशेष आकर्षक हो उठते हैं। जैसे - मुख, स्मित, स्तन, कटि जड़्घा, गति इत्यादि।

काव्य में सौन्दर्य की भावना रसात्मकता के कारण उत्पन्न होती है। 'रस' आनन्द रूप होता है, और उसके अस्तित्व के कारण ही काव्य में सौंदर्य का उन्मूलन होता है तैतिरीय उपनिषद में कहा गया है -

रसो वै सः रस ह्योवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति

तैतरीय उपनिषद - 218

वह रस रूप है। रस को पाकर ही प्राणी आनन्दी होता है। वह आनन्द रूप ब्रह्मा जगत् के प्रत्येक पदार्थ में रम रहा है, तब कैसे माना जाय कि

---

1 - कालीदास के सौन्दर्य सिद्धान्त मेघदूत, शिवबालक राम आचार्य, प्रकाशन आरा (बिहार).

इन पदार्थो में रस उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। तथ्य है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है और इस योग्यता का प्राकट्य तभी होता है, जब वह काव्य में गृहीत होता है। इसीलिए साहित्य शास्त्र के आदि आचार्य भामह काव्य की गरिमा एवं उत्तरदायिता उद्घोष करते हैं कि न ऐसा कोई शब्द है, न वाच्य है, न शिल्प है, न क्रिया है, जो काव्य का अंग नहीं हो सकता इसीलिए इस कार्य के सम्पादन के निमित्त कवि के ऊपर महान भार है गम्भीर उत्तरदायित्व -

न स शब्दों न तद्वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया ।
जायते यन्न काव्याङगम अहोभारो महान् कवेः ।।

काव्यालंकार 5/3

बोध्यनिष्ठ स्थायीभाव अपने स्वभावानुसार सुख, दु ख एवं मोह की उत्पत्ति का कारण बनता है, परन्तु बौद्ध कनिष्ठ स्थायीभाव केवल सुख के कारण होते है।

बोध्य निष्ठा यथास्वं ते सुखदुःखादिहेतव ।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुख मात्रैकहेतव ।।

भक्ति रसायन ।3/5

इस पार्थक्य का मूल कारण होता है भावों की लौकिकता एवं अलौकिकता। संसार के भाव वैयक्ति होते हैं, काव्य के भाव साधारणीकृत होते हैं। व्यक्तिगत भाव अपनी प्रिय वस्तु में राग उत्पन्न करता है, शत्रु की वस्तु से द्वेष उत्पन्न करता है, और तटस्थ की वस्तु में उदासीनता को उपजाता है। काव्यगत भावों में अर्थात् काव्य रूप में वर्णित भाव वैयक्तिकता का उपसरण कर देता है, और उन्हें साधारण प्राणिमात्र के भाव के रूप में ग्रहण करता है। उपवन के बीच मलयानिल के झोके से झुमने वाला गुलाब का फूल कलाकार के लिए कोई विशिष्ट फूल नहीं होता, प्रत्युत वह आनन्द का एक सामान्य प्रतीक . होता है। रंगमंच

के ऊपर अभिनय करती हुई शकुन्तला किसी अतीत युग की विस्मृत प्राया ऐतिहासिक सुन्दरी नहीं होती, बल्कि एक हृदयावर्जक कमनीय नायिका की प्रतिनिधि बनकर ही दर्शकों के सामने प्रस्तुत होती है। यही प्रक्रिया (साधारणीकरण) कहलाता है। इसी के कारण काव्य निबद्ध पदार्थ तथा भाव में रस के उन्मूलन की अपूर्व क्षमता उत्पन्न हो जाती है। रस की अनुभूति के निमित्त ताटस्था, तटस्थता एवं अनासक्ति भाव की नीतान्त आवश्यकता हाती है। यह काव्य के समान इतर कलाओं का भी एकान्त सत्य है। अत साहित्य का यह परिनिष्ठित सत्य है - सौन्दर्य की अनुभूति सर्वत्र ताटस्थ्य पर आश्रित रहती है -

ताटस्थ्यं सौन्दर्यानुभतेः मौलिकतथ्यम् ।

काव्य में रस तथा आनन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में इस तथ्य को प्रकाशमान करते हुये कहा है -

सकल - प्रयोजन - मौलिकभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन
समुम्भूतं विगलित विद्यान्तरम् आनन्दम्

आनन्द जीवन के समस्त पुरूषार्थों का शीर्षस्थानीय होता है, जो रस के अस्वादन उत्पन्न होता है, और जो मन को इतना भर देता है कि व्यक्ति किसी दूसरी वस्तु की अवगति से सवर्था शून्य हो जाता है। रसास्वादन के समन्न्त ही आनन्द की समुन्नमीलन का यही स्वारस्य है। इसी प्रकार भगवान की लीला के प्रकाट्य के अवसर पर भी यही बात होती है, क्यों हम श्री कृष्ण जन्मष्टमी, राम नवमी, दुर्गा नवमी का आसक्त हो जाते हैं, क्योंकि उसमें एक रस की अभिव्यक्ति होती है वो है 'भक्ति रस', तभी उसमें आनन्द आता है, और उसके पीछे हमारे भाव छिपे होते हैं।

इसी प्रकार वेदान्त में मुक्ति का प्रबल का साधन 'काम' का सर्वथा उन्मूलन रसोन्मेष का नितान्त विरोधी है। रस की निष्पत्ति के लिए काम का उन्मूलन अभीष्ट नहीं है, बल्कि काम का विशोधन आवश्यक है। सकाम भावना वासना का विषम

1- प्रमाणिक हिन्दी कोष, संपादक राम वचन्द्र वर्मा, कालीदास के ग्रन्थों में कायत्री वर्मा.

विषदन्त है। इस विषदन्त को बिना उखाड़े वासना का शोधन नहीं हो सकता। रस की निष्पत्ति के हेतु सकाम भाव को निष्काम भाव में परिवर्तित होता ही होगा। वेदान्त में लक्ष्य प्राप्ति के निम्त्ति वासना का क्षय मुख्य साधन है, आलोचना शास्त्र में वासना की विशुद्धि प्रधान साधन है। फलत रसानन्द को सौन्दर्यी शास्त्री ब्रह्मानन्द से तुलना स्वीकार नहीं करते। संस्कृत का कवि भी इस तथ्य को मानता है। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषध चरित' महाकाव्य मे दमयन्ती की रूप माधुरी के वर्णन प्रसंग में सुन्दर उक्ति कही गई है -

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत् प्रमोदं रोमाग्र एवाग्र निरीक्षेताऽस्या
यथौचिती तथं तदशेषद्रष्टावश स्मराद्वैतमुदं तथाऽसौ ।।

नैषध चरित 6 सर्ग पद्य 3

श्लोक का अर्थ है - राजा नलने रमयन्ती के रोम के अग्र भाग को ही प्रथमतः देखकर ब्रह्माद्वैत के आनन्द का अनुभव किया। अत· यह उचित ही था कि दमयन्ती के समग्र शरीर के अवलोकन से वह कामाद्वैत के आनन्द का अनुभव करता। फलत· श्री हर्ष की दृष्टि में रसानन्द ब्रह्मानन्द की अपेक्षा बडी ही उत्कृष्ट कोटि की वस्तु ठहरती है।

पण्डित जगन्नाथ ने अपने रस गंगाधार में रसानुभव को समाधि से विलक्षण माना है।

इयं च परमब्रह्मास्वादात् साधेर्विलक्षण -
विभावादि विषय - संवालेत - चिदानन्दालम्बनत्वात्

(रस गंगाधर पृष्ठ 23)

मुख्य रस के विषय में देखा जाय तो संस्कृत के ममज्ञों में एकमत नहीं है। अभिनव गुप्त शान्तरस को भवभूति करूण रस को तथा भोजराज श्रृंगार रस को मुख्य अथवा मूल रस अंगीकार करते हैं। श्रृंगार की ओर ही आलोचकों का अधिक

1- संस्कृत साहित्य का सौन्दर्य कल्पना, पृ0 - 75, पत्रिका संस्कृति दर्शन, उत्तर मध्य सांस्कृतिक केन्द्र, बलदेव उपाध्याय.

झुकाव है, इसी लिए समान्यतः 'रस राज' के नाम से अभिहित किया गया है।

इसी रसराज से सम्बद्ध दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, जिसमे प्रथम उदाहरण लौकिक से तथा दूसरा उदाहरण अध्यात्मिक श्रृंगार से सम्पर्क रखता है। दोनों का उदाहरण भानुदत्त महाकवि के 'रस मंञ्जरी' से यहाँ उद्धृत है -

नयी विवाहिता सुन्दरी के कोमल भावों तथा व्यापारों को नैसर्गिक सुषमा का अवलोकन करे -

गलागत कुतूहलं नयनयोरपांगावधि

स्मितं कुलतनुभुवामधर एव श्रिाम्यति।

वच. प्रियतम श्रुतेरतिथि रेव कीप्रक्रम

कदाचिदपि चेत् तदा मनसि केवलं मञ्जतिं।

पतिव्रता नवोढ़ा के नेत्रों को जाना और माना नेत्रों के कानों तक सीमित रहता है। वे उनके आगे कभी नहीं जाते। उसकी मुस्कुराहट होठों पर विश्राम करती है। वह होठों को छोड़कर आगे बढ़ना नहीं जानती। उसके वचन प्रियतम् के श्रवण का अतिथि होता है क्रोध तो कभी होता ही नहीं होत यदि कभी होता है वह सुन्दरी के मन में डूब जाता है।

शंकर ने नवोढ़ा पार्वती को कैलाश के अपने आश्रम में लाकर रखा है, वे चहलकदमी के लिये कभी बाहर निकलते हैं। वे कालीदास के शब्दों में वाग् तथा अर्थ के समान सम्पृक्त है - अर्धनारीश्वर शंकर के मधुयमिनी (हनीमून) का अभियान वर्णन अपनी नवीनता, अपूर्वता तथा रसस्निग्धता के लिए एकदम बेजोड़ है - अनुपम है, अतुलनीय है -

आत्मीयं चरण दधाति पुरतो निम्नोनतायां भुवि

स्वीयेनैव करेण कर्षति नरो· पुष्पं श्रमाशंक्या ।

तल्पै चापि मृग त्वचा, विराचेते निद्राति भागैनिजैः

अन्त प्रेमभरालसां निजवधूमङगे दधानो हरः ।।

---

1 - रस गंगाधर, पृ0 - 23.

अर्धनारीश्व शंकर के वाम अंग में विराजमान पार्वती हृदय के प्रेम के भार से स्नेह के बोझ से दबी मंद-मंद पैर रखकर आगे बढ़ती है। शंकर का सतत् प्रयत्न हो रहा है कि उनके वामांग में विराजने वाली पार्वती को किसी प्रकार का रचक भी श्रम उठाना न पड़े। इसी मधुर भावना से प्रेरित शंकर के कार्य-कलापों का निरीक्षण करें। ऊँची-नीची जमीन पर शंकर अपना चरण (दाहिना पैर) आगे रखते है। वांम हांथ को परिश्रम करने से थकावट आ जाने की आशंका से वे अपने हाथ (दाहिने हाथ) से पेड से फूल खींच लेते हैं। इतना तो प्रेम प्रदर्शन अनुसन्धान-योग्य है, परन्तु इसके आगे उनका कार्यकलाप परिवांचा शब्दों के द्वारा वर्णनीय है। शंकर मृगछाला से बने सेज पर अपने ही मार्ग से सोते हैं, वे दाहिने करवट सोते हैं, सदा सर्वदा। बायें करवट का कभी उपयोग ही नहीं करते। धन्य है ऐसे दिव्य प्रेमी। भला ऐसे दिव्य प्रेम की कहीं तुलना मिल सकती है। ये लेखक और पाठक दोनों के हृदय में प्रेम के दिव्य सौन्दर्य का प्रकाश करता है, जिस प्रकार काव्य साहित्य में लेखक की सुन्दर रचना को हम पढ़कर आनन्दित होते हैं, इसमें साहित्यकार और पाठक दोनों को 'रस' की अभिव्यक्ति होती है, जिस कालिदास के काव्यशास्त्र 'कुमार संभव' से शिव पार्वती की लीला का एक-एक चरितार्थ बड़ी खूबसूरती से अपने काव्य शास्त्र में वर्णन किया है, इसमें 'श्रृंगार रस' की अधिकता के साथ ही अन्य सभी 'रसों' की अभिव्यक्ति होती है, जिस प्रकार पार्वती जी के तप का वर्णन किया गया वहाँ हमें 'भक्ति रस' की प्राप्ति होता है, और जब शिव जी भेष बदलकर पार्वती जी के सामने, उन्हीं के शिव को बुरा-भला कहते हैं तो पार्वती जी के क्रोध रूप का दर्शन होता है, और तभी जब शिव जी अपने साक्षात् रूप में आते हैं, 'अदभूत रस' और फिर प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हास्य में परिवर्तित होकर फिर शिव पार्वती जी का मिलन का क्षरण 'श्रृंगार रस' की अभिव्यक्ति करता है, इसका चित्रण इतना सुन्दर तरीके से कालीदास जी ने व्यक्त किया है कि इसे आज भी पाठक, नाटककार अपने नाटक में या एक शिल्पकार अपने शिल्प में या चित्रकार अपने चित्र में व्यक्त करता है तो उसी 'रस' की अभिव्यक्ति होती है, और स्वयं उस कलाकार की भी उसी 'रस' की अभिव्यक्ति होती है।

इसी प्रकार श्री कंठ ने अपने ग्रन्थ 'रस-कौमुदी' में कहा है शुद्ध-बुद्ध स्वभाव 'रस' नाट्य, काव्य, और गीत तीनों में निवास करता है। भगवान् भरत ने अपने रस संबंधी सूत्र विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रासनिष्पति ' में 'नाट्य' के अन्तर्गत रस-परिणाक की प्रक्रिया बताई गई है।[1] 'काव्य' एवं 'गीत' के अन्तर्गत रस परिपाक की क्रिया बताना तो उनका लक्ष्य है, और न इसका अवसर है उनके पास, भरत ने ऐसा कही नहीं कहा कि रस-परिपाक केवल 'नाट्य' में होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी सहभोज में परोसी जाने वाली मिठाइयों का या उनके स्वाद का वर्णन कर रहा है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि हलवाई की दूकान पर मिठाइयाँ नहीं होती या उनमें स्वाद नहीं होता। यदि 'नाट्य' में ही 'रस-परिपाक' की बात पर हठ पकड लिया जाय तो 'मेच्चदुत' जैसा रस निर्झर खंड काव्य तो नीरस कहलाएगा, परंतु काव्य शास्त्र के क्षेत्र में प्रतिपादित किया है कि वक्ता, श्रोता, परिस्थिति इत्यादि का ज्ञान मुक्तक काव्य तक मे सहृदय पाठक का रसास्वाद करता है। जैसाकि यह स्पष्ट किया जा चुका है 'गान कला, वादन कला, काव्य कला, नाट्य कला, सहृदय श्रोताओं, दर्शकों अथवा पाठकों के हृदय में अभिव्यक्त होने वाला वह आनन्द 'रस' है।

रस एक ही है, परन्तु प्रसग भेद से उसके नाम श्रृंगार, ह्रास, करूण, अदभुत, क्रोध आदि नाम हो जाते हैं।

कालीदास ने कहा है कि रम्य दृश्यों को देखकर अथवा मधुर शब्दों को सुनकर वह व्यक्ति खोया-खोया सा हो जाता है, जो लौकिक द्रृष्टि से सुखी है। ऐसी स्थिति वह पूर्व जन्मों के सम्बन्धों का स्मरण करता है। जिनका बोध उसे इस जन्म में तो नहीं हुआ है, परन्तु जो उसके च्त्ति में भावरूप से स्थित है। अत: यह स्पष्ट है कि कलाकार का कर्तव्य सहृदयों को लौकिक सीमाओं से परे एक अनादि अनंत भावलोक में ले जाना है, जिसमें पहुंचकर वे लौकिक बन्धनों या चिंताओं से मुक्ति पा सके कुछ छड़ों के लिए।

1- नाट्य गीते च काये त्रिषु वसति रसः शुद्ध बुद्ध स्वभावः । रस कौमुदी, अध्याय - 7, गायकवाड़ सीरिज.

इसी प्रकार कबीर और रैदास जी के काव्य में आश्चर्यजनक रस-भाव का साम्य दिखाता है वे प्रभु के प्रति किस प्रकार रस मग्न होकर समर्पित है, अपने कविता के 'प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी' जिसे आज भी को श्रोता यदि सुनता है, को गायक कलाकार यदि गाता है, तो पर असीम 'रस' की वर्षा होती है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य कार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इसी चेतना के प्रतीक पुरूष थे, 'भारतेन्दु' द्वारा लिखित 'अंधेर नगरी' नामक नाटक आज भी गहरे व्यंग्य के चलते सन्दर्भ युक्त है, इसी माध्यम से उन्होंने नयी साहित्यिक धाराओं का परिचय सामान्य पाठकों को दिया। जयशंकर प्रसाद, श्याम सुन्दर दास, गुलेरी जी, सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, मुंशी प्रेमचन्द्र जी सभी ने अपने कृतियों से पाठक के मन में एक कलाकार की अभिव्यक्ति को अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास किया।

नाद के द्वारा मानव मन मे अर्तर्निहित भावों को उद्दीप्त कर रस परिपाक तक पहुँचाने वाली दो ललित कलाएं है - साहित्य एवं संगीत । ये दोनो कलाए इस निष्पत्ति हेतु अन्योन्याश्रित हैं। इन दोनों ही कलाओं में लय का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

साहित्य के क्षेत्र में गद्य-रचनाएं भी सरस हो सकती हैं, तथापि भावनुकूल गति का अनुसरण करने वाला छद के चुनाव के साथ-साथ तदनुसार राग स्वर-संयोजना से संवारकर यदि कोई गेय रचना मधुर कंठ द्वारा प्रस्तुत किया जाए तो, निस्संदेह रसानुभूति कराई जा सकती है। किन्तु इनमें से किसी एक तत्व के अभाव में या उसके अनुचित प्रयोग से रस-निष्पत्ति में व्यवधान उपस्थित हो जायगा। उदाहरण के लिए यदि करूणा रस प्रधान किसी काव्य रचना हेतु चंचल गति वाले छंद का चुनाव कवि द्वारा किया जाए, तो वह श्रोता या पाठक के हृदयगत करूणा के भाव को जागृत करने में असमर्थ होगा। इसके विपरीत कवि की कल्पना और कौशल के द्वारा भावानुकूल छंद का चयन किया गया है, तो वह रचना सर्वदेश व सर्वकालिक

1- संगीत पत्रिका, अगस्त 1978, आचार्य वृहस्पति लेख.

बन जाती है। महान् कवियों की अमर कृतियों में यह सामजस्य सदैव देखने को मिलता है। महाकवि कालिदास कृत 'मेघदूत' नामक गीतिकाव्य यदि वियोग श्रृंगार के अनुकूल प्रकृति वाले मंदाक्रांता छद में निषिद्ध न होता तो न कवि कालिदास कुल गुरू कहलाते न ही उनकी कृति लोकप्रियता की चरम् सीमा पार कर पाती जहाँ पहुँच कर यह अमर कृति साबित हो गई। अत· साहित्य में रस का इतना महत्वपूर्ण स्थान है, जितना संगीत में, अन्तर इतना है कि साहित्य में इसका स्वरूप छंद के माध्यम से प्रकट होता है, संगीत में लय के माध्यम से इसके स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है।

अत हम ये कह सकते हैं कि एक कलाकार की अपनी साहित्य की जो कृतियां होती हैं, वह 'रस' से पूर्णित होती है, और वे अपने साहित्य इस रसमय कविता या नाटक जैसे माध्यम से श्रोता या पाठ पूरी तरह से रस अभिव्यक्ति करता है। संगीत में स्वरों के माध्यम से होती है यहां पर हमें प्रेम लता जी ने द्वारा द्वारा रसानुभूति के विषय में चिंतन प्रस्तुत करते हुये कहा है कि रस शब्द के व्यापक अर्थ को स्वीकार कर ले तब भी शास्त्रीय दृष्टि से संगीत में रसानुभूति के बदले रस की भी आत्मारूप।

ये रसा स्थागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन

काव्य प्रकाश 8 ।

जैसा कि विद्वानों का मानना है कि 'रस' सदैव आनन्द रूप है ।
उदाहरण के लिए एक पद -

मृगनैनी मोहति भृगनि रागति लैकर बीन।
सम्पूरन दुपहर सिसिर टोडी कनक रंगीन।
चौसर चमेली चारू हास नीलकंचुकी की।
उजरे विचित्र बास हास रस रौस की।।
मोहतिं मृगनि मृगनैनी परबीन बाल।
लीन कर बीन तान बोले हिय हौस की।।

1- संगीत मासिक मार्च 1990, लेख शशि भरद्वाज, पृ0 - 11.

सम्पूरन भोग सुख सरिगमप्योधनी के देव।
देखि द्रुति अनूप दामनी ज्यों बहु जौर की।।
सिसिर पहर दूजे आनंद अनूप रूप।
यौवन उज्जयारी प्यारी तोडी मालकौस की।।

रस में तनमय श्रोता कलाकार एकाकार होकर एक ऐसी अलौकिक अवस्था में पहुँच जाते हैं, रस से आनन्दित होकर एक कलाकार एक ऐसी दिव्य शक्ति या अवस्था में पहुँच जाते हैं, जहाँ उनका अस्तित्व बोध समाप्त हो जाता है। रसात्मक अनुभूति कलाकार की सहृदयता पर पर्याप्त निर्भर करती है। इस प्रकार प्रत्येक कला, साहित्य, संगीत, श्रोता, पाठक और देखने वालों को अपने विशेष गुण के कारण रस की अनुभूति करता है, और रस को विभिन्न कला जैसे, संगीत कला, चित्रकला, नाट्य कला, काव्य कला आदि से भी रस का महत्व हो तो, संगीत में रस का बहुत महत्व है। वास्तव में यदि देखा जाये तो रस संगीत का प्राण है। बिना रस के संगीत बिना प्राण के जीव के समान है, इसलिए कहा गया है कि -

रसते इति रस ।

इस प्रकार संगीत कला भी एक साहित्य है, क्योंकि यह माना गया है कि शब्दावलियों से रचित, स्वर पर आधारित है। अत· यह रस है और अलंकार संगीत का मूलभूत आधार 'नाद' है।

1- काशी साहित्य परम्परा, लेख ठाकुर प्रसाद मिश्र पत्रिका, संस्कृत दर्शन, पृ0-24.

सप्त स्वरों से रस की उत्पत्ति

रस निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव, एवं संचारी भाव का संयोग होना चाहिए भरत ने जो सूत्र दिया उसे "रस सूत्र" के नाम से विख्यात है, और यह 'रस सूत्र' रस के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है।

भरत् के अनुसार - 'विभावनुभावव्यभिचारिसंयोगाद रस निष्पपतिः'।

अर्थात् विभाव, अनुभाव, तथा व्याभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। और ये सारे भाव संगीत के माध्यम से सम्भव हैं। उदाहरण के लिए बिहारी जी का एक दोहा -

> तंत्री-नाद, कवित-रस, सरस राग, रति रंग।
> अनबूरे बूरे, तरे जे बूरे सब अंग।।

अर्थात् - 'तंत्री की ध्वनि, कवित्व-रस, सरस राग और रति रंग में जो नहीं निमग्न हुए, वे डूब मरे, जो सर्वांग मग्न हुए, वे ही पार उतर गये।'

इस दोहे में 'तंबी नाद' की चर्चा सबसे पहले की है क्योंकि तंत्री नाद का क्षेत्र भाष में प्रयोज्य शब्द की अपेक्षा कहीं व्यापक है, इसीलिए सबसे पहले बिहारी जी ने 'तंत्री नाद' के ऊपर मुकुट रखा, यदि इसको सुयोग्य पूर्ण ढंग से कहे तो तानपूरे की ध्वनि के मन को एकाग्र कर देने के लिए पर्याप्त है। आचार्य वृहस्पति के अनुसार आकाश तत्व एक अमूर्त सागर की भाँति है, नाद उसका गुण है। अतः नाद को भी 'समुद्र' कहा गया है, यद्यपि नाद तरंग रूप है, परन्तु वह उस समुद्र से अभिन्न है। आनंद वर्द्धन जैसे आचार्य ने अनेक बार वीणा की ध्वनि को स्वतंत्र रूप से रस व्यंजन करने में समर्थ माना है।[1] सरस्वती जी वीणा वादिनी हैं, शिव जी डमरू वादक हैं, कृष्ण जी वंशी वादक हैं तो क्या यह निष्प्रयोजन है अपने-अपने वाद्य का वादन करते हैं, यह तो संभव नहीं। वीणा वादन का प्रयोजन, डमरू और वंशी वादन का प्रयोजन आनन्द प्राप्त करना और कराना दोनो ही है। सरस्वती जी के

वीणा वादन स्वयं देवता भी आनन्दित हो उठते थे, शिवजी के डमरू वादन से सभी आनन्दित के साथ-साथ शिव जी का क्रोध रूप भी प्रकट करते थे और धरती आकाश सभी कंपित हो उठते थे मनुष्य को स्वयं में सर्वागमग्न कर लेने वाला वह अलौकिक आनन्द 'रस' ही तो है, जो मुरली मनोहर की मुरली सुनकर सभी नर नारी के साथ-साथ पेड-पौधे, पशु-पक्षी उनकी रस मे डूबकर आनन्दित हो उठते थे।

भगवान भरत् ने तो कहा है कि वाद्य-ध्वनि स्त्रियों, बच्चों और मूर्खों तक को कुतुहलयुक्त कर देती है।[2]

समस्त सांगीतिक स्वर-विलास की जननी 'षाडजी' जावि के ध्यान में कहा गया है कि वीणा-ध्वनि से प्रभावित काम रिपु भगवान शंकर तक में समस्त जननी षड़जी जाति का दृढ़ आलिंगन कर लिया।[3]

श्री कंठ ने अपने ग्रन्थ 'रस कौमुदी' में सप्ष्ट कहा है कि शुद्ध-बुद्ध स्वभाव 'रस' नाट्य काव्य और गीत, तीनों में ही निवास करता है।[4]

'श्यामो भवेतु श्रृगार सितो हास्य प्रकल्पित ।
कपोत. करूण श्रेव रक्तो रौद्र प्रकीर्तित ।।
गौरो वीरस्तु विज्ञेय कृष्णश्रपि भयानक ।
नीलवर्णस्तु बीभस्त पीतश्रेवाद्भुतः स्मृत ।।
श्रृंगारो विष्णु दैवत्यो हास्य· प्रममदैवत ।
रौद्रो रूद्राधिदेवश्र करूणा यमदेवताः ।।
मिभस्य महाकाल काल देवो भयानकः ।
वीरों महेन्द्रदेवः स्यादद्भूतो ब्रह्मादैवतः ।।

1- रस कौमुदी अध्याय श्लोक - 6, गायकवाड सिरीज.

2- संगीत पत्रिका, अगस्त 1978, आचार्य वृहस्पति.

अर्थात -

	रस	रंग	देवता
1-	श्रृंगार	श्याम	विष्णु
2-	हास्य	सित	प्रमथ
3-	रौद्र	रक्त	रूद्र
4-	करूण	कपोत	यम
5-	वीर	गौर	महेन्द्र
6-	अद्भुत	पीत	ब्रह्मदेव
7-	वीभत्स	नील	महाकाल
8-	भयानक	कृष्ण	काल

उपर्युक्त श्रृंगारादि रसों की निष्पत्ति किस प्रकार संभव होगी यह देख लें। महर्षि भरत मुनि इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि 'विभावानुभव्यभिचारिसंयोगद्रसनिष्पत्ति अथवा विभाव', 'अनुभाव' और व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस निष्पत्ति सम्भव है। भरत के अनुसार जातियाँ अपने विशिष्ट अंश स्वरों के कारण रसात्मिकता को पोषक होती है। भरत के अनुसार जिस जाति का अंश स्वर जिस स्वर का पोषक हो, उस रस के परिपोष के लिए नाट्य में उसी जाति का गान किया जाना चाहिए-

यो यदा बलवान् यस्मिन् स्वरों जाति समश्रयात् ।
तत्प्रयुक्ते रसे गानं कार्य गेये प्रयोक्त मिः ।। 29/92 ।।

संगीत में रस-निष्पत्ति प्रक्रिया किस प्रकार संभव व सम्पन्न होती है ये भरत के 'नाट्य शास्त्र ग्रन्थ' में उपलब्ध हैं। स्वरों से रसों की उत्पत्ति कोई नवीनतम् युग की चेन नहीं वरन् यह प्राचीन युग से चला आ रहा है। यद्यपि भरत् मुनि

1- श्रीमद्भागवत - दशम् संकल्प, इक्कीसवीं अध्याय.

का 'नाट्यशास्त्र' नाटक के रूप में माना गया है, इसमें नाटक के ही अधिकाधिक महत्व हैं, परन्तु संगीत को नाटक की शैली के अन्तर्गत रखा गया है, इसलिए संगीत सम्बन्धी जानकारी हमें इस ग्रन्थ में मिलती है। 'नाट्य शास्त्र' के 28वें तथा 39वें अध्याय में संगीत सम्बन्धी विषयों के साथ-साथ रसों का विवेचन भी किया गया है। भरत् ने स्वर निर्देश इस प्रकार दिये हैं -

सरी वीरेऽद्रभुते रौद्रे धा, वीभत्से भयानके ।
कार्यौ गनी तु करूणाहास्य श्रृंगारयोर्मयो ।।

अर्थात् सा, रे-वीर रोद्र तथा अद्भुत रसों के, ध-वीभत्स तथा भयानक रसों का ग, नि-करूण रस के तथा म, प - हास्य तथा श्रृंगार रसों के पोषक हैं। भरत् ने जाति गान तथा वाद्य वादन के अन्तर्गत सप्त स्वरों में कुछ स्वर विशिष्ट रस के अनुकूल बताये हैं -

मध्यम तथा पंचम स्वर का प्राबल्य हास्य तथा श्रृंगार का उत्पादक होता है, षड्ज तथा ऋषभ वीर रौद्र तथा अद्भुत रस के पोषक हैं गन्धार तथा निषाद करूण रस का परिपोष करते हैं तथा धैवत का बहुल प्रयोग वीभत्स तथा भयानक रस का प्रेरक सिद्ध होता है।

डा0 शरद चन्द्र पराजये ने कहा है कि इस उपर्युक्त विधान से स्पष्ट है कि सप्त स्वरों में से एक ही स्वर भिन्न-भिन्न रसों का पोषक माना गया है, तथा कुछ विशिष्ट स्वर युग्म विशिष्ट रस के परिपोषक माने यगे हैं।

1- श्लोक 13-14.

2- संगीत रत्नाकर प्रबन्ध्याय श्लोक.

उदाहरणार्थ, यद्यपि षड्ज अंश स्वर व्यक्तिगत रूप से श्रृंगार तथा हास्य का कारण सिद्ध होता है तथापि आर्षभी एवं षाडजी जाति में वीर, अद्भुत तथा रौद्र रस को पुष्ट करता है। इन अंशपिष्ट रसों का निर्माण नियमानुकूल गायन अथवा वादन करने से सम्भव हो सकता ऐसा भरत का कथन है। विभिन्न स्वरों में उद्भूत होने वाले रसों का अनुभव श्रोताओं को तभी हो सकता है, जब संगीत निर्देशक नाट्य के रस, कार्य, अवस्था आदि को दृष्टिगत कर तद्नुकूल रसोत्पत्ति के लिए नियमपूर्वक गान एवं वादन की योजना करे। षड्ज ग्राम तथा मध्यम ग्राम की विभिन्न जातियों की अंशाधृत रस-कल्पना निम्न रूप से प्रस्तुत की गई है -

षड़जोदीच्यवती चैव षड़जमध्यमा तथैव च ।
षडज मध्यमबाहुल्यात् कार्य श्रृंगारहास्ययोः ।।
आर्षभी चेव षाडजी च षड्जर्ष भग्रहस्वरान् ।
वीरद्भुते च रौद्रे च निषादांगपरिग्रहात् ।।
गान्धार्यशोपपत्या च करूणे षड्जकौशिकी ।
धैवती धैवतांशा च वीभत्से सभयान के ।।
श्रवा विधाने कर्तव्या जतिगाने प्रयत्नतः ।
रसं कार्यमवस्था च ज्ञात्वा योज्या प्रयोकृभिः[1] ।।

मध्यम ग्राम विषयक जातियों के रस का भरतोक्त विवेचन निम्नानुसार है -

गान्धारी-रक्त ग्रान्धा-घासं रोपपत्तितः ।
करूणे तु रसे कार्या जाति गाने प्रयोकृभिः ।।
मध्यमा पंचमी चैव नन्दयन्ती तथैव च ।
मध्यपंचमबाहुल्यात् कार्य श्रृंगारहास्ययो ।।
मध्यमोदीच्यवा चैव गान्धारोदीच्यवा तथा ।
षडजर्षभांशनिष्पत्या कर्तव्या वीररोद्रयो ।।
कर्मारवी तथा चान्ध्री निषादाशोपपत्तितः ।
अद्भुते तु रसे कार्य जाति गाने प्रयोकृभिः ।।

कौशिकी धैवतांशा स्यात् तथा गान्धार पंचमी ।
प्रयोक्तव्या बुधै सम्यक् वीभत्से सभयानके[2] ।।

इन समस्त जातियों में षड़जमध्या जाति का रस की दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। षड़ज तथा मध्यम के बाहुल्य से वह श्रृंगार तथा हास्य की निष्पादिका होती ही है, परन्तु प्रयोगविधि के अन्तर्गत सभी स्वर पर्याय से अंशभूत होने के कारण सभी रसों की पोषिका मानी गई है।

स्वर तथा जाति एवं रसों का भरतोक्त सम्बन्ध निम्न तालिका से स्पष्ट है -

	जाति	रस	स्वर योजना
1-	षड्जोदीच्यवती	श्रृंगार-हास्य	षड़ज तथा मध्यम बहुल्य (का) मध्यम तथा पचम-बाहुल्य (का०म०)
2-	षड़जमध्या	" "	" "
3-	आर्षभी	वीर, अद्भुत, रौद्र	षड़ज तथा ऋषभ ग्रह
4-	षाडजी	" "	" "
5-	षडजकौशकी	करूण	गन्धार तथा निषाद अंश (का०भा०)
6-	धैवती	वीभत्स-भयानक करूण का०मा०	धैवत अंश
7-	गन्धारी	करूण	गान्धार निषाद अंश (का०भा०) गान्धार अंश (का)

1- डा० शरदचन्द्र श्रीधर परांजपे, पृ० - 244, भारतीय संगीत का इतिहास.

	जाति	रस	स्वर योजना
8-	रक्त गन्धारी	करूण	गान्धार अंश (का0)
9-	मध्यमा	श्रृंगार-हास्य	मध्यम पंचम बाहुल्य
10-	पंचमी	श्रृंगार-हास्य	मध्यम पंचम बाहुल्य
11-	नन्दयन्ती	श्रृंगार-हास्य	मध्यम पंचम बाहुल्य
12-	मध्यमोदीच्यवा	वीर, रौद्र श्रृंगार हास्य (का0मा0)	षड़ज तथा ऋणभ अंश मध्यम तथा पंचम बाहुल्य (का0मा0)
13-	गान्धारोदीच्यवा	वीर, रोद्र, वीर रौद्र तथा अद्भूत (का0मा0)	षडज तथा ऋषभ अंश षडज तथा ऋषभ (का0मा0)
16-	कौशिकी	वीभत्स भयानक	धैवत अंश
17-	गान्धारपंचमी	वीभत्स, भयानक श्रृंगार हास्य (का0मा0)	धैवत अंश मध्यम, पंचम, बाहुल्य (का0मा0)
18-	नैषादी	करूण (का0मा0)	निषाद अंश (का0मा0)

भरतकालीन धारणा आज तक अबाध रूप से चली आ रही है, सभी ने संगीत का प्रयोजन रस परिपाक बताया तथा जातियों अथवा रागों में उससे सम्बद्ध रसों की चर्चा की है।

वर्तमान समय में संगीत का अटूट सम्बन्ध भावों तथा रसों से माना जाता है। संगीत का प्रयोजन श्रोताओं को आनन्द देना हे, और इस आनन्द की चरमावस्था ही रसास्वादन है। यही आनन्द गायन वादन तथा नृत्य की आत्मा है। पं0 भाकखण्डे जी ने प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत में रसों का समावेश स्वरों के आधार पर किया है। रागों के तीनों वर्गों में रसों की स्थिति इस प्रकार बतायी गयी है -

(1) कोमल रे ध युक्त संधि प्रकाश राग - इन रागों में शान्त तथा करूण रस की प्रधानता होती है। जैसे भैरव, मारवा, जोगिया आदि।

1- श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन, पृ0 - 74.

(2) शुद्ध रेध युक्त राग- इन रागों में श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। जैसे- विलावल, गोड़सारंग, देशकार आदि।

(3) कोमल ग नि युक्त राग- ये राग वीर रस प्रधान होते है - आसावरी मालकौस, बागेश्री आदि।.

भातखण्डे जी का यह रस विषयक विद्वानों में सर्वसम्मत नहीं है। अनेक विद्वान संगीत में रस पर विभिन्न विचार रखते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मालकौस दरबारी, जयजयवन्ती आदि शांत तथा श्रृंगार रस के श्रोत है, तो शंकरा हिण्डोल वीर रस प्रधान है। छायानट, बागेश्री बिहाग आदि श्रृंगार रस प्रधान है। भैरवी का मूल भाव करूणा और पूरिया का रस उदासीन भावों का अभिव्यक्ति करना है। श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन ने माना है संगीत द्वारा भावों व रसों की सृष्टि होती है। रागों के तथा स्वरों के तीव्र कोमल होने के अतिरिक्त संगीत की एक और विधा ताल तथा लय भी रसों से सम्बन्धित माने गये हैं -

तथा लया हास्य श्रृंगारयोर्मध्यमाः ।
वीभत्सभयानकयोर्विलंवितः ।।
वीररौद्रोद्‌भूतेषु चद्रुतं ।

अर्थात मध्यलय - हास्य तथा श्रृंगार रसों की
विलम्बिल - वीभत्स, भयानक रसों की
द्रुत - वीर, रौद्र व अद्‌भुत रसों की पोषक लय है।

पं0 ओम्कार नाथ ठाकुर 'प्रणव रंग' जी के 'जीवन कवन सुमन' में भी भरत के द्वारा प्रतिपादित संगीत में सप्त स्वरों की उत्पत्ति रसों के द्वारा जो की गई है उसी का अनुसरण करते हुये माना गया है कि जो स्वर अंशत्व पाया है। उस अंश स्वर के आधार पर ही 'रस' की निष्पति होती है और अंश के आधार पर ही 'रस' का निर्णय किया जाता है।

1- जीवन, कवत्र, सुमन, पं0 ओमकार नाथ ठाकुर प्रणव रंग पुस्तक, पृ0 - 56.

2- संगीत चिन्तामणि, आचार्य वृहस्पति.

रस, भाव, राग भारतीय संगीत का त्रिकोण

रस, भाव, राग का त्रिकाण देखा जाय तो रस से ही भाव और भाव से ही रस की उत्पत्ति होती है और राग रस और भाव दोनों अत्यन्त महत्व हैं क्योंकि हम जब किसी राग को सोंचेंगे कि हमे यह राग गाना है सबसे पहले हमारे चिंतन यही आता है, राग का सौन्दर्यीकरण कैसे करना है कि हमारे सुनने वाले श्रोता आन्दित हो उठे।

संस्कृत साहित्य मर्मज्ञ भरत मुनि ने रस की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'विभानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रसनिष्पति ।'[1] अथात् विभाव, अनुभाव, संचारी भाव इत्यादि रागों के संयोग से रस की उत्पत्ति हुई है। आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि 'भाव की भूमिका में आत्म विश्रान्तिमय आनन्द चेतना ही है. अर्थात्

1- लोक में लयादि भावों के जो द्योतक तथा पोषक होते हैं, वे काव्य तथा नाटक इत्यादि मे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी नाम से अभिहित किये जाते हैं।

2- यह रस आस्वाद से अभिन्न होता है, अर्थात रस अस्वाद रूप या आस्वाद का विषय नहीं है।

रस के सम्बन्ध काफी इसके शुरूवात में ही लिखा जा चुका है, हमें रस भाव और राग का जो त्रिकोण समझ आता है, वो है कि 'संगीत एवं रस' का सम्बन्ध विवेचन सबसे पहले मिलता है, वो है भरत् के नाट्य शास्त्र में मिलता है, भरत् मुनि ने संगीत को नाटक की शैया के रूप में माना है. उन्होंने कहा है विविध रसों से सृष्टि की सहयोगी हैं।

भरत् काल में संगीत का प्रयोग नाटक के भावों को उद्दीप्त करने तथा उस भाव के अनुकूल वातावरण तैयार करने के लिए मुख्य रूप से किया जाता है। राजा मानसिंह के काल में क्रवपद प्रचलन था, और राग का सम्बन्ध रस और भावों से बहुत सुन्दर तरीके से जोड़ा गया। रागों की प्रकृति के अनुकूल उसके ध्यान रचे

1- संगीत चिन्तामणि, आचार्य वृहस्पति.

गये और रागचित्र भी बनाये गये। इस समय भक्ति प्रधान पदों की बहुत आवश्यकता थी जो ध्रवयद के गीत रूप में थे, अत उनमें भावों की प्रधानता थी। सूर, परमानन्द, बल्लभाचार्य, हरिदास की रचनाएँ व गायकी, भाव, प्रधान व रस पूर्ण होने के प्रत्यक्ष उदाहरण, सूर के पद इतने भावमय थे कि उस समय से आज चाहे जितने बार उसको सुने उनको चाहे संगीत निबद्ध करके सुनें या गये असीम रसों की वर्षा होती है। इसलिए कहा जाता 'राग' और 'रस' में अलौकिक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, इसीलिए कहा जाता है 'राग' अर्थात् रति 'राग' अर्थात् स्नेह राग अर्थात् रंग । 'रंजयति इति रागः' राग तो प्रेम का ही एक पर्यायवाची शब्द है। जल और पय, राग और रस, प्रेम और श्रृंगार - सभी इतने एक दूसरे से ओत-प्रोत और समरूप है, कि उनको अलग करना असंभव है। रस क्या है, इसके बार में हम पीछे अत्यन्त विस्तार से जा चुक हैं 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति है 'रस्यते' इति रसः। जिसका स्वाद ले सके चख सके वह 'रस' है। सामान्यत रसना = जिह्वा द्वारा जो स्वाद अनुभव किया जाता है जैसे - खट्टा, नमकीन, तीता, कटु, मीण इन छह कसैला रसों को 'रस' कहते हैं, किन्तु रसनेन्द्रिय का स्वाद मात्र ही रस नहीं है। अन्य इन्द्रिय भी 'रस' का आस्वाद लेती है। भारत ने रस-भाव के सम्बन्ध इस प्रकार व्यक्त किये हैं -

रसा भावा ह्यभिनया धर्मिवृत्ति प्रवृत्तयः ।
सिद्ध स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगं च सग्रहः ।।6।0।।

अर्थात् नाट्य संग्रह में रस, भाव, अभिनव, धर्मि, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग विषयक ज्ञान का समावेश है। भारत के अनुसार रस का उद्भूति विभाव, अनुभवा, संचारी भाव तथा व्यभिचारी भावों के समुचित संयोग से होती है। गीत के अन्तर्गत आलम्बन विभाव की स्थिति दृष्टिगत हो सकती है किन्तु वाद्य संगीत में उसकी स्थिति सम्भाव्य नहीं। वास्तव में भरत ने सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत रस की निष्पत्ति का व्याख्यान किया -

यथा हि नानाव्यनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति,
यथा हि गुड़ादिर्दे व्येव्यंजन नैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसानिर्वत्यन्ते,
तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।।

अर्थात जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है और जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि 'रस' बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायीभाव भी (नाट्य) रस रूप को प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त 'विभावनुभावव्यभिचारिसंयोगमाद्रस-निष्पति' रसों के प्रमुख आधार भाव ही हैं। इन भावों को स्थायी भावों की संज्ञा दी गई है। जब हम अभिनय काव्यादि में भाव या एक लेखक भाव विशेष का चित्रण पढ़ते या देखते हैं तो छिपा भाव उभर कर चेतन मन में उतरता नजर आता है, और विभाव अनुभाव आदि द्वारा पुष्ट होकर रस में परिणत होता है। भाव ही रस के आधार हैं। जो भाव रस तक नहीं पहुँचते, वे विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का आश्रय लेते हैं। भरत ने 8 स्थायी भाव उसके अनुरूप 8 रस बताए हैं, अभिनव गुप्त ने सर्वप्रथम 'शांतरस' के स्थान देकर 'नव रस कल्पना' की। बाद में अन्य विद्वानजन मम्मट आदि ने भी रसों की संख्या 9 मानी है। ये स्थायी भाव तथा उनके रस निम्न हैं -

स्थायी भाव	**रस**
रति	श्रृंगार
हास	हास्य
शोक	करूण
क्रोध	रोद्र
उत्साह	वीर
भय	भयानक
जुगुप्सा	वीभत्स
विस्मय	अद्भुत
निर्वेग	शांत

डा0 विजय लक्ष्मी जैन ने कहा है स्थायी भाव रसों की उपादान की तुलना समुद्र से की जाती है। जिस प्रकार समुद्र खारा तथा मीठा पानी और समस्त (अनेक) वस्तुओं को आत्मसात कर आत्मरूप बना लेता है, उसी प्रकार स्थायी भाव अपने से

प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी भी भाव से विच्छित नहीं होता तथा सभी को आत्मरूप बना लेता था। इस प्रकार रस के उपादान ये स्थायी भाव ही महत्वपूर्ण हैं।

विभाव - ये स्थायी भाव को रस तक पहुँचने में सामग्री जुटाकर सहायता करते हैं। विभाव का अर्थ है 'जिसका ज्ञान हो सके'। विभाव ही स्थायी भाव को पुष्ट करता है। विभाव के दो भेद हैं - आलम्बन तथा उद्‌दीपन। आलम्बन प्रायः व्यक्ति होता है तथा उद्‌दीपन देशकाल, प्रकृति आदि। जैसे किसी नाटक में नायक (राम, सीता, दुष्यन्त, शकुन्तला) आलम्बन होते हैं। आलम्बन के माध्यम से जो भाव पैदा होता है अथवा जो भाव को उद्‌दीप्त होता है। जैसे - शकुन्तला का सुन्दर व यौवन सम्पन्न होना (आलम्बन स्वरूप) दुष्यन्त के हृदय में रति का भाव पैदा करता है। यहाँ शकुन्तला आलम्बन है। उस समय का एकान्त मालिनी तट, कोयल की कूहू-कूहू बगीचे की शोभा आदि उस रति भाव को और बढ़ा रहे हैं। अतः उद्‌दीपन विभाव है।

अनुभाव- उद्‌बुद्ध और उद्दीप्त स्थायी भावों का जब यथेष्ट परिपाक होता है तब मुनष्य की चेष्टाएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं, उनके अन्तःकरण में उद्दीप्त स्थायी भाव उनकी शारीरिक चेष्टाएँ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। शारीरिक चेष्टाएं इन रूपों में व्यक्त हो सकती है-

1- कयिक, 2- मानसिक, 3- वचिक, 4- सात्विक, 5- आहार्य संगीत में अनुभाव अनुवादी स्वर होता है।

संचारी भव - जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं, उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव भी स्थायी भाव में कभी अविमूर्त होती है कभी तिरोहित ये भाव भी स्थायी भाव के अभिप्रेरित कार्य निर्माण मे सहायक होते हैं। व्यभिचारी भाव 3-3 होते हैं - निर्वेद, ग्लानि शंक, क्षम, धृति, जड़ता, हर्ष दैन्य, असूया, मथ, आलस्य, चिता, मोह, स्मृति, व्रीडा, चपलत्ता, आवेग, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मात, सुप्त बिबोध, अमर्ष अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, वाल तथा विर्तक इन व्यभिचारी भावों के बिना रसों को पूर्णत्व प्राप्त नहीं हो सकता।

संगीत में रस आत्मा है। इसलिए संगीत श्रुति, नाद, स्वर, राग भी रस की निष्पत्ति में सहयोगी है। स्वर एक सर्वव्यापी तत्व है। 'शब्द गुण कमाकाशम्-तत्वैक विभुनित्यं च ।। इस सिद्धान्तानुसार 'नाद' कहो, शब्द कहो या स्वर यह सब आकाश के गुण है, और अनन्त आकाश की भाँति उसका गुण भी विभु नित्य और अद्विप है। उस नाद की विशद व्याप्त के विषय में वर्णन करते हुए महर्षि मतंग ने कहा है -

'नादेन व्यज्यते वर्णा पदं वर्णात्पदाद्धचः ।
वचसो व्यवहारोत्यं नादाधीनमिदं जगत् ।।'

अर्थात् आकाश - संभूत नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाक्य, वाक्य से भाषा और उस भाषा से जगत् का समस्त व्यवहार चलता है, उसी कारण से जगत् को 'नादीधीन्' माना गया है।

नित्य व्यवहार में प्रति क्षण हम अनुभव करते हैं, कि मानव से लेकर पशु पक्षी, कीट, पतंग और उद्भिज से लेकर पिंड पर्यन्त का जीव-समुदाय तथा जड चेतन के जो आनन्द नाद अपने कानों से टकराते हैं, हम करते हैं, उन सभी नादों को भिन्न-भिन्न रूप में पहचानते हैं तथा इन पृथक-पृथक नादों की पहचान द्वारा ही समस्त जगत् का समक्ष व्यवहार चलाने में सक्षम होते हैं। मात्र मनुष्य ही नादों का पृथकत्व पहचानते हों ऐसा नहीं है, ये राग रस विषय पर व्याख्या में प्रस्तुत 'जीवन, कवन, सुमन में में प्रकाशित प्राणी मात्र उसको पहचान लेते हैं। प्यार, तिरस्कार, भय आदि समस्त भावों को शब्द की सहायता के बिना मात्र नाद (अकार उकारादि स्वरों) से पहचानते हैं - अनुभव करते हैं, कराते हैं। शेर से लेकर बकरी तक के सभी पशु गरूड़ से लेकर चिड़िया तक के सभी पक्षी दूर-दूर से अपने स्वजनों की आवाज सुनते हैं, पहचानते हैं और अपने प्रिय पात्रों की आवाज सुनकर ही आकर्षित होते हैं उस 'नाद' के आधार पर एक-दूसरे को खोज लेते हैं।

1- संगीत दर्शन, विजय लक्ष्मी जैन, पृ0 - 63.

2- जीवन, कवत्र, सुमन, पृ0 - 34, पं0 ओमकार नाथ ठाकुर के स्मृति.

मनुष्य के संवेदन की सूक्ष्म भाषा हम लोग स्वर, लय और अभिनय से ही ही समझ सकते हैं। सुख, दुख, हर्ष, शोक, आवेग, उद्वेग, राग, द्वेषादि हृदय की विविध अभि भाषा से नहीं अपितु शब्दों के पीछे-छिपे स्वरों द्वारा पहचानी जाती है। स्वरों से ही निश्चित होती है। 'अ' कारादि स्वरों के बिना जिस प्रकार भाषा पंगु है उसी प्रकार विशेष प्रकार ही स्वरोच्चार के बिना वाणी अधूरी है। भाव व्यक्त करने में असम्भव है। एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न स्वरों के संयोग के साथ उच्चारण करने से अर्थों की कितनी विविधता सम्भव है, जैसे किस प्रकार 'ह' जैसा शब्द - जिसका कोई अर्थ विशेष नहीं होता - उस 'हं' के विभिन्न स्वरोच्चार से कितने ही अर्थ उपजाये जा सकते हैं। संगीत की स्वराभिनय की भी ऐसी ही विशाल भाव सृष्टि है। भाव जगत और रस-सृष्टि के सृजन में स्वर कैसा और कितना बड़ा योगदान करता है। जिस प्रकार दर्शनार्थ जाने के पूर्व हमें 'स्वर-मंदिर' के सोपान चढ़ने ही हो न ?[1] नाद सौंदर्य जनित आनन्द का अनुभव प्रत्येक को होता क्योंकि भाषा भले ही कभी ठीक से मनोभावों को अभिव्यक्त न कर कर परन्तु नाद कभी असफल नहीं हो क्योंकि जो सुख या दुःख की लहर लहराती है उसमें कौन से शब्दों का अर्थ समविष्ट होता है ? पूज्य गाँधी बापू के अवसान के बाद आकाशवाणी से प्रसारित हुए सारंगी के अलाप में जो करूण विलाप प्रस्फुटित हुए थे उसे तो कोई शब्द नहीं उभारा था। भाव की तथा रस की सृष्टि भी स्वर के माध्यम से जीवित होती है और तभी जीवात्मा स्वर में आत्मस्थ होकर अन्तस्थ अमिओं का निजानन्द का अनुभव पाता है। योगी लोग भी इसी मार्ग से स्वर की इसी साधना से उर्ध्वगामी बनते हैं, और स्वर में लीन होकर समाधि का परमानन्द प्राप्त करते हैं।

श्रुति शास्त्रकारों ने संगीत में श्रुति संख्या 22 मानी है। इन श्रुतियों को उनके गुरानुसार भिन्न जातियों में बांटा गया था। जाति गायन काल में ये श्रुतियाँ ही रस-निष्पत्ति का साधन मानी जाती थी। ये जिन पाँच जातियों में विभक्त थी उनके नाम थे - दीप्ता, आपत, मध्या, मृदु तथा करूण थे।

1- श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 - 444.

अहोबल ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। इन जातियों में रसों की स्थिति इस प्रकार व्यक्त की गयी है।

श्रुति की जाति	**रस**
दीप्ता	वीर अद्भुत तथा रोद्ररस
आपता	हास्य रस
मध्या	वीभत्स भयानक, हास्य व्यंग, श्रृंगार वियोग रस
मृदु	श्रृंगार रस
करूणा	दैन्य तथा करूण रस

ये माना जाता है कि जिस जाति की श्रुति हो उस जाति से संबंधित रस ही उस श्रुति के लिए मान्य है। आज भी श्रुतियाँ रस से सम्बन्धित है, जैसे दरबारी ग का आन्दोलन, जैसे कहते हैं कि 'ग' को अपने कोमल ग से और नीचा करना है, तो यह श्रुति विशेष जानकारी से हो सकता है। जो गम्भीर्य प्रदान करे । भैरव, राम कली में 'र' भिन्न हैं जो करूण रस पैदा करती है।

स्वर - इसी तरह स्वर के सन्दर्भ में संयोगानुसार भिन्न-भिन्न भावों को निर्देशित करता है। 'सा' और शुद्ध 'रे' जैसे 'सा' और 'रे' स्वरों के स्वरान्तर के भिन्न अर्थ और भिन्न-भावों को देख-सुन लिया, जान लिया। उसी प्रकार सातों स्वरों के उनके कोमल तीव्रादि भेदों के इतना ही नहीं बाईस श्रुतियां उसी प्रकार सातों स्वरों के उनके कोमल तीव्रादि भेदों के इतना ही नहीं बाईस श्रुतियों के श्रुत्यन्तर में भी ऐसे अनगिनित भाव और अकल्पित अर्थ स्फोट हो सकते, क्योंकि प्रत्येक स्वर अपने संयोग संविधान उच्चार सप्रक तथा गमक-भेद के कारण ऐसे-ऐसे रूप धारण करता है मानो हम स्वप्न-सृष्टि में विचारण कर रहे हो इस सृष्टि में कल्लोस कर रहे हो। जिस प्रकार भगवद्भक्त अपने आराध्य की जिस भाव से पूरा अर्चना करता है उसी प्रकार दर्शन लाभ प्राप्त करता है। 'सा' और 'रे' कोमल, अन्तर से हृदय के करूण कोमल भाव व्यक्त करता है।

विनती अनुनय अनुरोध विनय पूर्ण भक्त हृदय की प्रार्थना पीड़ित आत्मा की संवेदना और ऐसे न जाने कतने भाव इन दो स्वरों से जागृत होते हैं। 'सा' और 'रे' कहते समय 'रे' का थोड़ा ज्यादा कर्षण करने के बाद मन्द नाद से पुनः 'सा' पर न्यास करे तो । 'देव' तेरी सरन हूँ मारो या तारो, जीने दो या मार दो या खुदा मैं तेरा बन्दा हूँ ऐसा कुछ आत्म निवेदन का भाव अभिव्यक्त होता है। उसी प्रकार यह स्वर देवता-राग मूर्तियाँ भी अपनी भावनाओं के प्रतीक रूप में, जब हम जिस रूप में देखना चाहते हैं, जैसे कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है - 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभू मूरत देखी तिन तैसी।'

राग - राग मूर्ति या स्वर मूर्ति के विषय में भी ऐसा ही है। स्वर और राग के भावुकों को अपनी भाव-दृष्टि अनुसार स्वर और राग के दर्शन प्राप्त होती है। शब्द के अर्थ भाव या रस सब लौकिक है, जबकि स्वर के राग के अर्थ, भाव और रस अलौकिक हैं। जैसे - 'रज्को जन चिन्तानाम् स राग कथितो बुधेः । अत· राग-राग में यदि चित्त को आनन्दित अथवा रसानुभूति कराने की क्षमता नहीं है तो राग नहीं। राग ही वह आधार है जो बिना शब्द, ताल, वाद्य की सहायता के भाव पैदा करने में सक्षम है। सामान्य दृष्टि से कुछ लोगों को 'गौरी' और 'भैरव' में साम्य लगेगा। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से और विचारक बुद्धि से दोनो में महद् अन्तर दिखाई देगा। 'भैरव' गम्भीर है, भीम और भी बण है। मन्द्र मध्य में प्रायः विचरण होता है। गति विल्मिका है। ऋषभ और धैवत पर गन्धार और निषाद का तथा मध्यम और निषाद का तथा मध्यम और षडज के खटके से युक्त विलम्बित आन्दोलन लेने होती है। साथ ही 'म-गरि, सा-निध' यो मीड़ के साथ रि तथा ध पर ग रि, सा-निध' यो मींड के साथ रि तथा ध पर गम्भीरता से आना होता है जब कि 'गौरी' में इन बातों का समूचा त्याग है। 'गौरी' के स्वरों को कहीं भी विराम नहीं है, गौरी राग कोई उछलती बाला जैसी । जीवन की गम्भीरता अभी जिसको स्पर्श नहीं कर सकी हो पं० रामाश्रय झा के इस बन्दिश में जो राग गौरी में निबद्ध हैं बड़े ही सुन्दरता और सौन्दर्य पूर्वक व्यक्त की गई है -

स्थाई- या बेरिया तू कित डोले री ।।

अन्तरा- निपट अकेली संग न सहेली, पग-पग अपनी छवि तौले री ।।

इस प्रकार जोगिया राग जो करूण रस की अभिव्यक्ति करती है, जिसको सुनकर अन्तर द्रवित हो जाता है। जिससे मन की भावना विरक्ति को भजती है, जोहरा बाई का रिकार्ड सुन लें अवश्य ही उस भाव की अभिव्यक्ति होगी ऐसे ही एक द्रवीभूत हृदय से ऐसा करूणा सभर गीत निसृत हुआ है।

'जिया को मिलन की आस।
तुम बिन झरत मोरे थकि गै नयनवा ।।
पल-पल प्रेम पियास बढ़त है, छिन-छिन होत निराश।
तुम बिन घटत-घटत मोरा घटिगो जीवनवा।।
निस दिन हाय उसास विथासो, बिनसि हिया की अब।
तुम बिन तडप-तडप मेरा मारेगो रे मना।।
तरस-तरस तोरे दरस-परस को शेष रही अब लाश।
तुम बिन जरत-जरत मरा जरिगो रे तनवा।।

'प्रणवरंग'

इस प्रकार की दश जिसकी है प्रिय मिलन की आशा का तन्तु भी टूट गया विरह की वेदना में तप-तप कर जिसके अन्तर का अनुराग अस्त हो गया है ऐसी जौगिया' की जब-जब अभिव्यक्ति होती है विरह वेदना विराग का उदय हुआ है।

इस प्रकार श्रृंगार भाव को अभिव्यक्त करती है और अपने स्वरों में सुन्दर स्वरूप से रसों की वर्षा करती हुई राग बागेश्री की यह बन्दिश -

स्थाई- हरवा गूँदि लावो री बेला चमेली फूलन को भाती मालनियां मोरे घर काज।

अन्तरा- बना बनी के गरे डारो सुबस हरवा को राम-रंग तोरा गुन मानू शुभ दिन आज।।

'रामरंग'

पलकों की सीप से निखरे हुये अनमोल मोती जगत् को प्राप्त होंगे। इन की माला पिरोकर विश्व को समर्पित होगी - यही है वह 'बागेश्री' । फूलों का इसी प्रकार अर्चन-दीप द्वारा लिखित पुस्तक - जीवन कथन सुमन में बड़े ही सुन्दर ढंग से राग खमाज के विभिन्न रस भाव को व्यक्त किया गया है।

'सगरा बिगरा जोबनवा मेरा जाओ जी बालम तुम हमसे न बोलो,
हमसे न बोलो, हमसे न बोलो, मेरा सगरा बिगरा ।।'

इस गीत में नाचते नयनों की अदा है उसके उमड़ते यौवन का कामातुर कंप है और 'खामज' का एक-एक स्वर हृदय का एक बोल, अभिनय की एक-एक भाव है। ऐसे अनेक भाव है जो अन्तर तल को जाते हैं।

राग - रागिणी एक स्वर प्रतिमा है। एक राग चित्र है धीर गम्भीर 'दरबारी' चंचल उद्धाम और थिरकते यौवन जैसा 'अडाना' राग शान्त स्थिर निर्वेद तथा गौरवान्वित ऐसा 'मालकौंस' गर्जन करता कांपता 'मेघ' राग तीक्ष्ण तीर जैसों वीर जैसा 'हिंडोल' 'बहार' राग प्रफुल्ल उत्साह प्रेरक बसंत ऋतु का राग ऐसे राग जीते जागते रस काव्य हैं। स्वर-भाव और राग-रस निमज्जित होना और करना उसी का नाम 'संगीत' (सम्यक् गीत) है।

- - - - - - - - -

उपसंहार

हम 21वी शताब्दी मे कदम रख चुके हैं, इस युग मे भौतिकवादी लौकिक वादी के साथ–साथ हम बहुत तेज रफ्तार का जीवन यापन कर रहे है। इस युग मे जहां नयी तकनीकी चारों तरफ अपने देश विदेश मे काम कर रही है क्म्प्यूटरीकरण प्रत्येक क्षेत्र मे हो चुका है, वही आज का विद्यार्थी इससे अछूता नही है। इमारे विचार से ये सही भी है, क्योकि नवीनता ही हमें कुछ खोजने पर मजबूर करती है, तभी हम अपने जीवन को सफल बना सकते है, सगीत के क्षेत्र मे टी वी एम टी वी, स्टार टी वी अन्य केबिल चैनलो पर प्रसारित कार्यक्रम देखने को मिलते है वो चाहे आज के पॉप सगीत हो या रिमिक्स यदि हम बहुत ध्यान से देखें तो हमें लगेगा की ये भी संगीत है, इसकी आधार सगीत के सात स्वरों पर ही रखे गये है, इसीलिए इसे हर वर्ग के लोग बडे ही चाव से सुनते है, हमारे संगीतज्ञ चाहे वो लोक संगीत के हों या शास्त्रीय संगीत के वे सभी इस ओर आकर्षित है, और कुछ नया करते रहते है। इसका अर्थ ये नहीं है कि, अपने सगीत की पुरानी परम्परा को वह भूलते जा रहे है। इसीलिए आज के इस बहुआयामी शिक्षा ने हमारी संस्कृति और कलाओं मे कुछ परिवर्तन के साथ उसे अपने में समाहित किये हुआ है। ये मेरा सौभाग्य है तभी हमारा शोध का विषय ''भारतीय सगीत और संस्कृति तथा अध्यात्म के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के विवेचनात्मक विश्लेषण'' पर हमे बहुत परेशानियो का सामना नहीं करना पडा, इस खोज में मेरे गुरूजनो के अलावा परिवार के सदस्यो, मित्रो, सहयोगियो ने भरपूर सहयोग दिया है। मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि आज का यह युग कम्प्यूटर युग जहॉ माना जाता है, इसमे हमारी सफलता ही दिखाई देती है, जिससे हमे कार्यो मे काई कठिनाई का सामना नही करना पडता है, और अधिक से अधिक सुन्दर परिणाम समक्ष रूप में सामने आते है।

इस आधुनिक परिवेश मे हमारी सास्कृतिक अभिरूचियां मान्यताए आचार–विचार एवं रहन–सहन सब कुछ स्वाभाविक रूप से बदलते हुये नजर आयेगें। भारतीय संगीत की यही विशेषता है कि वह अपने स्वरूप तथा आकार मे युगानुकूल अध्यात्मिक एव दार्शनिक तत्वो को आत्मसात करता हुआ एक नवीन युग में प्रवेश कर चुका है। परन्तु यहॉ इतना जरूर कहेंगे कि सामग्री बदलती है उसका स्वरूप नहीं ऐसा कला के साथ भी है कला की सामग्री निरन्तर बदली है कला नहीं बदली। हम इसे नये ढंग से अनुभूति करते है। वर्तमान मे रहने वाले साहित्यकार या कलाकार के लिए यही अतीत हमें नवीनता की ओर अग्रसित करती है। क्योंकि प्राचीन काल में हमारा अध्यात्मिक प्रभाव आज भी कलाओं में विद्यमान है। आज भी हम अपनी कला को पूजा की तरह पूजते है कारण चाहे जो हो रोजी–रोटी का हो या

व्यवसायिक का हो या संगीत कला की पुराने महत्व को ध्यान में रख कर करते हैं। संगीत साधना अपनी एक सुदीर्घ, निरन्तर परम्परा है जो सामवेद से आरम्भ होकर भरत तक तथा भरत से लेकर भात खण्डे तक सत्त प्रवाहित है।

सगीत को आनन्द का आविर्भाव माना जाता है। भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द साक्षात् ईश्वर का स्वरूप है। इसलिए संगीत साध्य भी है साधन भी है। क्योंकि वैदिक काल मे वेदाध्यायी वर्ग रहा है। वैदिक मन्त्रों के पठन से लेकर गान तक विकास इसी काल में लक्षित होता है। उदात्त अनुदात तथा स्वरित जैसे तीन स्थूल स्वर स्थानो से लेकर सप्त स्वरों तक उत्क्रन्ति वैदिक काल मे हुई तथा साम एव गन्धर्व प्रणालियो मे पर्याप्त आदान प्रदान सम्पन्न हुआ।

वैदिक काल के संगीतज्ञ स्वर साधक थे नाद के उपासक थे क्योकि वे योगी थे इसीलिए सगीत का योग से भी सम्बन्ध है, संगीत को योग शास्त्र के रूप मे मान्यता मिली है, योग द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है, और संगीत के द्वारा भी भक्ति रस के माध्यम से ब्रह्म में एकाकार होकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकना सम्भव है। इतिहास इस बात का साक्षी है, कि हमारे भक्ति कालीन कवि सूफी सन्त सभी भक्ति के माध्यम से ही जन्नत (स्वर्ग) को प्राप्त हुये।

भारतीय समाजिक संस्कृति के विकास में जो योगदान सगीत के अध्यात्मिक दर्शनिक पक्ष का रहा उतना शायद किसी और पक्ष का नही रहा।

भारतीय सगीत के प्रति चिन्तन का दृष्टिकोण दार्शनिक है तथा दर्शन से प्रभावित हो वेद मीमासको ने सगीत के अध्यात्मिक पक्ष को आत्मा का दर्शन करने मे सहायक बताया है, खुद 'मै' कौन हूँ पहचानने मे सगीत को साधन माना है।

संगीत को 'रस दृष्टि' नियन्ता माना गया है। 'शब्द' और 'स्वर' के व्यवहार का नियामक माना गया संगीत को अपार अलौकिक विशाल व्याप्ति की वाणी कहा गया है। संगीत को मन की शान्ति का साधन माना गया है। जीवन में संयम स्वर सयम की महिमा से निरूपित किया गया है। इसे मात्र अनुभव किया जा सकता है, तभी आत्मा को अनुभूति कराया जा सकता है। सगीत कला यही जीवन धर्म भाव में डूबकर आत्मैक्य अनुभव करना और 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' को साधना यही संगीत का ध्येय है। इसीलिए ये कर्म ही नही अपितु योग भी माना गया है। जो आत्मा को परमात्मा से मिलाये और जीवन को शिव मे स्थापित करे। इस शोध प्रबन्ध में प्राचीन कला, मध्य काल से आधुनिक काल तक के संस्करणों लेखकों, चिन्तकों, व्याख्याकारों तथा संगीतकारों के मत—मतान्तरो का समुचित आश्रय लिया गया है। इस शोध प्रबन्ध मे जिन विद्वानों के ग्रन्थो की सहायता पत्र या पत्रिकाओं की भी ली गई उनकी सूची संलग्न की गई है।

× × × × × × × × × × ×

सहायक ग्रन्थ सूची

1- हिन्दुस्तानी संगीत - परिवर्तन शीलता - असित कुमार बनर्जी

2- मुसलमान और भारतीय संगीत - आचार्य वृहस्पति

3- संगीत चिवन्तामणि - आचार्य वृहस्पति

4- ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑफ इन्डियन म्यूजिक - स्वामी प्रज्ञानन्द

5- भारतीय संगीत का इतिहास - उमेश जोशी

6- भारतीय संगीत का इतिहास - श्रीधर परांजये

7- 1-2 1 से 5 तक - संगीत रत्नाकर

8- धर्म और समाज - डा0 राधाकृष्णन्

9- भारतीय दर्शन का इतिहास - डा0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त

10- वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली का समीक्षात्मक अध्ययन - डा0 ललित कुमार गौड

11- भारतीय दर्शन - डा0 बलदेव उपाध्याय

12- भारतीय दर्शन - डा0 राधाकृष्णन

13- संस्कृत हिन्दी शब्द कोष - वानन शिवाराम आप्टे प्रथम संस्करण

14- यजुर्वेद संहिता - भाषा भाष्य - भाष्यकार पण्डित जयदेव शर्मा

15- शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनि संहिता - बल्लराम शर्मा संशोधित निर्णय सागर

16- ऋक सूक्त सग्रह - व्याख्याकार डा0 हरिदत्त शास्त्री साहित्य भण्डार

17- श्रीमद्भागवद गीता - गीता प्रेस गोरखपुर

18- वेदान्तसार - सदानन्द चौखम्बा संस्कृत सीरिज

19- ईषोपनिषद - शंकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर

20- कओपनिषद - भाष्य शंकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर

21- साहित्य दर्पण - श्री दुर्गा प्रसाद द्विवेदी

22- नाट्य दर्पणम् - पं0 थानेश चन्द्र उप्रेती

23- वैदिक ध्वनि-विज्ञान - डा0 विजय शंकर पाण्डेय

24- भरत का संगीत सिद्धान्त - श्री कैलाश चन्द्र वृहस्पति

25- मनोविज्ञान और संगी का सम्बन्ध - डा0 बी0एच0 शर्मा लेख

26- वैज्ञानिक पृष्ठ भूमि - डा0 कविता चक्रवर्ती

27- भारतीय कला का अध्ययन - निहार रंजन राय

28- कालिदास साहित्य एवं वादन कला - डा0 सुषमा कुलश्रेष्ठ

29- मनुस्मृतिः द्वितीय विभाग - ज0ह0 दुबे

30- राग और रस के बहाने - केशव चन्द्र वर्मा

31- भारतीय संगीत का इतिहास अध्यात्मिक दार्शनिक - डा0 सुनीता शर्मा

32- विष्णु पुराण - आनन्दाश्रम संस्करण

33- वायु पुराण - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

34- नाट्य शास्त्र - बड़ौदा काशी संस्करण

35- तैतरीय ब्रह्मण - सायण भाष्य पूना 1932

36- तैतरीय संहिता - सायण भाष्य कलकत्ता 1962

37- छंदोगपनिषद - लिमये तथा वाडेकर - पूना

38- साहित्य दर्पण - आचार्य विश्व नाथन

39- साहित्य लोचन - केशव मिश्रा - चौखम्बा विज्ञान भवन

40- संगीत शास्त्र - वासुदेव शास्त्री

41- अष्टध्यायी - पाणिनी

42- अथशास्त्र - कौटिल्य

43- प्राचीन भारती साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका - रामजी उपाध्याय

44- अथर्वद - स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन साम्ब भाष्य साहित्य - काशीनाथ

45- संगीत चूड़ामणि - संगीत मकरंद - बडौदा संस्करण

46- संगीत चिन्तामणि - आचार्य वृहस्पति
47- संगीत दर्पण - दामोदर पंडित
48- अध्यात्म तत्व सुधा - विनोबा भावे
49- जीवन का अध्यात्मिक पक्ष - डा0 राधा कृष्णन
50- पातंजल योगदर्शन - टीका हरीकष्ण दास गोणन्कर - गीता प्रेस
51- भक्ति योग - विवेकानन्द मार्ग
52- भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान - वसुधा कुल्कर्णी
53- वैदिक साहित्य संस्क्रति - बलदेव उपाध्याय
54- वैदिक संस्कृति सभ्यता - डा0 मुशीराम शर्मा, रामबाग, कानपुर
55- संगीत दर्शन - विजय लक्ष्मी जैन
56- संगीत अष्टछाप - स्वामी गोकुल नंद
57- अद्वैत वेदान्त - श्री राममूर्ति शर्मा
58- अष्टछाप काव्य संस्कति मूल्यांकन - डा0 महारानी दण्डन
59- भारतीय धर्म दर्शन का इतिहास - डा0 दुर्गदत्त पाण्डेय
60- गायत्री महाविज्ञान- । - श्री राम मूर्ति शर्मा
प्रकाशक हरिद्वार शान्ति कुंज
61- वेद रहस्य - श्री अरविन्द
62- संस्कृत साहित्य का इतिहास - डा0 कपिलदेव द्विवेदी
63- चिद् विलास. - ललित प्रसाद शास्त्रा संस्कृत पीठ दतिया
64- वेद मीमांसा - डा0 एस0 दीक्षित
65- योग विज्ञान - श्री पिताम्बर पीठ दतिया,
संस्कृत परिषद, लेखक अज्ञात
66- स्वामी स्मृति ग्रन्थ - श्री पिताम्बर पीठ दतिया संस्कृत परिषद
67- योग दर्शन - डा0 सम्पूर्णानन्द
68- जैन दर्शन - डा0 महेन्द्र कुमार जैन
69- कालिकापुराण
70- संगीत शती - जयाद जैन

71- सिस्टम ऑफ दी वेदान्त -

72- बौद्ध एवं जैन दर्शन - डा0 झिनकू यादव

73- मार्डन ट्रेन्ड म्युजिक एजूकेशन - डा0 शंकर लाल मिश्र

74- मनोविज्ञान व संगीत म0ट्रे0म्यू0एजू0 - डा0 बी0एस0 शर्मा

75- कला के सिद्धान्त - आ0जी0 कलिंग वुड,
राज0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

76- द म्युजिक ऑफ इंडिया - राम अवतार

77- रस गंगाधर एक समीक्षात्मक अध्ययन - कुमारी चिन्मयी महेश्वरी

78- हिन्दी अभिनव भारती - आचार्य विश्वेश्वर

79- रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन - डा0 प्रेम स्वरूप गुप्त

80- हिन्दी नाट्य दर्पण -

81- भारतीय दर्शन - उमेश मिश्रा

82- रस सिद्धान्त - चिन्तन और विश्लेषण - आनन्द प्रसाद दीक्षित

83- रस मिमांसा - राम चन्द्र शुक्ल
चौखम्बा प्रकाशन विद्या भवन

84- कालीदस के सौन्दर्य सिद्धान्त मेघदूत - शिव बालक राम, आरा (बिहार) प्रकाशन

85- प्रमाणिक हिन्दी कोष - सम्पादक रामचन्द्र वर्मा

86- कालीदास के ग्रन्थों में - गायत्री वर्मा

87- रस कौमुदी - गपकवाड़ सरीज

88- जीवन, कवन सुमन - पं0 ओम्कार नाथ ठाकुर 'प्रणवरंग'
श्रद्धावली स्वरूप - अर्चनदीप लेखक
सन् 14-2-99

सम्बन्धित पत्रिकाएं

संगीत मासिक पत्रिका नवम्बर	1963	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका नवम्बर	1974	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका दिसम्बर	1961	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका जुलाई	1961	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका अक्टूबर	1961	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका अप्रैल	1967	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका मार्च	1989	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका सितम्बर	1982	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका अगस्त	1978	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका मार्च	1996	-	हाथरस कार्यालय
संगीत मासिक पत्रिका दिसम्बर	1991	-	हाथरस कार्यालय
राजस्थान पत्रिका	1991	-	जयपुर कार्यालय
अध्यात्मि मासिक पत्रिका कल्याण		-	गीता प्रेस गोरखपुर
संगीत में रस तत्व		-	संगीत प्रकाशक, संगीत समिति, विचार गोष्ठी पर आधारित, 1976
हिन्दुस्तान टाइम्स		-	ओशो रजनीश के विचार प्रकाशित
दर्शन के सौ वर्ष		-	राजस्थान विश्वविद्यालय पर लेख
मार्डन ट्रेण्ड म्यूजिक एजूकेशन		-	डा0 मधु बाला सक्सेना के लेख
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलास्फी		-	लेख पत्रिका
संस्कृति दर्शन		-	उत्तर मध्य सांस्कृतिक केन्द्र द्वारा प्रकाशित पत्रिका में लेख संस्कृत साहित्य का सौन्दर्य, डा0 बलदेव उपाध्याय